जैन कला एवं स्थापत्य

खण्ड 3

विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूजियम तीर्थंकर शांतिनाथ, ११६८ ई० राजस्थान

जैन कला एवं स्थापत्य

भगवान् महावीर के 2500 वें निर्वाण
महोत्सव के पावन अवसर पर प्रकाशित

मूल-संपादक
अमलानंद घोष
भूतपूर्व महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण

तीन खण्डों में प्रकाशित
खण्ड 3

नई दिल्ली

मूल अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित
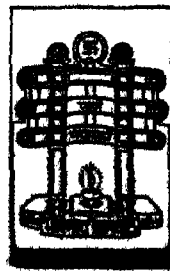
हिन्दी संपादक : लक्ष्मीचन्द्र जैन

१९७५

भारतीय ज्ञानपीठ

तीन खण्डों का मूल्य

रु० ५५०

प्रकाशक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ, बी-४५/४७ कनॉट प्लेस
नई दिल्ली-११०००१.

मुद्रक : ओमप्रकाश, संचालक, कैक्स्टन प्रेस, प्रा० लि०, 2-ई, रानी झाँसी रोड,
नई दिल्ली-११००५५.

आमुख

'जैन कला और स्थापत्य' के इस तीसरे खण्ड के प्रकाशन के साथ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा इस विषय पर निर्धारित कार्यक्रम का वह एक अंश समापन प्राप्त कर रहा है जिसे भगवान महावीर के पच्चीस-सौवें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर संपन्न करने का दायित्व भारतीय ज्ञानपीठ ने लिया था। प्रसन्नता की बात यह है कि महोत्सव वर्ष में इतने विशालकाय कलाग्रंथ के तीनों भाग हम अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में प्रकाशित कर रहे हैं।

प्रथम खण्ड की भूमिका में मैंने उन कठिनाइयों का उल्लेख किया है जिनका सामना हमें इसलिए विशेष रूप से करना पड़ा क्योंकि इस कलाग्रंथ की योजना बहुत बड़ी थी और इसे एक सीमित कालावधि में संपन्न करना था। कठिनाइयों के केवल संपादकीय पक्ष की कथा पहले भाग में लिखी थी।

दूसरे प्रकार की कठिनाइयों का संबंध ग्रंथ के तकनीकी पक्ष से है—यथा, ग्रंथ की छपाई अंग्रेजी के प्रथम खण्ड से आरंभ हुई और अंग्रेजी में स्वराघात वाले टाइप रखने वाले ऐसे प्रामाणिक प्रेस की खोज जो समय से काम कर देने के लिए तैयार हो, ऐसे टाइप के प्रूफ पढ़ने की कठिनाई, कागज की दिन-पर-दिन बढ़ती गयी कीमतें, ब्लॉकों के बनवाने और छपवाने के मूल्य में इस प्रकार के संतुलन का प्रयत्न कि न तो मूल्य अधिक बढ़ें और न काम का स्तर नीचे जाये। इन सब प्रयत्नों का प्रतिबिंब ग्रंथ में आपको प्रतिभासित होगा। यदि भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासधारी मण्डल का दृष्टिकोण उदार न होता और सभी व्यय-भार आज के बाजार-भाव पर फैलाया जाता तो एक-एक खण्ड का प्रायः वह मूल्य रखना पड़ता जो अब तीनों खण्डों का संयुक्त रखा गया है।

यदि इन कठिनाइयों का समाधान निकालकर हम अपने कार्यक्रम के अनुसार यह समग्र ग्रंथ प्रकाशित कर पाये हैं तो इसका श्रेय भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक श्री साहू शांतिप्रसाद जैन द्वारा प्रदत्त समर्थन को और ज्ञानपीठ की अध्यक्षा श्रीमती रमा जैन के मार्गदर्शन को है।

इस योजना को कार्यान्वित करने में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं श्री अमलानंद घोष जिन्होंने इस ग्रंथ का मूल संपादन अंग्रेजी में किया। इस प्रकाशन में जो गुण परिलक्षित हैं, वे श्री घोष के न केवल कठिन परिश्रम और सायास सावधानी के सुफल हैं, अपितु इस प्रकार के कला-प्रकाशनों के

संपादकीय और तकनीकी पक्षों का उनका जो दीर्घकालीन अनुभव है, उसके कारण भी अनेक तात्का-लिक आड़े आने वाली समस्याओं का समाधान हाथ-के-हाथ होता चला गया।

जहाँ इस ग्रंथ के सभी लेखकों के प्रति हम बहुत आभारी हैं, वहाँ उन लेखकों के प्रति विशेष आभार व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है जिन्होंने योजना में कल्पित उन अध्यायों के लेखन का दायित्व लिया जो किन्हीं कारणों से या तो प्राप्त नहीं हो पाये या जो छूटे जा रहे थे। इन सब लेखकों ने बहुत उदात्त भावना से सहयोग दिया क्योंकि वे जानते थे कि इस योजना के माध्यम से अंततोगत्वा वे नयी और पुरानी सामग्री द्वारा भारतीय स्थापत्य और कला के उस समग्र परिदृश्य को समृद्ध कर रहे हैं जो अबतक इस प्रकार का संग्रथित रूपाकार नही ले पाया। इन्होंने हमें केवल सहयोग ही नहीं दिया, अन्य बातों में हमारे अनुरोधों और मंतव्यों को मान भी दिया। भारतीय ज्ञानपीठ के सभी सहयोगियों के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ कि वे इस योजना की सफलता के प्रति समर्पित रहे।

तीनों खण्डों की पृष्ठ-संख्या का योग ६२८ है। ६७० सादे और ५० रंगीन चित्रों की संख्या इसके अतिरिक्त है। इस ग्रंथ को हम एक ऐसी पताका मानते हैं जिसे लेकर हम आगे चले हैं उन व्यक्तियों और संस्थाओं के स्वागत-अभिनंदन में जो भविष्य में इस मार्ग पर चलकर जैन कला और स्थापत्य की अभिवृद्धि में योगदान करेंगे। हमारी कामना है कि उनका दल बहुल हो।

नई दिल्ली
२० मई, १९७५

लक्ष्मीचन्द्र जैन
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ

विषय-सूची

भाग 7

चित्रांकन एवं काष्ठ-शिल्प

भाग 8

पुरालेखीय एवं मुद्राशास्त्रीय स्रोत

भाग 9

सिद्धांत एवं प्रतीकार्थ

विषय-सूची

भाग 10

संग्रहालयों में कलाकृतियाँ

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

चित्र-सूची

छायाचित्रों या रेखाचित्रों के शीर्षकों के आगे कोष्ठकों में कॉपीराइट के धारक का नाम दिया गया है। संग्रहालयों में कुछ छायाचित्र अन्य धारकों द्वारा भेजे हुए हैं। ऐसी सभी स्थितियों में कॉपीराइट का अधिकार संबद्ध संग्रहालय तथा उस धारक का है। छायाचित्र के लिए केवल चित्र शब्द का प्रयोग किया गया है :

इसी सूची में निम्नलिखित शब्द संक्षिप्त रूप में प्रयुक्त किये गये हैं :

पु सं वि = पुरातत्त्व और संग्रहालय विभाग
प्रि वे सं = प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय, बंबई
ब्रि म्यू = ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन
भा पु स = भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली
वि अ म्यू = विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूज़ियम, लंदन
रा सं = राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

छायाचित्र

सम्मुख-चित्र

वि अ म्यू = तीर्थंकर शांतिनाथ, 1168 ई०, राजस्थान (वि अ म्यू)

अध्याय 31

265 क श्री और कामदेव, एक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि में चित्रांकन, 1060 ई० (जैसलमेर भण्डार)

ख विद्यादेवी और भक्त महिलाएँ, एक चित्रांकित पटली का आंशिक दृश्य, 1122-54 ई०, गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

266 क और ख. एक चित्रांकित पटली के दृश्य, ग्यारहवीं शताब्दी का अंतिम या बारहवीं का आरंभिक भाग, (इससे भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

267 क और ख. एक चित्रांकित पटली के दृश्य, बारहवीं शताब्दी का आरंभिक भाग (इससे भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

268 क एक चित्रांकित पटली का आंशिक दृश्य, बारहवीं शताब्दी का आरंभिक भाग (इससे भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

ख एक चित्रांकित पटली का आंशिक दृश्य, बारहवीं शताब्दी का आरंभिक भाग (इससे भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

अध्याय 32

चित्र-सूची

अध्याय 33

अध्याय 34

अध्याय 35

अध्याय 37

अध्याय 38

चित्र-सूची

रंगीन चित्र

अध्याय 31

रंगीन चित्र

33 चंद्रमती यशोधर को बलि के लिए आटे से बना हुआ मुर्गा दिखा रही है, जसहरचरिउ के एक पत्र पर, लगभग 1440-50 ई०, कदाचित् ग्वालियर, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

34 मुनि सुदत्त के दर्शन करते ही अभयमति और अभयरुचि अचेत हो गये, जसहरचरिउ के एक पत्र पर, लगभग 1454 ई०, कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

35 परिवारकों-सहित शांतिनाथ, शांतिनाथ-चरिउ के पत्र पर, लगभग 1420-60 ई०, (लेख में देखिए जहाँ इसके बाद के समय पर विचार किया गया है) कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

36 क विद्याधर अतिबल, आदिपुराण (वर्ग-1) के एक पत्र पर, लगभग 1450 ई०, (लेख में देखिए जहाँ इसके बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

36 ख श्रेणिक द्वारा समवसरण की महिमा का वर्णन, आदिपुराण (वर्ग-1) के एक पत्र पर, लगभग 1450 ई०, (लेख में देखिए जहाँ इसके बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

36 ग श्रीमति और वज्रजंघ के विवाह का उत्सव मनाती संगीत-मण्डली, आदिपुराण (वर्ग-2) के एक पत्र पर, लगभग 1475 ई० (लेख में देखिए जहाँ इसके बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

36 घ नर्तक, आदिपुराण (वर्ग-2) के एक पत्र पर, लगभग 1475 ई० (लेख में देखिए जहाँ इसके बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

37 राजा यशोधर अपने परिवारकों के साथ, यशोधर-चरित के एक पत्र पर, लगभग 1596 ई०, कदाचित् उत्तर गुजरात, पश्चिम भारतीय शैली (निजी संग्रह)

रेखा-चित्र

अध्याय 32

26 गुजरात : काष्ठ-शिल्प, नारी संगीतकार (रा सं, रेखांकन मोहन लाल द्वारा)

27 गुजरात : काष्ठ-शिल्प, पायल बाँधती नृत्यांगना (रा सं, रेखांकन मोहन लाल द्वारा)

अध्याय 36

28 वास्तुपुरुष-चक्र (भगवान दास जैन के अनुसार)

29 कूर्म-शिला (भगवान दास जैन के अनुसार)

30 सम-दल प्रासाद (भगवान दास जैन के अनुसार)

31 मंदिर की रूपरेखा (भगवान दास जैन के अनुसार)

32 पीठ (भगवान दास जैन के अनुसार)

33 पाँच स्तरों (थरों) सहित पीठ (भगवान दास जैन के अनुसार)

34 मण्डोवर के प्रकार (भगवान दास जैन के अनुसार)

35 रेखा-मंदिर का शिखर (भगवान दास जैन के अनुसार)

36 आमलसार (भगवान दास जैन के अनुसार)

रेखाचित्र

भाग 7

चित्रांकन एवं काष्ठ-शिल्प

अध्याय 31

लघु चित्र

(ताड़पत्र और कागज पर अंकित पट्ट)

आमुख

महावीर के निर्वाणोपरांत कुछ प्रारंभिक शताब्दियों में जैन आगमों का ज्ञान जैन साधुओं की स्मृति में ही सुरक्षित रहा और परंपरा में गुरुओं द्वारा शिष्यों को मौलिक रूप से प्रदान किया जाता रहा। लेकिन दुर्भिक्षों और संक्रामक रोगों से जब भी ये आगमज्ञानी कालग्रस्त होते तब इन धार्मिक आगमों का ज्ञान भी उन्हीं के साथ अवश्य क्षीण होता जाता। कालांतर में जैन आत्मज्ञान की शिक्षाओं का प्रवाह इतना टूटने लगा कि उसे निरंतर बनाये रखना और उनके मूल-पाठ को भ्रष्ट होने से बचाये रखना असंभव हो गया।[1] कालांतर में मौखिक रूप से ज्ञानांतरण की इस पद्धति से उत्पन्न संकट को जैन समुदाय ने चिंता के साथ अनुभव किया और उसे लगा कि यदि इस दिशा में सुधारात्मक अपेक्षित कदम न उठाये गये तो पवित्र ज्ञान की समस्त धरोहर सदा के लिए विलुप्त हो जायेगी। फलत: जैन समुदाय ने अपनी पवित्र ज्ञान-निधि की सुरक्षा के लिए अनेक प्रकार के प्रयास किये। पाटिलीपुत्र में जैन साधुओं की संगीति आयोजित की गयी जहाँ जैन सिद्धांत-साहित्य को क्रमबद्ध रूप से संचित कर लिपिबद्ध किया गया। आगे चलकर ईसा की पाँचवीं शताब्दी में श्वेतांबर जैन परंपरा के अनुसार गुजरात के वलभि में जैन साधुओं की एक संगीति हुई जिसने यह निर्णय किया कि समस्त धार्मिक मूल-पाठों को लिपिबद्ध किया जाये।[2] इन संगीतियों के अतिरिक्त कुछ जैन साधुओं द्वारा व्यक्तिगत रूप में मौखिक ज्ञान की परंपरा को लिपिबद्ध करने का प्रयास भी किया गया। ईसवी सन् के प्रारंभिक वर्षों में दो दिगंबर जैन साधुओं ने एक दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र रूप में जैन धर्म के बिखरे हुए ज्ञान के विशद भण्डार को संगृहीत कर लिपिबद्ध किया।[3]

लेकिन जैन साधुओं द्वारा अपने इन समस्त पर्याप्त सचेष्ट प्रयासों के उपरांत भी आज तक जो प्रारंभिक जैन पाण्डुलिपियाँ ज्ञात हैं उनमें ऐसी कोई भी पाण्डुलिपि नहीं जो दसवीं शताब्दी से पूर्व

---

1 मोतीचंद्र. **जैन मिनिएचर पेंटिंग्स ऑव वेस्टर्न इण्डिया**. 1949. अहमदाबाद. पृ 2-3.

2 कासलीवाल (के). **जैन ग्रंथ भण्डार्स इन राजस्थान**. 1967. जयपुर. पृ 2.

3 (जैन) हीरालाल कृत भूमिका-भाग. **षट्खण्डागम**. 1947. अमरावती.

की लिपिबद्ध हो। जैनों द्वारा गंभीरतापूर्वक प्रस्तावित धार्मिक पाठ के लिपिबद्ध करने के प्रयास तथा जो लिखित धार्मिक साहित्य सामने आया—इन दोनों के बीच के अंतर का क्या कारण है, इसपर विचार करने पर दो संभावनाएँ सामने आती हैं। पहली यह कि, अपने इस उद्देश्य के प्रति निष्ठा रखते हुए भी जैन उसे उस उत्साह के साथ कार्यान्वित नहीं कर सके जिस उत्साह से उन्होंने ऐसा करने का निर्णय लिया था। दूसरी संभावना यह कि, संभवतः प्रारंभिक पाण्डुलिपियाँ नष्ट हो गयी हों[1], क्योंकि उस समय ग्रंथ-भण्डार (जैन चैत्यवासों के पुस्तकालय) नहीं थे, जहाँ वे उचित देखभाल होने के कारण सुरक्षित रह पातीं। पाण्डुलिपियों के संग्रहालय के रूप में ग्रंथ-भण्डारों की संस्थागत स्थापना जैन समुदाय के धर्म-प्रमुख के रूप में भट्टारक-संस्था के अस्तित्व में आने के उपरांत हुई। जैन धर्म के इतिहास में यह विकास आठवीं शताब्दी के मध्य किसी समय में हुआ प्रतीत होता है।[2] विद्वान् और धर्म के लिए समर्पित भट्टारक गण ज्ञान की महत्ता के प्रति जागरूक थे अतः उन्होंने जैन मंदिर के लिए पाण्डुलिपियों के रूप में शास्त्रदान हेतु अपने अनुयायियों को प्रेरित किया,[3] जिसके फलस्वरूप इस प्रकार के शास्त्रदानों को पर्याप्त धार्मिक महत्त्व प्राप्त हुआ। विगत पापों से मुक्ति पाने के लिए साधन रूप में अथवा व्रत के सफलापूर्वक संपन्न होने के अवसर पर शास्त्रों का दान किया जाने लगा। धर्मात्मा जन जब-तब किसी विशेष ग्रंथ की अनेकानेक प्रतियाँ लिपिबद्ध कराते तथा उन्हें दूर-दूर के जैन ग्रंथ-भण्डारों में वितरित कराते। कभी-कभी पाण्डुलिपियाँ सचित्र भी होतीं।

ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व पाण्डुलिपियों को चित्रित करने की परंपरा प्रचलित थी या नहीं—यह प्रश्न भारतीय लघुचित्रों के इतिहास की एक जटिल समस्या है।[4] यह तो हमें भली-भाँति ज्ञात है कि पाण्डुलिपि-चित्रण के अतिरिक्त चित्रांकन की अन्य विधाएँ जैसे, दीवारों, लकड़ी के तख्तों और कपड़ों पर चित्रांकन की परंपरा अति प्रारंभिक काल से प्रचलित रही है। ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी जितना प्राचीन भित्ति-चित्रण का स्पष्ट साक्ष्य हमें सातवाहनकालीन अजंता की गुफा संख्या नौ और दस में प्राप्त है। इसके साथ ही साहित्यिक साक्ष्य हमें काष्ठ-फलकों, कपड़ों और यहाँ तक कि हड्डियों से निर्मित ढालों पर चित्र-चित्रण के विषय में भी जानकारी उपलब्ध कराते हैं[5] जिनकी सत्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता।

---

1 जैन साहित्य में आये इन उल्लेखों से विद्वान् परिचित हैं कि प्रारंभिक पाण्डुलिपियों में उपलब्ध लेखों में यह लिखा मिला है कि इन पाण्डुलिपियों की प्रतियाँ उन प्राचीन पाण्डुलिपियों से की गयी हैं जो कि उस समय नष्ट-प्राय स्थिति में थीं.

2 विद्याधर जोहरापुरकर. **भट्टारक संप्रदाय.** 1958. शोलापुर की अंग्रेजी में लिखी भूमिका.

3 कस्तूरचंद कासलीवाल, पूर्वोक्त, पृ 4-7.

4 एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता में उपलब्ध सचित्र बौद्ध पाण्डुलिपि **अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता** (पाण्डुलिपि जी-4713) में जिस पाल नरेश महीपाल का लेख प्राप्त है यदि वह महीपाल-प्रथम है तो यह पाण्डुलिपि उसके राज्य के छठवें वर्ष में रची गयी, जिसका समय लगभग सन् 992 होना चाहिए. अतः यह दसवीं शताब्दी के अंतिम काल की रचना है. इस ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि में बारह चित्र हैं.

5 **शिलप्पदिकारम्**, संपादन : रामचंद्र दीक्षितार. 1939. मद्रास. पृ 206. सर्ग 13. पंक्ति 168-179.

इस विषय में जैन लेखकों द्वारा किये गये कला-विषयक उल्लेख हमारे लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।[1] उद्योतन-सूरि द्वारा, जो वीरभद्र के शिष्य थे तथा आगे चलकर विद्वान् जैन साधु हरिभद्र-सूरि के शिष्य बने, राजस्थान में जालोर नामक स्थान पर सन् ७७८-७७९ में प्राकृत भाषा में रचित कुवलयमाला-कहा नामक ग्रंथ में जिस संसार-चक्र-पट का उल्लेख किया गया है वह स्पष्टतः पट-कपड़े के चित्र-फलक पर अंकित चित्र का साक्ष्य है। इस पट में स्वर्ग के सुखों के विपरीत मानव-जीवन के दुखों एवं निरर्थकताओं का अंकन है। इस पट का चित्रांकन प्रशंसनीय माना गया है। इसी प्रकार जिनसेन-प्रथम (लगभग ८३० ई०) ने अपने ग्रंथ आदि-पुराण में एक जैन चैत्यवास-स्थित पट्टशाला का उल्लेख किया है। जटासिंहनंदी (लगभग सातवीं शताब्दी) ने अपने ग्रंथ वरांग-चरित में एक जैन मंदिर के भीतर पट्टकों के प्रदर्शित किये जाने का उल्लेख किया है। इन पट्टकों पर तीर्थंकरों, प्रसिद्ध जैन-साधुओं और चक्रवर्तियों (महान् राजाओं) के जीवन-चरित्रों का चित्रांकन है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त अंतिम दोनों उल्लेख दक्षिण भारत के जैन मंदिरों से संबद्ध हैं जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पट्टकों के चित्रण की परंपरा जैनों में व्यापक रूप से प्रचलित थी। यद्यपि पट्टक शब्द का अर्थ लकड़ी का तख्ता हो सकता है और कपड़े पर तैयार किया चित्र-फलक भी, लेकिन इससे कपड़े के तैयार किये चित्र-फलक का अर्थ लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इन प्रारंभिक पटों को बाद के अनेकानेक जैन कपड़े के पटों का उद्भावक मानना चाहिए।[2] बाद के अनेकानेक जैन पटों के विषय में जैन कला के विद्वान् भली-भाँति परिचित हैं। उपरोक्त उल्लिखित प्रारंभिक पट-चित्रों तथा बाद के इन पट-चित्रों के संदर्भों से हमें यह संकेत मिलता है कि कपड़ों के पटों पर इस प्रकार के चित्रों के निर्माण की एक लंबी, अविच्छिन्न और क्रमबद्ध परंपरा रही है।

परंतु यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि समस्त प्रारंभिक उल्लेख मंदिरों की दीवारों और पटों पर बने हुए चित्रों की ओर संकेत करते हैं, फिर भी जहाँ तक हमें ज्ञात है, वे पाण्डुलिपियों के चित्रण के अस्तित्व और ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व में उसके प्रचलन के बारे में विशेष रूप से मौन हैं।

श्वेतांबर पाण्डुलिपियाँ

पाण्डुलिपियों के चित्रांकन का प्रारंभ

प्राचीनतम चित्रांकित जैन पाण्डुलिपि में ताड़पत्र पर ओघ-निर्युक्ति तथा दश-वैकालिक-टीका नामक दो ग्रंथ लिखे गये हैं। इन दोनों की प्रशस्तियों में एक ही दाता, एक ही पात्र-साधु और एक ही लिपिकार का उल्लेख है। ओघ-निर्युक्ति की प्रशस्ति में तिथि का भी उल्लेख है। यह तिथि है विक्रम

1 (शाह उमाकांत प्रेमानंद) का ऑल इण्डिया ओरियेण्टल कांफ्रेंस के फाइन आर्ट्स सेक्शन, 24वाँ अधिवेशन, वाराणसी, अक्तूबर 1968, में दिया गया अध्यक्षीय भाषण.

2 मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, पृ 46.

संवत् १११७ (१०६० ई०) ।[1] इस पाण्डुलिपि में अंतिम चित्रों में श्री का एक चित्र, कामदेव द्वारा वाण छोड़े जाने का एक सजीव चित्र तथा हाथियों के सुदक्षतापूर्ण अंकित कुछ चित्र हैं (चित्र २६५ क)। इस पाण्डुलिपि के चित्रों के अत्युत्तम स्तर के रेखांकन को देखकर हमें इसलिए आश्चर्यचकित होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि, हम इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि वस्त्रों पर कुशल चित्रकारों द्वारा पट्टों के चित्रांकन की परपरा ग्यारहवीं शताब्दी के बहुत पूर्व से प्रचलित रही है। यद्यपि कपड़े पर बड़े आकार के चित्र बनाने में अभ्यस्त पट-चित्रकारों को प्रारंभ में ताड़ के छोटे से पत्र के अत्यंत सीमित स्थान पर चित्रांकन करने में कुछ असुविधा रही होगी।

परंतु सचित्र पाण्डुलिपियों के संबंध में एक प्रश्न सर्वप्रथम विचारणीय है कि जैन ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों पर, जिनमें ताड़पत्रों का क्षेत्रफल अत्यंत सीमित है, चित्रांकन मात्र ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही किस प्रकार प्रारंभ हुआ। इसमें संदेह नहीं कि अनेक जैन ग्रंथ ग्यारहवीं शताब्दी से पहले भी ताड़पत्रों पर लिखे गये हैं, भले ही उनकी प्रतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उपलब्ध प्रमाण यह सकेत देता है कि प्रारंभिक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के—जिनमें सबसे प्राचीन सन् १०६० की रची जैसलमेर की ओघ-निर्युक्ति की पाण्डुलिपि का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं—उत्तरवर्ती विकास के फलस्वरूप ही ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के चित्रण की परंपरा प्रकाश में आयी है। इस विषय में बिना किसी पूर्वाग्रह के कुछ संभावनाएँ व्यक्त की जा सकती हैं; जिनमें से एक संभावना यह है कि दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व ही यहाँ पर धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथों की सचित्र पाण्डुलिपियों की एक सामान्य परंपरा प्रचलित थी। ये प्रारंभिकतम पाण्डुलिपियाँ बौद्ध और जैन धर्म से संबंधित सचित्र पाण्डुलिपियाँ हैं जो आज भी सुरक्षित हैं। इन दोनों धर्मों की सचित्र पाण्डुलिपियों की परंपरा एक सामान्य स्रोत से उद्भावित है; अत: इन दोनों धर्मों में से किसी ने एक दूसरे से अनुप्रेरणा प्राप्त नहीं की है। परंतु इन दोनों के सामान्य स्रोत के विषय में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। अबतक ज्ञातव्य सबसे प्राचीन सचित्र पाण्डुलिपि बौद्ध धर्म से संबंधित है। इस पाण्डुलिपि की रचना पालवंशीय शासक महीपाल के राज्यकाल के छठवें वर्ष में हुई थी। यदि यह शासक महीपाल-प्रथम है तो, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस पाण्डुलिपि का रचनाकाल लगभग सन् ९९२ है। इस पाण्डुलिपि के चित्रण की शैली दीर्घकाल से चली आ रही अजता की उच्चस्तरीय चित्रण-परंपरा से ली गयी है। परंतु इसकी रचना में कहीं अधिक स्थिरता और प्रस्तुतीकरण में औपचारिकता है। इस पाण्डुलिपि को महान् बौद्ध विश्वविद्यालय नालंदा में लिपिबद्ध किया गया है। यह भी हो सकता है कि ताड़पत्र के सीमित क्षेत्रफल के कारण, जिसपर पाठ भी लिखा जाता था, दसवीं शताब्दी से पूर्व पाण्डुलिपियों के चित्रण की परंपरा का विकास न हो पाया हो। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि दसवीं शताब्दी में बौद्ध प्रतिमाओं के रेखांकन और ध्वजाओं पर धार्मिक विषयों के चित्रांकन के अभ्यासी कुछ बौद्ध भिक्षुओं ने धार्मिक पाण्डुलिपियों को चित्रित करने की आवश्यकता

---

1 यह पाण्डुलिपि जैसलमेर के एक जैन भण्डार मे है. इसका सर्वप्रथम उल्लेख डॉ. सत्यप्रकाश ने हिंदी पत्रिका 'आकृति' मे किया था; तदपश्चात् डॉ. उमाकांत प्रेमानंद शाह ने किया, पूर्वोक्त.

अनुभव की ओर उन्होंने ताड़पत्र के सीमित क्षेत्रफल के उपरांत भी उनपर लघुचित्रों की रचना की । इस प्रकार उन्होंने कला की एक नयी विधा का श्रीगणेश किया । यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें इन चित्रों की रचना के लिए किन कारणों ने उत्प्रेरित किया परंतु यह देखा जा सकता है कि पाँचवी शताब्दी के प्रारंभिक काल में भी चित्रांकन की परंपरा विद्यमान थी । पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में चीनी यात्री फाह्यान ने चीन लौटने से पूर्व दो वर्ष तक ताम्रलिप्ति के तट पर स्थित एक बौद्धमठ में रहकर सूत्रग्रंथों की प्रतिलिपि ही नहीं की बल्कि बौद्ध प्रतिमाओं का रेखांकन भी किया ।[1] बौद्ध प्रतिमाओं के ये रेखांकन निस्संदेह पूजा-पाठ के लिए किये जाते थे और इनका स्थायी संग्रह सदैव यहाँ देखने के लिए उपलब्ध रहता था । यह भी संभव है कि जैन धर्म की पाण्डुलिपियों को चित्रित करने की प्रेरणा जैन आचार्यों ने बौद्ध धर्म की उन प्रारंभिक सचित्र ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों से ली हो जो पालवंशीय शासनकाल के अंतर्गत बंगाल में चित्रित हुईं । बौद्ध धर्म की इन ताड़पत्रीय सचित्र पाण्डुलिपियों में बौद्ध धर्म के देवी-देवताओं तथा बुद्ध के जीवन संबंधी घटनाओं के चित्र अंकित हैं । यह ज्ञात नहीं है कि वे क्या कारण और परिस्थितियाँ थीं जिनमें जैन साधु बौद्धों की इन ताड़पत्रीय सचित्र पाण्डुलिपियों की चित्रण-परंपरा के संपर्क में आये । ऐसे बहुत से कारण हो सकते हैं जिनमें यह संपर्क संभव हुआ हो । इन कारणों पर विचार किया जाना चाहिए । क्योंकि जैन समुदाय के लोग देश के विभिन्न भागों में रहते आये हैं अतः हो सकता है कि इसी देशव्यापी संपर्क के कारण ऐसा हुआ हो । दूसरे, जैन धर्म प्रचारक साधु गुजरात से देश के दूर-दूर प्रदेशों की निरंतर यात्राएँ करते रहे हैं; अतः हो सकता है इन सुदूर यात्राओं के कारण वे उनके संपर्क में आये हों । आगे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि जैनों का धार्मिक अनुशासन बौद्धिक ज्ञान की उपलब्धियों के साथ हिन्दू और बौद्ध परंपरा की धार्मिक कला और साहित्य के विकास से असंपृक्त नहीं था क्योंकि इस तथ्य की संपुष्टि भण्डारों में पाये जाने वाले जैनेतर साहित्य की उपस्थिति से भी होती है । जैन धर्म की सबसे प्राचीन सन् १०६० की जैसलमेर-भण्डार की सचित्र पाण्डुलिपि बौद्ध धर्म की सबसे प्राचीन ताड़पत्रीय सचित्र पाण्डुलिपि से मात्र पचहत्तर वर्ष बाद की है—यह एक संयोग मात्र है । भारतीय भित्ति-चित्रण-कला की कहानी इस तथ्य की ओर स्पष्टतः अंगुलि-निर्देश करती है कि इन तीनों महान् धर्मों की कलात्मक गतिविधियाँ अभिव्यक्ति की एक-समान दिशा का अनुसरण करती रही हैं । यह संभावना भी की जाती है कि पालवंशीय शासनकालीन प्रारंभिक बौद्ध सचित्र पाण्डुलिपियों ने जैनों को वैसी ही कला-प्रवृत्ति अपनाने की प्रेरणा प्रदान की हो । यह संभावना आधारहीन नहीं है ।

पाण्डुलिपियों के काष्ठ-निर्मित आवरण

जैसलमेर के प्रसिद्ध जैन भण्डार में दो सचित्र पटलियाँ (पाण्डुलिपियों के काष्ठ-निर्मित आवरण) उपलब्ध हैं जिनपर जैन मूर्ति-शास्त्र की विद्यादेवियों के चित्र अंकित हैं । इन विद्यादेवियों

---

1 फाह्यान द्वारा लिखित ए रिकॉर्ड ऑफ बुद्धिस्ट कन्ट्रीज का अनुवाद . अनु० चाइनीज बुद्धिस्ट एसोसियेशन, 1957, पीकिंग; पृ 77.

के चित्रण की प्रेरणा स्पष्टतः पालकालीन बौद्ध पाण्डुलिपियों के चित्रों से ली गयी है। ये बौद्ध पाण्डुलिपियाँ पालवंशीय शासक रामपाल के शासनकाल में संभवतः ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध या बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की चित्रित हैं।[1] इन विद्यादेवियों की पटलियों के दिलहों में से एक दिलहे में दो उपासिकाएँ चित्रित हैं। ये उपासिकाएँ इन पटलियों के काल-निर्धारण के लिए महत्त्वपूर्ण संकेत उपलब्ध करती हैं। इन पटलियों की रचना प्रसिद्ध जैन विद्वान् जिनदत्त-सूरि के जीवनकाल में हुई है। उनका निधन सन् ११५४ में हुआ था। दूसरी पटली में भी बिलकुल ऐसी ही उपासिकाएँ चित्रित हैं। यह पटली (रंगीन चित्र २२) जैसलमेर के जैन भण्डार में है। यह पटली प्रायः निश्चित रूप से उस अवसर पर चित्रित की गयी जब जिनदत्त-सूरि मारवाड़ के मरुकोट्टा (मारोठ) नामक स्थान पर एक विशाल मंदिर की प्रतिष्ठापना के लिए पधारे थे। इस मंदिर का निर्माण जिनदत्त-सूरि के धर्मोपदेशों की प्रेरणा पर हुआ था अतः इस मंदिर में प्रतिमा-प्रतिष्ठापना करने के लिए उन्हें पधारना ही था। जिनदत्त-सूरि श्याम वर्ण के थे और वे अपने वर्ण के लिए जाने जाते थे, इसलिए इस पटली में उन्हें भूरे त्वचा-रंग में चित्रित किया गया है। इस चित्र में उन्हें अपने शिष्य जिनरक्षित, तीन श्रावकों (नये शिष्यों) तथा इनमें से एक श्रावक की दो पत्नियों को महावीर के जीवन से संबंधित उपदेश देते हुए दर्शाया गया है। पटली[2] के मध्य में महावीर आसन पर विराजमान हैं और उनकी दाहिनी ओर जिनदत्त-सूरि को अपने शिष्यों—गुणचंद्र-सूरि और सोमचंद्र-सूरि—को उपदेश देते हुए पुनः दर्शाया गया है। यह पटली ओघ-निर्युक्ति की पाण्डुलिपि का आवरण है। ओघ-निर्युक्ति जैन साधुओं के लिए एक आचार-संहिता ग्रंथ है। यह पटली इस ग्रंथ या किसी अन्य ग्रंथ के साथ निश्चय ही जिनदत्त-सूरि को उनके किसी अनुयायी द्वारा महावीर की प्रतिमा-प्रतिष्ठापना के अवसर पर भेंटस्वरूप प्रदान की गयी होगी। संभवतः इसका दान-दाता वही श्रावक है जिसे अपनी दो पत्नियों सहित पटली पर दर्शाया गया है। क्योंकि इस पटली को हम सुविधा की दृष्टि से एक सुप्रसिद्ध जैन आचार्य के समकालीन चित्रित मान सकते हैं, अतः इसका उचित काल-निर्धारण किया जा सकता है। जिनदत्त-सूरि राजस्थान के निवासी थे, जिनका जन्म सन् १०७५ में तथा निधन ११५४ में हुआ। इस पटली पर लिखे गये शीर्षकों से यह भी संकेत मिलता है कि इसपर चित्रण किन व्यक्तियों के हैं। जिनदत्त-सूरि सन् ११२२ में आचार्य बने और यह पटली इसके बाद ही चित्रित की गयी होगी; अतः इसका रचनाकाल सन् ११२२ से ११५४ के मध्य रहा है। इस पटली के पृष्ठ-भाग पर मात्र पत्र-पुष्पों का अलंकरण है। इस पटली की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसपर एक श्रावक की दो पत्नियों को चित्रित किया गया है। इन दोनों महिलाओं के चित्रों में बाघ-अजंता के नारी-चित्रों के आकार और मुखाकृति के चित्रण की विशिष्ट परंपरा का निर्वाह हुआ है, यद्यपि इनके

---

1 मुनि पुण्यविजय एवं डॉ. उमाकांत प्रेमानंद शाह. 'सम पेण्टेड बुक-कवर्स फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया,' **जर्नल ऑफ़ इण्डियन सोसाइटी ऑफ़ ओरिएण्टल आर्ट** (स्पेशल नंबर ऑन वेस्टर्न इण्डियन आर्ट), मार्च 1966. पृ 34-44 एवं चित्र 25 एवं 27 के अनुसार. डॉ. शाह द्वारा हाल ही में इन विद्यादेवियों के लिए सुझाया गया इससे पूर्व का, अर्थात् दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व का काल सहज स्वीकार्य नहीं है.

2 मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, रेखाचित्र 191 में समूची पटली को एक रंग में प्रस्तुत किया गया है.

चित्रण में शैलीगतता और रीतिबद्धता हो सकती है। लेकिन चित्रों में अजंता और बाद की चित्रण-परंपरा के निर्वाह किये जाने की यह अंतिम ही झलक है क्योंकि इन चित्रों के बाद आगे के चित्रों में यह झलक पुन: नहीं देखी गयी। इस पटली में अंकित दाढ़ी वाले श्रावक का चित्र ऐलोरा के कैलास-मंदिर के कुछ भित्ति-चित्रों[1] में चित्रित ऐसी ही दाढ़ी वाले व्यक्तियों के चित्रों से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। ये भित्ति-चित्र सामान्यत: बारहवीं शताब्दी के बताये जाते हैं—लेकिन ये इससे कुछ पूर्व के भी हो सकते हैं। ये भित्ति-चित्र एक परमार शासक के शासनकाल में निर्मित माने आते हैं लेकिन इस विषय में अभी विद्वानों में मतैक्य नहीं है।[2] अत: यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि अजंता की कला-परंपरा और उसी प्रकार उसकी अंतरकालीन ऐलोरा की चित्रण-विधि गुजरात में निरंतर प्रचलित रही, यद्यपि उसमें एक विकसित शैलीबद्ध रूपाकार स्थान ग्रहण करते गये हैं।

इसके आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जैन मंदिरों के वे प्रारंभिक पट्टक और चित्र जिनके हमें आठवीं एवं नौवीं शताब्दी में उपस्थिति के साहित्यिक साक्ष्य ही उपलब्ध होते हैं, तीव्रता से लुप्त होती हुई शैली में चित्रित किये गये होंगे। लंबी-लंबी, कानों तक बिस्तृत आँखों के चित्रांकन की परंपरा, जो जिनदत्त-सूरि की पटली में देखी गयी है, वह प्रथम बार अजंता की गुफा-२ के भित्ति-चित्र में पायी गयी है। लेकिन इस प्रकार की आँखों का चित्रण इस गुफा की कुछ ही आकृतियों में पाया गया है। अजंता के बाद यह परंपरा पुन: ऐलोरा के कैलास-मंदिर के भित्ति-चित्रों में पायी गयी है। विस्फारित आँखों के चित्रण को जैन कला की एक प्रमुख विशेषता माना जाता है। विस्फारित आँखों के चित्रण की इस असाधारण प्रवृत्ति के एक से अधिक कारण बताये जाते हैं, जिनमें से जैन विद्वान् मुनि जिनविजय द्वारा सुझायी गयी संभावना विशेष रूप से मान्य प्रतीत होती है। उनका अनुमान है कि किसी विशेष संप्रदाय या चित्रकार-समूह ने अपने चित्रों में यह विशेषता विकसित कर ली थी कि वे अपने चित्रों में देवी-देवताओं या मानव-मुखाकृति के पार्श्व-चित्र में एक ही आँख अंकित करते थे। एक ही आँख के अंकित किये जाने के फलस्वरूप यह आँख विस्तृत आकार की होती थी। इस विषय पर और भी अनेक संभावनाएँ हैं। दो अन्य पटलियाँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं[3] जिनपर जिनदत्त-सूरि और उनके शिष्यों के चित्र अंकित हैं। ये पटलियाँ भी जिनदत्त-सूरि की समकालीन हैं। जिनदत्त-सूरि की समस्त पटलियाँ निश्चित रूप से राजस्थान में ही चित्रित होनी चाहिए और उनका समय सन् ११२२ से ११५४ के मध्य रहा होना चाहिए। इन समस्त पटलियों के किनारों पर पत्र-पुष्प का एक विशेष प्रकार की अलंकरण है तथा रंग-योजना की दृष्टि से ये अत्यंत संपन्न हैं (रंगीन चित्र २२)।

अजंता-शैली के चित्रण की परंपरा इन प्रारंभिक पटलियों के मात्र नारी-आकृति-चित्रण में ही नहीं है, इस काल की ऐसी अनेक पटलियाँ हैं जिनपर लता-वल्लरियों के अलंकरण हैं। इन

---

1 रिपोर्ट ऑफ़ दि आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ हैदराबाद. 1927-28. चित्र डी और ई.

2 भाटिया (पी). दि परमाराज़. 1967. नई दिल्ली. पृ 350.

3 अपभ्रंश-काव्यत्रयी. गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, 37, 1927; में एक पटली प्रकाशित है तथा दूसरी पटली जर्नल ऑफ़ इण्डियन सोसाइटी ऑफ़ ओरिएण्टल आर्ट, मार्च 1966 के चित्र 22 में प्रकाशित है.

अलंकरणों में घुमावदार लताओं से निर्मित वृत्ताकारों में हाथी, एकाकी या युगल बत्तख, पौराणिक जलचर आदि तथा अन्य पशु-पक्षी अंकित हैं (रंगीन चित्र : २३ ख, ग और घ)। एक सुंदर पटली[1] में लता के वृत्ताकार घेरे अंकित नहीं हैं लेकिन जलाशय में विकसित कमल-पुष्प की लहरदार लता के घुमाव अंकित हैं जिनमें हाथी, चीता, बंदर, मछली, कछुआ और दौड़ती हुई मुद्रा में पुरुष-आकृतियाँ अंकित हैं (चित्र : २६६ क, ख)। यह पटली जैसलमेर की समस्त पटलियों में संभवतः प्रारंभिक है। परंतु इसके लिए भी ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पहले का समय निर्धारित करना उचित नहीं होगा। अन्य दो पटलियों में से एक पटली, जो इस समय अत्यंत उल्लेखनीय है, जैसलमेर के जैन भण्डार से संबंधित है।[2] इस पटली में हम एक जिराफ तथा गेंडे का चित्र लहरदार लताओं के वृत्ताकारों में, तथा पक्षी, दैत्याकार जलचर और मोहक मुद्रा में अनावृत वक्ष वाली कुमारियों के चित्र पाते हैं (चित्र : २६७ क, ख तथा २६८ क)। इसमें हिरण, सूअर और एक बाँसुरी-वादक का भी चित्र है (चित्र : २६८ ख)। यद्यपि जिराफ भारत का पशु न होकर अफ्रीकी मैदानों का पशु है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस पटली के चित्रकार ने राजस्थान से होकर जाते हुए जिराफ को देखा है। संभव है, इस जिराफ को कोई विदेशी व्यापारी दल अपने साथ लिये जा रहा हो, क्योंकि यह तो हमें भली-भाँति ज्ञात है कि दुर्लभ पशु-पक्षी राजनयिक उपहारों की सूची में सम्मिलित रहे हैं; इसलिए हो सकता है कि इस जिराफ को किसी भारतीय शासक के लिए उपहार-स्वरूप भेजा गया हो। यह भी संभव है कि यह जिराफ किसी विशाल व्यापारिक जलयान द्वारा जल-मार्ग से गुजरात के किसी बंदरगाह पर आया हो। जो भी हो, पटली के अलकरण में सम्मिलित इस प्रकार की विविधता इस तथ्य की ओर संकेत देती है कि प्रारंभ में चित्रकारों को कलात्मक अभिव्यक्ति की पूरी स्वतंत्रता प्राप्त थी, जो आगे चलकर कला के अधिकाधिक औपचारिक हो जाने के कारण नहीं रही। एक सींगवाला गेंडा उस समय भारत में उपलब्ध था। इस प्रकार के गेंडे आज तराई-क्षेत्र तक ही सीमित रह गये हैं जबकि उस समय देश के अन्य भागों में भी पाये जाते थे। इस पटली के चित्रकार ने गेंडे को भी कहीं संभवतः किसी अजायबघर या किसी स्थान पर बंद देखा होगा।

दूसरी पटली में, जो इसी भण्डार की है, हाथियों, ऊपर की ओर उठी हुई पूँछ-युक्त पक्षियों तथा खूँखार शेरों के चित्र अंकित हैं। ये सभी पशु-पक्षी वर्गाकार घेरों के मध्य बने वृत्तों में अंकित हैं (चित्र २६९ क तथा ख)। ये आलंकारिक चित्र हमारा ध्यान अजंता की छतों के उस समृद्ध चित्रण की ओर ले जाते हैं जो पुष्पों, पशु-पक्षियों और लता-वल्लरियों की अभिकल्पनाओं से अति संपन्न हैं। इस पटलियों के आलंकरण-चित्रण में हम पुनः एक बार इस बात के साक्ष्य पाते हैं कि गुजरात और राजस्थान में, जहाँ ये पटलियाँ चित्रित हुईं, अजंता के आलंकारिक आशयों के चित्रण की परंपरा प्रचलित थी।[3] इस पटली पर 'निषीहृ-भाष्य-पूजा श्री विजयसिंहाचार्जानिम्' लिखा

1 नवाब (साराभाई). **ओल्डेस्ट राजस्थानी पेण्टिंग्स फ्रॉम जैन भण्डार्स**. 1959. अहमदाबाद. चित्र 5 क से 8 क.

2 पूर्वोक्त, चित्र डब्ल्यू और वाई.

3 पूर्वोक्त, चित्र 1 और 2.

हुआ है, जिससे यह संकेत मिलता है कि यह पटली और संभवतः वह पाण्डुलिपि, जिसके लिए यह पटली बनायी थी, श्री विजयसिंहाचार्य को उनके किसी अनुयायी द्वारा तैयार कराकर भेंट की गयी थी। विजयसिंहाचार्य एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे जो गुजरात के सिद्धराज जयसिंह के शासनकालीन (सन् १०९४-११४४) एवं श्री-हेमचंद-सूरि तथा श्री-वादिदेव-सूरि जैसे विद्वान् जैनाचार्यों के समसामयिक थे। भाषागत या ऐसा कोई अन्य कारण प्रकाश में नहीं है जिसके आधार पर इस पटली को दसवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व का अर्थात् श्री विजयसिंहाचार्य के समय से पूर्व का चित्रित माना जा सके, अथवा इस पटली को पहले का चित्रित माना जाये और साथ में यह भी कि यह पटली उनके पास उस अवसर पर आयी हो जिसका उल्लेख इस पटली के लेख में है।[1] यह लेख-युक्त पटली शैलीगत विशेषताओं के आधार पर अन्य पटलियों के, जिनमें हाथी, पौराणिक शेर एवं पशु-पक्षियों के चित्र हैं, रचना-काल को निर्धारित करने के लिए मूल्यवान सामग्री प्रस्तुत करती है। क्योंकि यह पटली बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की है इसलिए यह पटली जैसलमेर-भण्डार की अधिकांशतः आलंकारिक पटलियों के रचनाकाल, अपने समकालीन या इससे पूर्व का, (जो अधिक से अधिक ग्यारहवीं के उत्तरार्ध का समय है) निर्धारित करने का एक अच्छा आधार प्रदान करती है। यद्यपि, इनमें से कुछ पटलियों का समय इससे बहुत पहले का अर्थात् दसवीं शताब्दी सुझाया गया है[2], परंतु सावधानीपूर्वक किया गया शैलीगत विश्लेषण इस सुझाव का समर्थन नहीं करता। यथार्थतः यदि यह स्वीकार्य हो कि ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के चित्रित कराने तथा उनके लिए चित्रित पटलियों के निर्माण कराने की प्रेरणा जैनों ने बौद्धों की प्रचलित परंपरा से ग्रहण की है तब भी यह परंपरा स्वयं में ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से पूर्व की नहीं बैठती। जैन पाण्डुलिपि-चित्रों के काल-निर्धारण की यह विधि भी भ्रामक सिद्ध होगी यदि हम इन चित्रों में अंकित आकृतियों की समानता गुजरात और राजस्थान की प्रतिमाओं में देखने का प्रयास करें और वह भी जबकि हम इन प्रतिमाओं को इन चित्रों के लिए विशुद्ध प्रतिमान मानकर चलें। यद्यपि इस विधि का उपयोग किया जा सकता है लेकिन वह भी एक सीमित क्षेत्र तक; और यह ध्यान में रखते हुए ही कि किसी प्रदेश विशेष की चित्र और मूर्तिकला एक ही काल से अनिवार्यतः संबंधित नहीं होती यद्यपि उनमें कुछ समानताएँ हो सकती हैं। इस तथ्य को सत्यापित करने के लिए अमरावती और नागार्जुनी कौंडा की मूर्तिकला के उदाहरण हमारे समक्ष हैं। अमरावती और नागार्जुनी कौंडा के मूर्ति-शिल्प अंजता के वाकाटक चित्रों के समानांतर हैं, लेकिन इसके उपरांत भी आगे की दो शताब्दियों के मध्य ये चित्र मूर्ति-शिल्पों से नितांत भिन्न हो गये। इसी प्रकार मुनि पुण्यविजयजी के संग्रह की क्षतिग्रस्त एक पटली (चित्र २७० क), जिसपर महावीर का चित्र अंकित है[3], शैलीगत तुलना के आधार पर जिनदत्त-सूरि की पटलियों से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं

---

1 मुनि पुण्यविजय और शाह, पूर्वोक्त, पृ 41, पाद-टिप्पणी 12. यहां पर इस पटली का रचनाकाल इससे पहले का सुझाया गया है.

2 पूर्वोक्त, पृ 41; हमारे द्वारा सुझाये गये अनुमानित समय से भी पूर्व का समय शाह इस पटली (रंगीन चित्र 23 क, ख, ग, घ) को दे सकते है.

3 पूर्वोक्त, चित्र 23 (रंगीन).

है जबकि यह पटली जिनदत्त-सूरि की पटलियों से कुछ काल पूर्व की ही रही है। इसके अनुसार इस पटली का रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध निर्धारित किया जा सकता है। इससे आगे इन परिस्थितियों पर अधिक बल नहीं दिया जा सकता कि लंबी-लंबी आँखों के चित्रण की प्रवृत्ति इनमें थी या नहीं। जैसलमेर-भण्डार में तिलकाचार्य कृत दश-वैकालिक-सूत्र की पाण्डुलिपि तथा कुछ अन्य ग्रंथों की आंशिक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ हैं[1] जिनमें पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के जीवन संबंधी अनेक दृश्य चित्रित हैं। इन चित्रों में से अधिकांश चित्रों में जो आँखें चित्रित हैं वे असामान्य ढंग से विस्फारित नहीं है यद्यपि आँखों के चित्रण में लंबी-लंबी विस्फारित आँखों के चित्रण की परंपरा का निर्वाह किया गया है (चित्र २७१ क, ख, ग, घ)। ये चित्र अधिक से अधिक तेरहवीं शताब्दी से पूर्व के नहीं हैं। एक तथ्य, जिसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए लेकिन उसकी अपेक्षा की जाती रही है, यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि किसी एक या एक जैसे समान काल में विभिन्न चित्रकारों द्वारा रचेगये चित्रों में एक ही शैली का उपयोग किया जाये। इसलिए किसी शैलीगत भेद को अनिवार्य रूप से किसी काल या प्रांत का भेद नहीं माना जा सकता। बाहुबली-भरत-युद्ध चित्रांकित प्रसिद्ध पटली के पृष्ठ-भाग पर घुमावदार लता-वल्लरियों के वृत्ताकारों में हाथी, पक्षी और पौराणिक शेरों के आलंकारिक अभिप्राय चित्रित हैं (रंगीन चित्र २३ क, ख, ग, घ)। यह पटली पहले साराभाई नवाब के पास थी[2] और अब यह बंबई के कुसुम और राजेय स्वाली के निजी संग्रह में है। यह पटली बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की है यद्यपि इसका रचनाकाल उपरोक्त लेख-युक्त पटली (चित्र २६९ क, ख) से कुछ समय पूर्व का हो सकता है। इस पटली की रचना सिद्धराज जयसिंह (सन् १०९४-११४४ ई०) के शासनकाल में विजयसिंहाचार्य के लिए हुई थी। इस पटली का रचनास्थल राजस्थान ही होना चाहिए क्योंकि राजस्थान ही जिनदत्त-सूरि का मुख्य कार्यक्षेत्र रहा है और प्रतीत होता है कि यहीं पर जैसलमेर-भण्डार की अधिकांशतः प्रारंभिक पटलियाँ बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चित्रित हुई हैं। कहा जाता है कि बाहुबली-भरत-युद्धांकन वाली पटली मूलतः जैसलमेर-भण्डार की ही पटली है।

जैन चित्रकला में पटली-चित्रण-विधा की श्रेष्ठ कृतियों के समूह में विचार करने को अभी एक ऐसी पटली[3] शेष रह गयी है जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण और सुदक्ष कलाकारिता की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसपर विचार करने से हम स्वयं को अभी तक इसलिए रोकते रहे हैं कि हमें जो स्थान यहाँ पटली, ताड़पत्र और कागज पर चित्रित जैन चित्रकला की सर्वोत्तम कृतियों की विवेचना के लिए मिला है हम उसका समुचित उपयोग उसी के लिए कर सकें। कहा जाता है कि यह पटली (रंगीन चित्र २४) एक जैन भण्डार की है। यह पटली पहले जैन विद्वान् मुनि जिनविजयजी के पास थी और इस समय एक निजी संग्रह में है। इस पटली पर उस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ का दृश्य अंकित है

1 नवाब (साराभाई), पूर्वोक्त, चित्र ओ, पी और क्यू (रंगीन)
2 मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, चित्र 199-203.
3 पूर्वोक्त, चित्र 193-198.

जो महान् श्वेतांबर तर्क-विद् वादिदेव-सूरि और सुप्रसिद्ध दिगंबर आचार्य कुमुदचंद्र के मध्य सन् ११२४ में सिद्धराज जयसिंह की राज्य-सभा में हुआ था, जिसमें वादिदेव-सूरि ने अभिमानी कुमुदचंद्र को परास्त किया था। इसमें किंचित संदेह नहीं कि इस पटली के चित्रण का मूल उद्देश्य सम-सामयिक घटना को चित्रित करना रहा है। यह पटली इस शास्त्रार्थ से अधिक से अधिक एक वर्ष की अवधि में चित्रित की गयी है। यह शास्त्रार्थ भी छह मास तक चला था। इस शास्त्रार्थ की कथा मात्र श्वेतांबर जैनों के आगमाश्रित साहित्य में लिपिबद्ध ही नहीं हैं अपितु यशश्चंद्र के नाटक मुद्रित-कुमुद-चंद्र की कथावस्तु भी है। यशश्चंद्र गुजरात के शासक सिद्धराज जयसिंह (सन् १०९४-११४४) के शासनकाल का एक नाटककार था और वह स्वयं इस अवसर पर उपस्थित था। उसने यह नाटक इस शास्त्रार्थ के अवसर पर ही लिखा था। इस सब के अनुसार इस पटली की रचना लगभग सन् ११२५ में होनी चाहिए। इस पटली की सुदक्ष कलाकारिता राजस्थान में चित्रित जिनदत्त-सूरि के पटली-समूह की श्रेष्ठतम पटलियों की कलाकारिता के समकक्ष है। यह पटली संभवतः गुजरात की राजधानी पाटन के किसी चित्रकार की कलाकृति है जहाँ पर यह शास्त्रार्थ हुआ था। पाटन में पाण्डुलिपियों की रचना-कला को बहुत बड़ा संरक्षण प्राप्त था। इस घटना को श्वेतांबर जैन संप्रदाय में एक लंबे समय तक स्मरणीय बनाये रखने की दृष्टि से निस्संदेह ही विजयी वादिदेव-सूरि के किसी प्रशंसक-अनुयायी ने उन्हें कुछ आगमिक पाठों की पाण्डुलिपियों के साथ भेंट करने के लिए यह पटली बनवायी होगी। इस पटली और जिनदत्त-सूरि-पटली-समूह में शैलीगत भिन्नता इन तथ्यों से भली-भाँति परिगणित की जा सकती है कि ये विभिन्न क्षेत्रों में चित्रित की गयीं, फलतः इनके चित्रण के लिए विभिन्न व्यावसायिक समूहों के चित्रकार नियुक्त किये गये। इस पटली में चित्रित महावीर की प्रतिमा को ले जाने वाले उत्सव के रथ के साथ शोभा-यात्रा के दृश्य में नर्तकों और गायकों-वादकों को सजीव एवं आकर्षक रूपाकारों में अंकित किया गया है। ये चित्र बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में पाटन में पटलियों के निर्माण की उच्च तकनीकी दक्षता का संकेत देते हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक पटलियाँ भी हमें उपलब्ध हैं जो मुख्यतः बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तथा तेरहवीं एवं चौदहवीं शताब्दी में रची गयी हैं लेकिन उनमें परंपरागत विशेषताओं एवं औपचारिकता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति पायी जाती है, जिसके फलस्वरूप इनके अलंकरणों, लहरदार लताओं में अंकित पशु-पक्षी और कमल-पुष्पों के अंकन में कलात्मक आनंद का अभाव पाया जाता है, तथा इनमें जिनदत्त-सूरि के पटली-समूह-सा गंभीर आकर्षण अथवा देव-सूरि-कुमुदचंद्र-शास्त्रार्थ वाली पटली की-सी चमक और उज्ज्वलता नहीं पायी जाती।

ताड़पत्र-काल

ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के चित्रों के विषय में, जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, सबसे प्रारंभिक और ज्ञातव्य पाण्डुलिपि-चित्र (चित्र २६५ क) सन् १०६० का रचा हुआ है। इसके उपरांत हमें पिण्ड-निर्युक्ति का एक ताड़पत्र प्राप्त है जिसपर एक हाथी भली-भाँति अंकित है यद्यपि इसका रंग घिस चुका है (चित्र २७० ख)। इस ताड़पत्र के दोनों किनारों पर कमल-पदक का

अंकन है । यह पाण्डुलिपि किसी आनद नामक व्यापारी के पुत्र ने निर्मित कर मुनि चंद्र-सूरि के शिष्य यशोदेव-सूरि (१०६३-११२३) को भेंट की थी । आगमिक ग्रंथों की पाण्डुलिपियों की प्रतियाँ तैयार कराकर जैन आचार्यों में वितरित करने की प्रथा का सामान्य प्रचलन था । जैन आचार्य इस प्रकार शास्त्रदान में आयी हुई पाण्डुलिपियों को सामान्यतः अपने भण्डारों में सुरक्षित रखते थे । अति संपन्न महाजन (श्रेष्ठि) और व्यापारी गण जैन मंदिरों को इस प्रकार की पाण्डुलिपियाँ दान में देते थे तथा जन सामान्य में भी वितरित करते थे । ये दोनों प्रकार के दान समान रूप से दानादाता के लिए पुण्य का कार्य होता था । इस प्रकार का आस्तिक्य भाव अभिरोचक समाजवादी स्वरूप को आगे लाता जो जैन धर्म में विद्यमान था । शास्त्र के दानदाता चाहे इन शास्त्रों को धार्मिक प्रेरणा से विनम्र भाव से दान देते अथवा किसी पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप देते; लेकिन ये दोनों प्रकार के दान समान रूप से उनके लिए पुण्य का अर्जन करते थे । इस पाण्डुलिपि के लेखक का नाम सोमपाल लिखा गया है । यदि यह पाण्डुलिपि यशोदेव-सूरि के अंतिम वर्ष से संबंधित है तो यह सन् ११२३ के बाद की नहीं हो सकती । इसके पृष्ठ-भाग पर एक रूपाकार है जिसमें दो कमल-पुष्पों के बीच दो वृत्त अंकित हैं जिनमें से एक वृत्त कमलदलों से निर्मित है और दूसरा हंसों के घेरे से । बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में चित्रित पटलियों में हंसों का आलंकारिक अभिप्रायों के रूप में जो उपयोग पाया जाता है वही उपयोग इसी काल के लगभग रचे गये सभी ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के चित्रों में पाया गया है । यह पाण्डुलिपि इस समय क्षतिग्रस्त अवस्था में है । किसी समय यह मुनि जिनविजयजी के संग्रह में थी ।

खंभात स्थित शांतिनाथ-मंदिर के भण्डार में ज्ञान-सूत्र की एक पाण्डुलिपि है जिसमें मात्र दो चित्र हैं । यह पाण्डुलिपि सन् ११२७ की आरंभिक प्रति होने के कारण उल्लेखनीय है । इसके एक चित्र में खड़ी मुद्रा में सरस्वती[1] की आकर्षक आकृति अंकित है । इन चित्रों में आँखों के विस्तृत रूप से अंकित करने की प्रवृत्ति जिनदत्त-सूरि की समकालीन पटलियों के अंतर्गत भी नहीं पायी जाती । स्मरण रहे कि जिनदत्त-सूरि की पटलियों में नारी-आकृतियों का अंकन अजंता की प्रचलित कला-परपरा में हुआ है जो आगे चलकर समाप्त-प्राय हो गयी । सरस्वती का यह चित्र (चित्र २७० ग) उस लाक्षणिक जैन शैली का पूर्व रूप है जिसने आगे चलकर परवर्ती पाण्डुलिपि-चित्रों में प्रमुख स्थान प्राप्त किया ।

इस पाण्डुलिपि के बाद दश-वैकालिक-लघुवृति नामक पाण्डुलिपि का स्थान आता है । यह पाण्डुलिपि सन् ११४३ की रची हुई है तथा पूर्वोक्त भण्डार में ही है । इसमें मात्र एक ही चित्र है जिसमें दो जैन साधु एवं एक श्रावक का चित्र अंकित है । यह पाण्डुलिपि केवल प्राक्कालीन महत्त्व की है । इसी भण्डार में नेमिनाथ-चरित नामक एक पाण्डुलिपि है जो सन् १२४१ की लिपिबद्ध है । इसमें चार चित्र है जिनमें से एक आकर्षक चित्र पद्मासीन अंबिका[2] का है । इन चित्रों

1 पूर्वोक्त, चित्र 16 (रंगीन).

2 पूर्वोक्त, चित्र 46 (रंगीन).

से ज्ञात होता है कि इस समय तक जैन ताड़पत्रीय चित्रों की शैली कुछ अपनी अतिशय रीति-बद्धताओं के साथ पूर्णरूपेण विकास पा चुकी थी, जो अगली कई शताब्दियों तक प्रचलित रही।

इन प्रारंभिक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों में चित्रों की संख्या सामान्यतः अल्प ही है लेकिन इस तरह का कोई एक-समान नियम नहीं था। विशेषकर तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के पश्चात् की रची गयी पाण्डुलिपियों में ऐसा नहीं है। बड़ौदा के निकट छाणी स्थित जैन भण्डार की ओघ-निर्युक्ति की ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि में विद्यादेवियों[1] के चित्र एक बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। इन विद्यादेवियों के चित्रों की कलात्मकता उत्तम है परंतु देवियों के चित्रों के बार-बार दोहराकर अंकित किये जाने से इनमें समरसता आ गयी है, वैविध्य नहीं रह गया है। विद्यादेवियों के ये चित्र स्पष्टतः पूर्वोक्त अंबिका के चित्र की शैली में ही अंकित हैं। अंबिका का यह चित्र सन् १२४१ की निर्मिति है, इसका उल्लेख ऊपर किया गया है। विद्यादेवियों के ये चित्र तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से संबंधित हैं यद्यपि इन्हें कुछ लेखकों द्वारा भ्रमवश सन् ११६१ का माना गया है।

सावग-पाडिक्कमण-सुत्त-चुण्णि शीर्षक ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि बोस्टन स्थित म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स के संग्रह में है जो सन् १२६० में उदयपुर के निकट मेवाड़ में रची गयी। इसमें छह चित्र हैं जिसमें से कुछ बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। ये चित्र शैलीगत आधार पर उन पाण्डुलिपियों के चित्रों से भिन्न नहीं हैं जो गुजरात में रचे गये। इससे यह स्पष्ट है कि गुजराती अर्थात् पश्चिम भारतीय शैली दक्षिण राजस्थान में भी प्रचलित रही थी।

तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इन ताड़पत्रीय चित्रों में एक और अन्य विशेषता का विकास हुआ है। चित्रकारों ने ताड़पत्र के सीमित क्षेत्रफल के होते हुए भी ताड़पत्र के मूलपाठ की विषय-वस्तु के अनुरूप चित्रों को विवरणात्मक स्वरूप में अधिक से अधिक भावाभिव्यक्ति प्रदान करने की दिशा में चरण आगे बढ़ाया तथा चित्रांकन में उस सीमा तक स्वतंत्रता का उपयोग किया जिस सीमा तक उनके पूर्ववर्ती चित्रकार कभी नहीं गये थे। अबतक एक ही देवी-देवता के चित्र होते जो कभी अपने सेवकों के साथ अंकित किये जाते थे तो कभी अकेले ही, उनके स्थान पर अब कहीं-कहीं तीर्थंकरों के जीवन-चरितों के दृश्य चित्रांकित किये जाने लगे। इस प्रकार की दो उल्लेखनीय पाण्डुलिपियाँ हमारे सामने है जिनमें से पहली है--सुबाहुकथा तथा अन्य कथाओं की पाण्डुलिपि जो सन् १२८८[2] की रची हुई है तथा दूसरी पाटन स्थित संघवी-भण्डार के संग्रह में उपलब्ध है। इसमें नेमिनाथ के जीवन की घटनाओं का चित्रांकन हैं। ये चित्र संख्या में २३ हैं। इन चित्रों में चट्टानों, वृक्षों और अन्य पशुओं की आकृतियों के उपयोग से दृश्य-चित्रों की सर्जना की गयी है, जबकि विभिन्न भागों की घटनाएँ एक क्रमबद्ध विवरणात्मक विधि से अंकित की गयी हैं। इससे सभी विभिन्न घटनाएँ मिलकर

1 पूर्वोक्त, चित्र 39 से 42 (रंगीन).

2 पूर्वोक्त, चित्र 50 से 53.

एक बन गयी हैं। ये सभी घटनाएँ एक चित्र के फलक में ही अंकित हो गयी हैं। विभिन्न घटनाओं के चित्रण की यह विधि और दृश्य-चित्रों के अंकित करने का ढंग ग्यारहवीं शताब्दी-पूर्व के प्रारंभिक जैन पट्टों (कपड़े पर चित्रित) तथा जैन मंदिरों के भित्ति-चित्रों के चित्रकारों को अवश्य ज्ञात रहा होगा; लेकिन पटलियों से भिन्न इस प्रकार के नवोन्मेष को ताड़पत्र के सीमित फलक पर चित्रित करने का प्रयास संभवतः नहीं किया गया। नितांत मूर्तिपरक चित्रांकन से दूर हटने की यह प्रवृत्ति इस बात का संकेत देती है कि चित्रकारों ने लघुचित्रों की संभावनाओं को तथा ताड़पत्र के अत्यंत सीमित क्षेत्रफल का संयोजनात्मक दृष्टि से उपयोग भी भली-भाँति समझ लिया था।

दूसरी पाण्डुलिपि में, जो इसी वर्ग में आती है, रचना-तिथि का उल्लेख नहीं है, परंतु स्पष्टतः इसका काल भी वही निर्धारित किया जा सकता है जो पूर्वोक्त पाण्डुलिपि का। इसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ और नेमिनाथ की जीवन-संबंधी घटनाएँ अंकित हैं। यह पाण्डुलिपि जैसलमेर के जैन भण्डार में है (चित्र २७१ क, ख, ग, घ)। इसमें बीस चित्र[1] हैं। इन दोनों पाण्डुलिपियों के चित्र विशेष आकर्षक हैं तथा पूर्व उल्लिखित एक ही देवी के चित्र वाली प्रारंभिक पाण्डुलिपियों के चित्रों से कहीं अधिक प्रवाहमय हैं। चित्रकारों का दृष्टिकोण उन्हें अधिक से अधिक अलंकृत करने का रहा है। तीर्थंकर की जीवन संबंधी घटनाओं को अंकित करने के लिए अपनायी गयी कुछ मान्यताओं को भी इन चित्रों में विकसित होते हुए देखा जा सकता है। इन मान्यताओं को संभवतः इन्हीं के समान उन मान्यताओं से ग्रहण किया गया है जिन्होंने ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व जैन पट्टों एवं मंदिरों के भित्ति-चित्रों में विकास पाया था। यद्यपि गुजरात में पाण्डुलिपि के लेखन के लिए कागज का उपयोग बहुत पहले अर्थात् बारहवीं शताब्दी से होने लगा था[2] किन्तु पाण्डुलिपीय चित्रों को चित्रित करने के लिए कागज का उपयोग लगभग चौदहवी शताब्दी के मध्य तक नहीं हो सका; बल्कि इसका उपयोग सन् १४०० के लगभग किसी प्रकार ताड़पत्र के स्थान पर किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि ताड़पत्रों पर पाण्डुलिपि-चित्रों की रचना चौदहवीं शताब्दी, और यहाँ तक कि पंद्रहवीं शताब्दी तक प्रचलित रही। इस उत्तरवर्ती काल की रची पाण्डुलिपियों में कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा उल्लेखनीय हैं। इन दोनों पाण्डुलिपियों पर इनका रचनाकाल अंकित है। ये पाण्डुलिपियाँ अहमदाबाद स्थित उज्जम्फोइ धर्मशाला के भण्डार में है।[3] इनकी रचना सन् १३७० में हुई थी (चित्र २७२ क, ख)। इसमें मात्र छह चित्र हैं। चित्रों की इस अल्पता की दृष्टि से इसमें सचित्र पाण्डुलिपियों की उस प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया गया है जिनमें कुछ ही चित्र हुआ करते थे। ये चित्र यद्यपि गतिहीन और औपचारिक है परंतु सुदक्ष कलाकारिता के

---

1 नवाब (साराभाई) पूर्वोक्त, चित्र जे से एस तक (रंगीन).

2 अहमदाबाद के एल. डी. इंस्टीट्यूट में सन् 1294 की कागज पर लिखी गयी पाण्डुलिपि 'शांतिनाथ बोलि' का एक पृष्ठ सुरक्षित है। एक दूसरी बारहवीं शताब्दी की कागज पर चित्रित पाण्डुलिपि मुनि जिनविजयजी के पास थी.

3 मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, चित्र 54 से 58 तक.

(क) श्री और कामदेव, एक ताडपत्रीय पाण्डुलिपि में चित्रांकन, 1060 ई॰ (जैसलमेर भण्डार)

(ख) विद्यादेवी और भक्त महिलाएं, एक चित्रांकित पटली का आंशिक दृश्य, 1122-54 ई॰, गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

चित्र 265

(क)

(ख)

(क) और (ख) एक चित्रांकित पटली के दृश्य, ग्यारहवीं शताब्दी का अंतिम या बारहवीं का प्रारंभिक भाग (इससे भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

चित्र 266

(क)

(ख)

(क) और (ख) एक चित्रांकित पटली के दृश्य, बारहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग (इससे भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

चित्र 267

(क) एक चित्रांकित पटली का आंशिक दृश्य, बारहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग, (इससे भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

(ख) एक चित्रांकित पटली का आंशिक दृश्य, बारहवीं शताब्दी का प्रारंभिक भाग (इससे पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

चित्र 268

(क)

(ख)

(क) और (ख) एक चित्रांकित पटली पर पशुओं की रेखाकृतियां, बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध (इससे भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम-भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

चित्र 269

(क) पटली पर तीर्थंकर के अभिषेक का चित्रांकन, ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग से बारहवीं शताब्दी के आरंभिक भाग तक, (इसके भी पहले के काल के लिए लेख देखिए), गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (ला० द० संस्थान, अहमदाबाद)

(ख) एक ताडपत्रीय पाण्डुलिपि में गज का चित्रांकन, बारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण, (पहले मुनि जिनविजयजी के संग्रह में थी)

(ग) एक ताडपत्रीय पाण्डुलिपि में सरस्वती का चित्रांकन, 1127 ई०, गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (शांतिनाथ भण्डार खंभात)

चित्र 270

(क)

(ख)

(ग)

(घ)

(क) से (घ) तक, एक ताडपत्रीय पाण्डुलिपि में चित्रांकन; तेरहवीं शताब्दी, गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)

चित्र 271

(क) तीर्थंकर का अभिषेक

(ख) तीर्थंकर का जन्म

(ख) एक ताडपत्रीय पाण्डुलिपि में चित्रांकन, 1370 ई०, गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (उजम्फोई धर्मशाला, अहमदाबाद)

चित्र 272

उदाहरण हैं। इन चित्रों के निरीक्षण से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि चित्रकारों में इस बात की समझ बढ़ने लगी थी कि लघुचित्रों के उत्तम अंकन के लिए कुशल रेखांकन तथा तूलिका पर निपुणतापूर्ण अधिकार अपेक्षित है, तभी लघुचित्र पूर्णरूपेण प्रभावशाली बन सकते हैं। इसी काल की अथवा इससे कुछ समय उपरांत रची गयी सुप्रसिद्ध कल्प-सूत्र की ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि के चौंतीस लघुचित्रों में रंगों के प्रभाव को उभारने के लिए स्वर्ण का उपयोग हुआ है। कल्प-सूत्र को यह पाण्डु-लिपि ईडर स्थित आनंदजी-मंगलजी-नी पेढी-ना ज्ञान भण्डार में सुरक्षित है।[1] चित्रों में स्वर्ण के उपयोग की प्रेरणा संभवतः फारसी पाण्डुलिपियों के चित्रों से ली गयी है। गुजरात इस समय दिल्ली सलतनत के मुसलमान सूबेदारों के शासनाधीन था और इन मुसलमान शासकों द्वारा हिंदू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा था। जैन पाण्डुलिपियों के चित्रकारों को संभवतः सचित्र फारसी पाण्डुलिपियों को देखने के अवसर मिले होंगे। बड़ौदा संग्रहालय में भी ताड़-पत्रीय कुछ ऐसे चित्र हैं जिनमें स्वर्ण का उपयोग हुआ है। ईडर स्थित कल्प-सूत्र की पाण्डुलिपि के रचनाकाल के विषय में कुछ मतभेद हैं परंतु शैली के आधार पर इसका काल लगभग सन् १३७० अथवा इससे कुछ उपरांत का निर्धारित किया जा सकता है।

प्रतीत होता है कि तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में सचित्र ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों की रचना बहुत बड़ी संख्या में हुई अतः इस बड़ी संख्या को ध्यान में रखते हुए यदि विचार किया जाये तो किसी काल-विशेष के पाण्डुलिपि-चित्रों में कलात्मक गुणों की एकरूपता का पाया जाना सदैव संभव नहीं, क्योंकि इनके चित्रकार भिन्न-भिन्न होते हैं और वे अपने कला-कौशल में वैभिन्य रखते हैं। अतः इस तथ्य को हमें किसी काल की निर्मित श्रेष्ठ कृतियों से इतर कला-कृतियों के मूल्यांकन में सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

कागज-काल

यद्यपि गुजरात में जैन पाण्डुलिपियों के लेखन के लिए कागज का उपयोग बारहवीं शताब्दी में होने लगा था, परंतु प्राप्त प्रमाणों के अनुसार कागज का उपयोग पाण्डुलिपि-चित्रों के लिए चौदहवीं शताब्दी से पूर्व नहीं हुआ। इसका क्या कारण रहा होगा—यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः कागज के अभाव के कारण ऐसा रहा हो। कुछ भी हो, तथ्य यह है कि बारहवीं और तेरहवीं तथा चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक ताड़पत्रों पर पाण्डुलिपि-लेखन की परंपरा प्रचलित रही। यदि हम परंपरागत सुपरिचित विवरणों को मान्यता प्रदान करें तो यह परंपरा व्यापक स्तर पर प्रचलित रही। और इन परंपरागत विवरणों के अनुसार गुजरात के चौलुक्य शासकों, सिद्धराज जयसिंह (सन् १०९४-११४४) एवं कुमारपाल (सन् ११४४-७२) तथा तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के बघेल शासकों के वस्तुपाल और तेजपाल-जैसे प्रसिद्ध धनाढ्य मंत्रियों तथा परमार शासक जयसिंह के मंत्री पेथड-शाह के काल में बहुल संख्या में पाण्डुलिपियों की रचना हुई।

---

1 वही, रेखाचित्र 59 से 78.

उमाकांत प्रेमानंद शाह के मतानुसार कागज पर लिपिबद्ध की हुई सबसे प्रारंभिक जैन सचित्र पाण्डुलिपि कल्प-सूत्र-कालकाचार्य-कथा है जिसका रचनाकाल बिक्रम संवत् १४०३ (१३४६ ई०)[1] है। इस पाण्डुलिपि का फलक कम चौड़ा है जिसका माप मात्र २८×८.५ सेण्टीमीटर है और एक पृष्ठ पर मात्र छह पंक्तियाँ लिखी गयी हैं। पाण्डुलिपि के इस रचनाकाल को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसकी तिथि विक्रम संवत् १४०३ का उल्लेख इसके लेख में नहीं है वरन् एक पृष्ठ के हाशिए पर है जो बाद में लिखी गयी प्रतीत होती है। इस पाण्डुलिपि के कल्प-सूत्र-भाग के अंत में यह उल्लेख है कि यह पाण्डुलिपि विक्रम संवत् १५०५ (सन् १४४८) में महावीर-भण्डार में आयी। संभावना यह है कि सन् १४४८ में ही इस पाण्डुलिपि का निर्माण हुआ और जैसे ही यह तैयार हुई, वैसे ही, उसी वर्ष, इस भण्डार में आ गयी। शैलीगत आधार पर भी इस पाण्डुलिपि के लिए सन् १३४६ बहुत पूर्व का समय बैठता है। इस निष्कर्ष का समर्थन कल्प-सूत्र-कालकाचार्य-कथा की एक अन्य पाण्डुलिपि से होता है जो राष्ट्रीय संग्रहालय (प्रविष्टि-संख्या ५१.५३) में है। यह पाण्डुलिपि शैली और पृष्ठ के माप में पूर्वोक्त पाण्डुलिपि के समान है (रंगीन चित्र २६)। इन दोनों पाण्डुलिपियों के पृष्ठों का माप २८×८.५ सेण्टीमीटर है तथा प्रत्येक पृष्ठ पर छह पंक्तियाँ ही लिखी हुई हैं। दोनों पाण्डुलिपियों के चित्रों की शैली एक समान है और यहाँ तक कि इन चित्रों के आकार भी एक जैसे ही हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय की पाण्डुलिपि की प्रशस्ति में तिथि का उल्लेख (चित्र २७३) है जो विक्रम संवत् १५०६ (सन् १४५२) है। क्योंकि तिथि का उल्लेख प्रशस्ति के मध्य है, इसलिए इसके विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उमाकांत प्रेमानंद शाह द्वारा प्रकाशित सन् १३४६ की तिथि वाली पाण्डुलिपि वस्तुत: पंद्रहवी शताब्दी के मध्य की है जिसे महावीर-भण्डार में सन् १४४८ में जमा किया गया है। इसके निर्माण के लिए सुझाया गया सन् १४४८ ही अधिक उपयुक्त बैठता है। उपर्युक्त दोनों पाण्डुलिपियाँ समय की दृष्टि से भी स्पष्टत: एक-दूसरे के अत्यंत निकट हैं। संयोगवश राष्ट्रीय संग्रहालय की पाण्डुलिपि का पृष्ठ ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि की अपेक्षा कम माप का है तथा उसपर छह पंक्तियाँ ही लिखी हुई हैं, फिर भी ये विशेषताएँ किसी प्रकार इस पक्ष में निर्णायक तथ्य प्रस्तुत नहीं करतीं कि पाण्डुलिपियाँ यथेष्ट पूर्व काल की, अर्थात् चौदहवीं शताब्दी के मध्य या उसके उत्तरार्ध काल की हैं।

कालकाचार्य-कथा की एक अन्य उल्लेखनीय पाण्डुलिपि बंबई के प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम में है जिसपर सन् १३६६ का उल्लेख है। यह पाण्डुलिपि योगिनीपुरा, दिल्ली[2] में निर्मित हुई है। इसमें मात्र तीन चित्र हैं जिनमें एक देवता को बैठे हुए सम्मुख-मुद्रा में अंकित किया गया है। चित्रों की

---

1 मोतीचंद्र एवं उमकांत प्रेमानंद शाह. 'न्यू डोक्यूमेण्ट्स ऑफ जैन पेंटिंग्स', **श्री महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबली वॉल्यूम**. 1968. बंबई, पृ 375. रंगीन चित्र 1. तथा रेखाचित्र 1-3. मोतीचंद्र इससे सहमत नहीं हैं, वे इसे 15वीं शताब्दी की मानते हैं जो उचित भी है.

2 गोरक्षकर (एस वी). 'ए डेटेड मैन्युस्क्रिप्ट ऑफ दि कालकाचार्य-कथा इन दि प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम', **बुलेटिन ऑफ द प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम** 9. पृ 56-57. रेखाचित्र 69-71.

शैली विशेष रूप से उस शैली से मिलती-जुलती है जो गुजरात में प्रचलित थी। इससे यह भी संकेत मिलता है कि गुजरात में जो शैलियाँ प्रचलित थीं वही शैलियाँ चौदहवीं शताब्दी के मध्य उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्र में भी प्रचलन में थीं। संप्रदायगत मुद्राएँ तथा चित्रों की सीमित संख्या यह बतलाती है कि इन पाण्डुलिपियों की विशेषताएँ इस समय भी उनसे बहुत निकट रूप से शृंखलाबद्ध थीं जो ताड़पत्रीय पण्डुलिपियों की शैलियों में देखी गयी हैं।

कागज पर लिपिबद्ध एक अन्य पाण्डुलिपि मुनि जिनविजयजी के पास है, जिसके लेख में यह उल्लेख है कि यह पाण्डुलिपि विक्रम संवत् १४२४ (सन् १३६७) में लिखी गयी तथा किसी देहेद नामक व्यक्ति द्वारा विक्रम संवत् १४२७ (सन् १३७०) में संघतिलक-सूरि को भेंट की गयी (चित्र २७५ क)। इसके पृष्ठ की चौड़ाई ७.५ सेण्टीमीटर है तथा प्रत्येक पृष्ठ पर सात पंक्तियाँ लिखी गयी हैं। चित्रों की कुल संख्या आठ है और ये चित्र ७.५×५ सेण्टीमीटर माप के हैं। मुनि जिन विजयजी का मत है कि यह कागज पर सचित्र जैन पाण्डुलिपियों में ज्ञातव्य सबसे प्रारंभिक पाण्डुलिपि है। मैंने इस पाण्डुलिपि को बहुत वर्ष पहले देखा था लेकिन यह पाण्डुलिपि अब उपलब्ध नहीं हो सका है जिससे इसका अधिक अध्ययन किया जा सके। अतः इसके विषय में यहाँ दी गयी जानकारी से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि इस पाण्डुलिपि की दी गयी तिथि सही हो। इस पाण्डुलिपि के चित्रों का कलात्मक स्तर अधिक उन्नत नहीं है जिसका कारण यह हो सकता है कि इसके चित्रकार की क्षमताएँ सामान्य स्तर की रही हों। ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियों के चित्रों में गुणों के स्तर पर पर्याप्त अंतर रहा है। इस पाण्डुलिपि में आठ चित्र हैं जबकि उत्तरवर्ती कागज पर लिपिबद्ध पाण्डुलिपियों में चित्रों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसका उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता।

अहमदाबाद के एल० डी० इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी के संग्रह में शांतिनाथ-चरित[1] की पाण्डुलिपि है जिसपर विक्रम संवत् १४५३ (सन् १३९६) तिथि लिखी हुई है। लेकिन इस पाण्डुलिपि की जो प्रशस्ति है वह उत्तरवर्ती काल की जोड़ी हुई प्रतीत होती है। शैली के आधार पर भी इस पाण्डुलिपि के लिए पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व का समय निर्धारित किया जाना संभव नहीं है।

कागज पर लिपिबद्ध प्रारंभिक जैन पाण्डुलिपियों में सर्वोत्तम और सबसे प्रथम पाण्डुलिपि कल्पसूत्र-कालकाचार्य-कथा की है जो प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम में है[2] और जिसके लिए हम चौदहवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों का समय सुझा सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कालकाचार्य-कथा के चित्रों में कालक को सहारा देने वाले साहियों के चेहरे मंगोल जाति के लोगों जैसे हैं। इन

1 मोतीचंद्र एवं शाह, पूर्वोक्त, पृ 378 तथा परवर्ती, रेखाचित्र 6.

2 मोतीचंद्र. 'एन इलस्ट्रेटेड मैन्युस्क्रिप्ट ऑफ दि कल्पसूत्र एण्ड कालकाचार्य-कथा', बुलेटिन ऑफ द प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम, 4, 1953-54, पृ 40 तथा परवर्ती, चित्र 7-14.

चेहरों की प्रेरणा चौदहवीं शताब्दी के फारसी चित्रों से ग्रहण की गयी है। इसका कारण यह है कि शाही लोग विदेशी थे अतः इन विदेशी लोगों के चित्रांकन के लिए फारसी चित्रों में पाये जाने वाले मंगोल जाति के लोगों की मुखाकृति को अत्यंत उपयुक्त माना गया। इसी काल की एक अन्य कल्प-सूत्र-कालकाचार्य-कथा की पाण्डुलिपि का उल्लेख किया जा सकता है जो जैसलमेर-भण्डार में है[1] और जिसके लिए नवाब साराभाई ने पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ का समय सुझाया है। इसके चित्र छोटे आकार, लगभग ८×८ सेण्टीमीटर के हैं। चित्रों की लाल रंग की पृष्ठभूमि पर सोने और चाँदी के रंगों का उपयोग किया गया है। चित्रों का कलात्मक स्तर अच्छा है। चित्रों का आकार उत्तरवर्ती कागज पर रचित चित्रों की अपेक्षा, जो आकार में बड़े होने लगे थे, ताड़पत्रीय चित्रों के आकार के बहुत निकट हैं। चित्रों की संख्या तैंतीस है। यह संख्या पाण्डुलिपियों में चित्रों की बढ़ती हुई संख्या की प्रवृत्ति का सूचक है। यह पाण्डुलिपि प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम की पाण्डुलिपि से रचना-तिथि में कुछ पूर्व की प्रतीत होती है और इसके लिए भी चौदहवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्ष का समय निर्धारित किया जा सकता है (चित्र २७५ ख)।

कागज पर सचित्र जैन पाण्डुलिपियों की संख्या इतनी विपुल है कि इस लेख में उनमें से मात्र कुछ उन्हीं पाण्डुलिपियों की चर्चा की जा सकती है जो जैन चित्रावली में पाण्डुलिपि-चित्र-शैली के विकास से प्रत्यक्षतः संबद्ध रही हैं। इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ काल की रची हुई कल्प-सूत्र-कालकाचार्य-कथा की पाण्डुलिपि है जिसकी रचना-तिथि सन् १४१५ है। इसका कल्प-सूत्र भाग कलकत्ता के श्री बिड़ला के संग्रह में है, और कालक-भाग बंबई के श्री प्रेमचंद जैन के निजी संकलन में (रंगीन चित्र २५ क, ख, ग और घ)।[2] कला उच्च श्रेणी की है और अनेक चित्र तो निस्संदेह ही अत्यंत आकर्षक हैं। यह पाण्डुलिपि किस क्षेत्र में चित्रित हुई है यह ज्ञात नहीं है, परंतु संभवतः यह पाटन में चित्रित हुई होगी। राष्ट्रीय संग्रहालय में सन् १४१७ की रची कल्प-सूत्र की एक अन्य पाण्डुलिपि उपलब्ध है। यह समय और कलात्मकता की दृष्टि से इसके अत्यंत समीप है (रंगीन चित्र २७ और चित्र २७४)। इन पाण्डुलिपियों के प्रारंभकालीन होते हुए भी इनके चित्रों में कई परंपरागत विशेषताएँ स्पष्टतः विकसित हो गयी हैं, जैसे नुकीली नाक, छोटी नुकीली दोहरी ठोढ़ी, मुद्राएँ तथा काष्ठ पुतलिका जैसी रूप-प्रतीति आदि। लंदन स्थित इण्डिया ऑफिस की कल्प-सूत्र पाण्डुलिपि, जो सन् १४२७ की रची हुई है[3] अत्यंत अलंकृत है और इसपर मूलपाठ सोने और चाँदी की स्याहियों से लिखा हुआ है। अत्यंत संपन्न रूप से अलंकृत पाण्डुलिपियों में से यद्यपि अधिकांशतः पाण्डुलिपियों के पृष्ठ रंगीन हैं जिनपर सोने और चाँदी की स्याहियों से लिखा गया है और इस प्रकार की पाण्डुलिपियाँ उत्तरवर्ती काल की हैं तथापि इण्डिया ऑफिस की यह पाण्डुलिपि

---

1 नवाब (साराभाई), पूर्वोक्त, रेखाचित्र 20 से 50, 60, 65, 70, 75, 78, 83 और 86 (रंगीन).

2 खण्डालावाला (कार्ल) एवं मोतीचंद्र. न्यू डोक्यूमेण्ट्स ऑफ़ इण्डियन पेंटिग—ए रिएप्राइज़ल. 1969. बंबई. पृष्ठ 15 एवं रेखाचित्र 5-8.

3 कुमारस्वामी (आनंद). नोट्स ऑन जैन आर्ट. जर्नल ऑफ़ इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री, 16 नं, 122-128. 1913. चित्र 1, रेखाचित्र 5.

साक्ष्य प्रस्तुत करती है कि 'समृद्धि शैली'[1] का प्रारंभ चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हो गया था। यद्यपि इनके विषय में कुछ विशेष रूप से कहना उपयुक्त नहीं है तथापि सामान्यत: यह कहा जा सकता है कि कागज पर चित्रित ये पाण्डुलिपियाँ अच्छे स्तर की हैं। इन पाण्डुलिपियों के निर्माण-केंद्र मुख्य रूप से गुजरात के अनेक नगर रहे हैं, जैसे पाटन, अहमदाबाद, भड़ौंच आदि। साथ ही राजस्थान के कई नगर भी इनके केंद्र रहे हैं परंतु इन चित्रों की शैली इन्हीं क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रही। माण्डू में सन् १४३५-१४४० के मध्य दो उत्तम सचित्र पाण्डुलिपियों की रचना हुई, जिनके चित्रों में स्थानीय प्रभावों को अच्छा स्थान मिला है। ये पाण्डुलिपियाँ यद्यपि गुजरात की चित्रित श्रेष्ठ पाण्डुलिपियों से अधिक सुंदर नहीं हैं तो भी ये उनके समान स्तर की तो निश्चित रूप से हैं ही। माण्डू में चित्रित कल्प-सूत्र की पाण्डुलिपि, जिसकी तिथि सन् १४३९ है, इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है[2] और कालकाचार्य-कथा की पाण्डुलिपि[3] स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी के संग्रह में थी जिसके लिए भी लगभग यही समय निर्धारित किया जा सकता है। जहाँ कहीं भी संपन्न जैन समुदाय रहा है वहीं पर सचित्र जैन पाण्डुलिपियों की माँग बढ़ती हुई पायी गयी है। माण्डू की पाण्डुलिपियाँ यद्यपि परंपराबद्ध हैं और संप्रदायगत आवश्यकताओं की पूरक हैं तथापि इनमें नवीन प्रवृत्तियाँ स्पष्टत: परिलक्षित हैं। इनके चित्रकारों ने यद्यपि शांतिप्रद रंग-योजना का उपयोग किया है तथापि उन्हें चमकदार रंगों के उपयोग करने की निपुणता प्राप्त रही है। सन् १४३९ के कल्प-सूत्र में नारी-चित्रों के वस्त्राभूषण गुजरात के पाण्डुलिपि-चित्रों की भाँति एक जैसे ही हैं लेकिन इन चित्रों ने समकालीन वस्त्राभूषणों के उपयोग किये जाने की संभावनाओं को भी अवसर प्रदान किया है, उदाहरणत: माण्डू की पाण्डुलिपियों में महिलाओं को वहाँ के समसामयिक वस्त्राभूषण पहने दर्शाया गया है। कालकाचार्य-कथा पाण्डुलिपि के चित्र कल्प-सूत्र के चित्रों से कहीं अधिक प्रभावशाली हैं और ये चित्र श्वेतांबर जैन चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरणों में से हैं।

एक अन्य क्षेत्रीय विशेषता का विकास सन् १४६५ की चित्रित कल्प-सूत्र पाण्डुलिपि में पाया जाता है। यह पाण्डुलिपि हुसैन शाह शर्की[4] के शासनकाल के अंतर्गत जौनपुर में चित्रित हुई। यह निश्चित है कि जौनपुर में जैन संप्रदाय के धनाढ्य लोग रहते थे, तथा यह पाण्डुलिपि वहाँ के स्थानीय चित्रकारों द्वारा चित्रित है। इस पाण्डुलिपि के चित्रों में अंकित कुछ नारी-आकृतियों को समकालीन वेषभूषा में दर्शाया गया है। इन नारी-आकृतियों को उस प्रकार से ओढ़नी ओढ़े हुए

---

1 खण्डालावाला (कार्ल). 'लीव्स फ्रॉम राजस्थान', मार्ग, 4, सं. 3. पृ 10.

2 खण्डालावाला (कार्ल) एवं मोतीचंद्र. 'ए कंसीडरेशन ऑफ् एन इलेस्ट्रेटेड मैन्युस्क्रिप्ट फ्रॉम मण्डपदुर्ग (माण्डू), डेटेड 1439 ए डी', ललित कला 6. पृ 8 तथा परवर्ती; रंगीन चित्र और चित्र 5-7.

3 खण्डालावाला एवं मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1969, पृ 21.

4 खण्डालावाला (कार्ल) एवं मोतीचंद्र. 'एन इलस्ट्रेटेड कल्पसूत्र पेण्टेड एट जौनपुर इन ए. डी. 1465'. ललित कला 12. पृ 9-15; रंगीन चित्र एवं चित्र 1-5.

चित्रित किया गया है जिस प्रकार यहाँ पर वह ओढ़ी जाती है। यहाँ पर ओढ़नी वक्षस्थल के ऊपर एक चौड़े बँधाव के रूप में पहनी जाती है। यह विशेषता माण्डू के कल्प-सूत्र में भी देखी जाती है तथा जौनपुर की पाण्डुलिपि के अनेक पृष्ठों में भी है। संगीतकारों को धोती और पगड़ी पहने हुए दर्शाया गया है। इस संप्रदायगत कला की प्रचलित परंपराओं में परिवर्तन की हवा धीरे-धीरे बहने लगी जो प्रचालित रूप को क्षीण करती गयी। स्वयं गुजरात के अंदर भड़ौंच के निकट स्थित गांधर बंदर में एक अत्यंत अलंकृत पाण्डुलिपि रची गयी, जिसे अहमदाबाद के देवसा-नो पाडो भण्डार की कल्प-सूत्र-कालकाचार्य-कथा पाण्डुलिपि के नाम से जाना जाता है[1]। इस पाण्डुलिपि का एक पृष्ठ नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है (रंगीन चित्र २८ क, ख)। इसके अनेक चित्र-फलक ऐसे हैं जिनके पूरे पृष्ठ पर आलंकारिक किनारी अंकित है। आलंकारिक किनारी के ये अंकन प्रत्यक्षतः फारसी तैमूर-चित्र-शैली के प्रभाव का परिणाम हैं। क्योंकि सुलतानी दरबारों के अनुयायी गुजरात में भी थे इसलिए इन चित्रों में प्रदर्शित वस्त्राभूषण एवं पगड़ी आदि में सुलतानी दरबारों के शैलीपरक वस्त्राभूषणों की छाप परिलक्षित होती है। इस पाण्डुलिपि का रचनाकाल लगभग सन् १४७५ निर्धारित किया जा सकता है। इसमें संदेह नहीं कि यह पाण्डुलिपि उस समूह की अत्यंत मूल्यवान एवं विशिष्ट पाण्डुलिपि है जिन्हें 'समृद्धि-काल' की निर्मित जैन पाण्डुलिपियाँ कहा जा सकता है और जिनका काल सन् १४२७ से १५५० के मध्य रहा है। फारसी चित्रकला तथा संभवतः उसके कालीनों, वस्त्रों एवं बर्तनों आदि अनेक प्रकार की अभिकल्पनाओं के प्रभावाधीन इन चित्रों की आलंकारिक संरचना में अनेकानेक पत्र-पुष्पादि तथा विविध प्रतीकों ने स्थान पाया है। ये चित्रकारों द्वारा एक नये दृष्टिकोण के अपनाये जाने का संकेत देते हैं। इन चित्रों में दृश्य-चित्र एवं समुद्र के दृश्य-चित्र भी चित्रित किये गये हैं। चित्रण की ये प्रवृत्तियाँ सन् १४५१ के रचे गये वसंत-विलास के पट[2] से आरंभ होती हुई परिलक्षित हैं। यह पट इस समय वाशिंगटन की फियर गैलरी में है। इसकी विषय-वस्तु संप्रदागत न होकर प्राचीन गुजराती का एक 'फागु' है जिसका संबंध वसंतागम ऋतु में प्रेम-व्यापार से है। यही स्थिति बालगोपाल-स्तुति शीर्षक पाण्डुलिपि[3] की है। यह पाण्डुलिपि श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं से संबंधित है। इस पाण्डुलिपि से यह संकेत मिलता है कि इस प्रकार की समस्त पाण्डुलिपि के चित्रकार यद्यपि जैन चित्र-शैली से परे नहीं हटे हैं परंतु उन्होंने संप्रदायगत शृंखला में भी स्वयं को आबद्ध करना नहीं स्वीकारा है। राष्ट्रीय संग्रहालय में जो एक पृष्ठ (रंगीन चित्र २८ ग) सुरक्षित है वह देवसा-नो पाडो भण्डार की पाण्डुलिपि का प्रतीत होता है, इस तथ्य का उल्लेख ऊपर कर दिया है। देवसा-नो पाडो भण्डार की पाण्डुलिपि जैसी ही एक अन्य पाण्डुलिपि है जिसे पाटन

---

1 खण्डालावाला एवं मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1969, पृ 29-43. यहाँ पर इस पाण्डुलिपि की सविस्तार चर्चा की गयी है.

2 नॉर्मन ब्राउन (डब्ल्यू). वसंत-विलास, 1962. कोनेक्टीकट.

3 नॉर्मन ब्राउन (डब्ल्यू.). 'अर्ली वैष्णव मिनिएचर पेंटिंग्स फ्रॉम वेस्टर्न इण्डिया', ईस्टर्न आर्ट, 2. 1930. पृ 167-206.

में सन् १५०१ में चित्रित किया गया था[1]। हमने इस पाण्डुलिपि के फोटोग्राफों (छाया-चित्रों) एवं रंगीन स्लाइडों को देखा है और इसका निरीक्षण करने पर यह निष्कर्ष पाया है कि देवासा-नो पाडो भण्डार की पाण्डुलिपि इससे कुछ समय पूर्व की प्रतीत होती है। यह पाण्डुलिपि इस समय कहाँ पर है—यह रहस्य बना हुआ है। लगभग सन् १४७५ की चित्रित देवसा-नो पाडो भण्डार की पाण्डुलिपि से सर्वप्रथम जो फारसी प्रभावाधीन किनारी-अलंकरण की प्रवृत्ति भड़ौंच के समुद्र तटवर्ती क्षेत्र से प्रारंभ हुई थी उसे आगे चलकर पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में पाटन ने भी ग्रहण कर लिया। कुछ लेखक देवसा-नो पाडो भण्डार की पाण्डुलिपि का समय सोलहवीं शताब्दी का प्रारंभिक काल मानते हैं और सन् १५०१ की पाटन में चित्रित पाण्डुलिपि के संदर्भ द्वारा अपने मत को समर्थित करते हैं।

'समृद्धि-काल' की अन्य उल्लेखनीय पाण्डुलिपियों में कल्प-सूत्र की एक अन्य पाण्डुलिपि भी है जो बड़ौदा के नरसिंहजी-नी पोल स्थित आत्मानंद जैन ज्ञान मंदिर के हंसविजयजी के संग्रह में है।[2] यह पाण्डुलिपि पत्र-पुष्प और पशु-पक्षियों की अभिकल्पनाओं द्वारा अति समृद्ध रूप से अलंकृत है।

कल्प-सूत्र की एक अन्य असाधारण रूप से उत्तम पाण्डुलिपि विजयानंद सूरीश्वरजी-ना संघाडा के उपाध्याय सोहनविजयजी के संग्रह में है।[3] यह पाण्डुलिपि सन् १४६६ की है। इस पाण्डुलिपि के चित्र इस काल के चित्रित सामान्य चित्रों से अलग प्रकार की शैली में हैं। बड़ौदा के आत्मानंद ज्ञान मंदिर में कुछ समय उपरांत कल्प-सूत्र की एक प्रति और सम्मिलित हुई जो माण्डू में चित्रित हुई थी और मुनि कांतिविजयजी के संग्रह से यहाँ आयी थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि यह पाण्डुलिपि माण्डू में चित्रित हुई है और पर्याप्त आकर्षक भी है, तथापि यह उस शैली की नहीं है जिसमें सन् १४३९ की माण्डू में रची हुई कल्प-सूत्र तथा इसी शैली की इसी सन् की रची पुण्यविजयजी के संग्रह की कालकाचार्य-कथा[4] की पाण्डुलिपियाँ हैं। मुनि पुण्यविजयजी के संग्रह की माण्डू से प्राप्त पाण्डुलिपि की शैली गुजरात में प्रचलित सामान्य जैन शैली से प्रत्यावर्तित है। इससे ज्ञात होता है कि पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य माण्डू में चित्रकारों के विभिन्न समूह क्रियाशील थे जिनमें से कुछ सामान्य गुजराती शैली में कार्य कर रहे थे तथा कुछ चित्रकारों ने कुछ अधिक प्रगतिशील होने के कारण किन्हीं ऐसी विशेषताओं को विकसित किया जिन्हें माण्डू की निजी शैली कहा जा सकता है। इन विशेषताओं को सन् १४३९ के रचे कल्प-सूत्र में देखा जा सकता है।

---

1 मोतीचंद्र एवं शाह, पूर्वोक्त, 1968, पृ 364, रेखाचित्र 12-13.

2 मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1949, रेखाचित्र 139-147.

3 वही, रेखाचित्र 148-154.

4 प्रमोदचंद्र. 'ए यूनीक कालकाचार्य-कथा मैन्युस्क्रिप्ट इन द स्टाइल ऑफ़ द माण्डू कल्प-सूत्र ऑफ़ ए. डी. 1439'- बुलेटिन ऑफ़ दि अमेरिकन एकादमी ऑफ़ बनारस. 1. पृ 1-10, रेखाचित्र 1-20.

यहाँ कुछ महत्त्व का एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि प्रचलित शैली पर उस समय विचार किया जाना चाहिए जब किसी सचित्र जैन पाण्डुलिपि-चित्रों की शैली की अनुरूपता स्थापित कर पाना संभव न हो। यह तथ्य नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित एक चित्र से प्रमाणित है। वह चित्र है कल्प-सूत्र-कालकाचार्य-कथा (प्रविष्टि सं० ५१.२१) का। इसपर विक्रम संवत् १३२१ (सन् १२६४) की तिथि का उल्लेख है। लेकिन यह स्पष्टतः संभव नहीं है क्योंकि कोई भी चित्र पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों के काल का रचित नहीं है वरन् यहाँ तक कि ऐसी कोई भी कागज पर चित्रित पाण्डुलिपि अस्तित्व में नहीं है जो तेरहवीं शताब्दी की रची हुई हो। अतः यह स्पष्ट है कि यह पाण्डुलिपि, जिसमें प्रशस्ति भी है, सन् १२६४ की ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि है और यह प्रतिलिपि पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में की गयी, तथा इसे समसामयिक शैली के चित्रों से अलंकृत कर दिया गया।

कार्ल खण्डालावाला

दिगंबर पाण्डुलिपियाँ

दिगंबर जैनों में सचित्र पाण्डुलिपियों की परंपरा बारहवीं शताब्दी से आरंभ होती हुई देखी जा सकती है। इस परंपरा ने अगली शताब्दियों में दक्षिण, पश्चिम और उत्तर भारत के भागों में व्यापक रूप से प्रचलन पा लिया। लेकिन इस संप्रदाय की पाण्डुलिपियों की संख्या श्वेतांबर जैन पाण्डुलिपियों की विपुल संख्या की अपेक्षा अत्यंत सीमित रही।

ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि-काल

षट्-खण्डागम, महा-बंध और कषाय-पाहुड—ये तीन पाण्डुलिपियाँ दिगंबर जैनों की प्राचीनतम सचित्र पाण्डुलिपियाँ प्रतीत होती हैं (३० वें अध्याय में रंगीन चित्र १२-२१)। ये पाण्डुलिपियाँ[1] कर्नाटक स्थित मूडबिद्री के जैन सिद्धांत-बसदि के संग्रह में सुरक्षित हैं। ये कर्म-सिद्धांत से संबंधित एवं मूल प्राकृत भाषा के ग्रंथ हैं जो कन्नड़ी लिपि में लिखित हैं। इन पाण्डुलिपियों में चित्रों की संख्या अत्यंत सीमित है। षट्-खण्डागम में दो, महा-बंध में सात तथा कषाय-पाहुड़ में मात्र चौदह चित्र हैं। इन सभी पाण्डुलिपियों के चित्रों में ज्यामितीय अंकन अथवा पत्र-पुष्पों की पट्टिकाएँ युक्त आलंकारिक पदक तथा देवी-देवताओं, साधुओं, पाण्डुलिपियों के दानदाताओं अथवा उपासकों के चित्र अंकित हैं।

---

1 ये पाण्डुलिपियाँ धवला, जय-धवला और महा-धवला के नाम से भी जानी जाती हैं। दोशी (सरयू), 'ट्वेल्व्थ सेंचुरी इलस्ट्रेटेड मैन्युस्क्रिप्ट्स फ्रॉम मूडबिद्री', बुलेटिन ऑफ़ दि प्रिंस ऑफ़ वेल्स, म्यूजियम, बाम्बे, 8; 1962-64, पृ 29-36. /शिवराम मूर्ति (सी). साउथ इण्डियन पेण्टिंग. 1968. नई दिल्ली. पृ 90-96. [द्वितीय भाग में अध्याय 30 भी देखें—संपादक.]
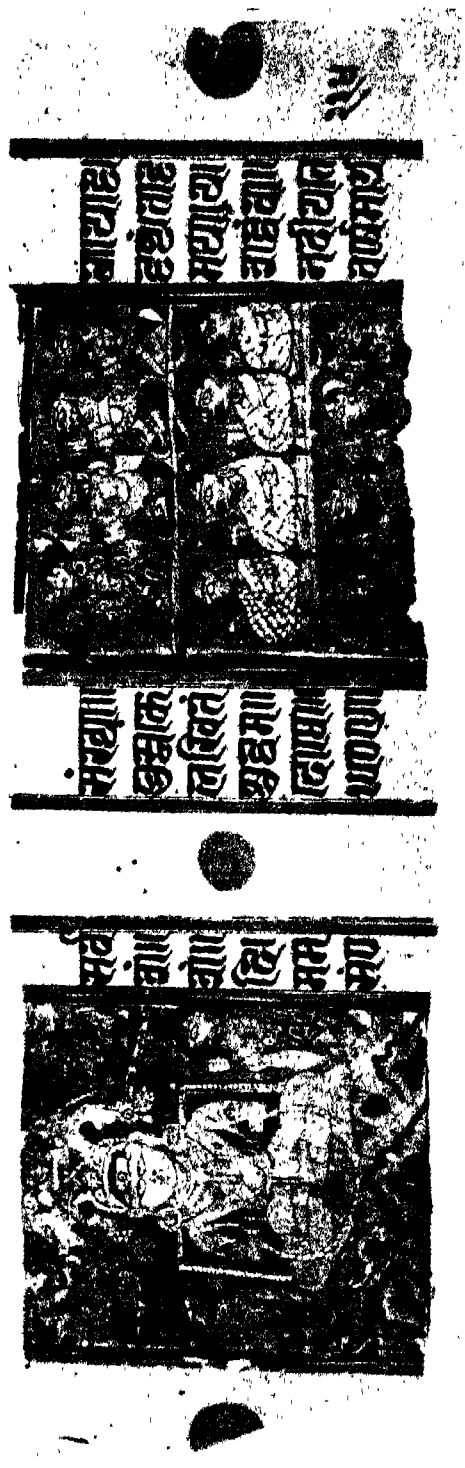
एक पाण्डुलिपि की प्रशस्ति, विक्रम सवत् 1509 (1452 ई०), इसी मे रंगीन चित्र 26 भी है (रा सं)
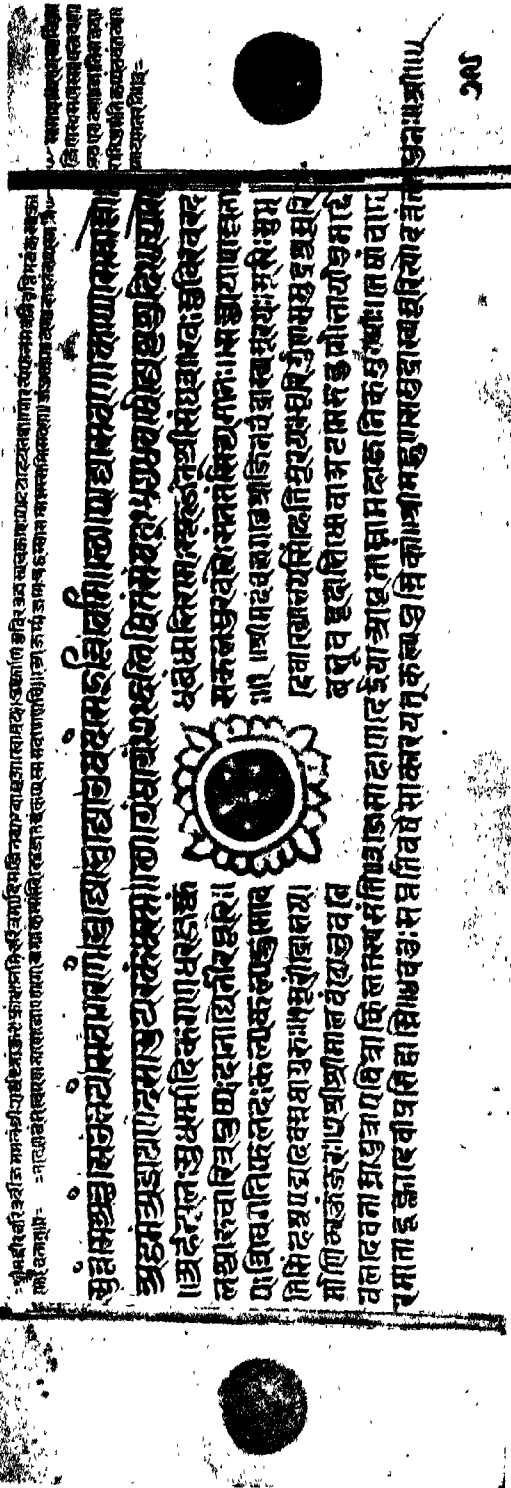
चित्र 273

एक पाण्डुलिपि की प्रशस्ति, विक्रम संवत् 1474 (1417 ई०), इसी में रंगीन चित्र 27 भी है (रा सं)

चित्र 274

(क) एक पाण्डुलिपि में तीर्थंकर के जन्म का चित्रांकन, 1367 ई०, गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (पहले मुनि जिनविजयजी के संग्रह में थी)

(ख) एक पाण्डुलिपि मे तीर्थंकर के पंच-मुष्टि-लोच का चित्रांकन, लगभग चौदहवी शताब्दी का अंतिम भाग, गुजराती या पश्चिम भारतीय शैली (जैसलमेर भण्डार)
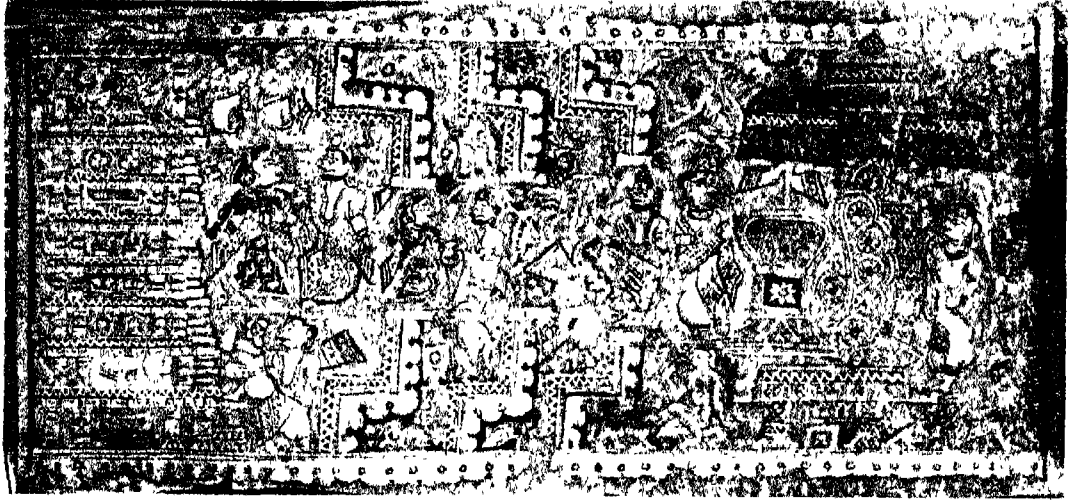
चित्र 275

(क) यशोधरचरित का पाण्डुलिपि में राजा यशोधर के अपनी पत्नी द्वारा स्वागत का चित्रांकन, 1494 ई०, गुजरात, कदाचित् सोजित्रा (निजी संग्रह)

(ख) यशोधरचरित की पाण्डुलिपि में पन्ने के किनारों का चित्रांकन (पूर्वोक्त)
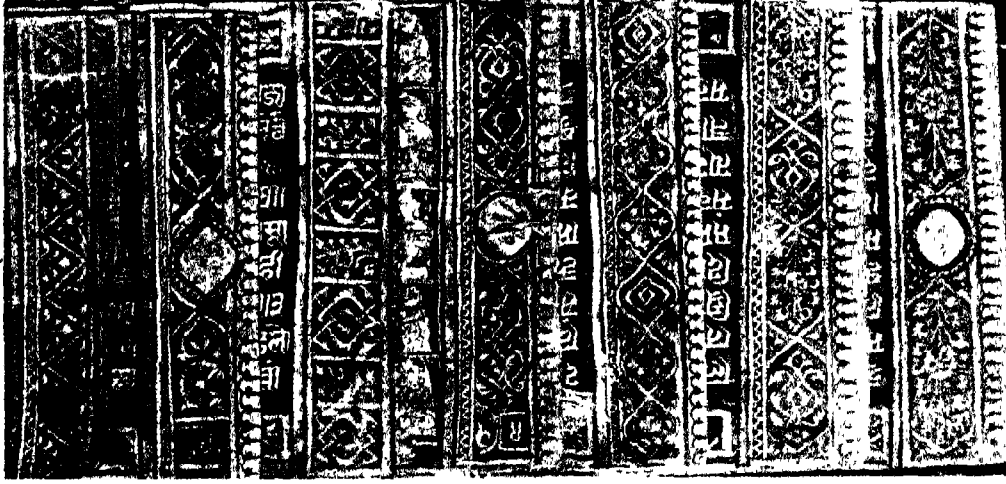
चित्र 276

क

ख

यशोधरचरित की पाण्डुलिपि में पन्ने के किनारों का चित्रांकन (चित्र 276 क द्रष्टव्य) (निजी संग्रह)

चित्र 277

(क) मरुदेवी के सोलह स्वप्न (आंशिक चित्र), आदि-पुराण की पाण्डुलिपि में, 1404 ई०, योगिनीपुर (दिल्ली), उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

(ख) भविसयत्त के लौटने की प्रतीक्षा में कमल-श्री, भविसयत्त-कहा की पाण्डुलिपि में, लगभग 1430 ई०, (इसके इससे पहले के काल के लिए लेख देखिए) कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

चित्र 278

(क) संगीतकार और नर्तक, महापुराण की पाण्डुलिपि से, लगभग 1420 ई०, (इसके इससे बाद के काल के लिए लेख देखिए), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (दिगंबर जैन नया मंदिर, दिल्ली का संग्रह)
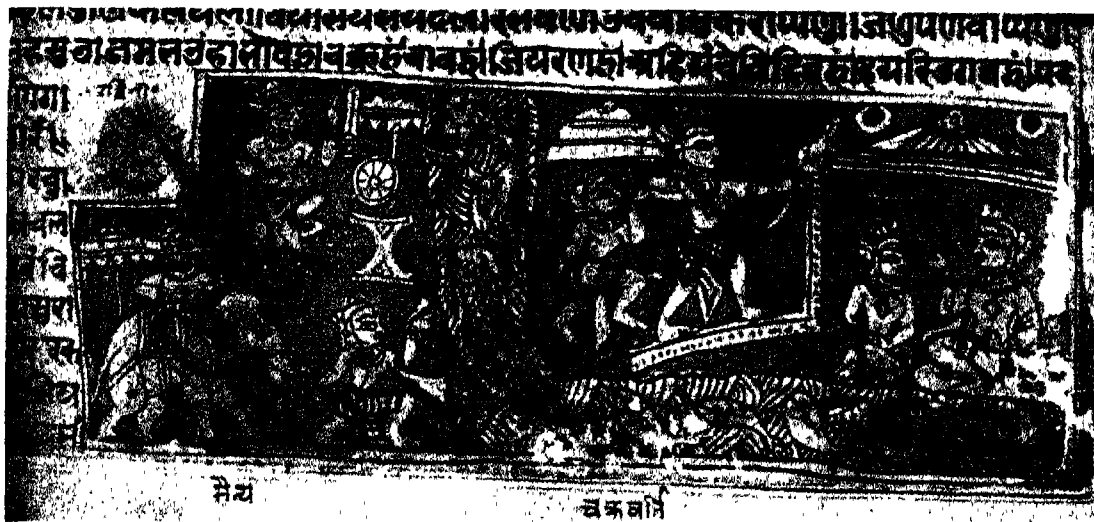
(ख) भरत की सेना का प्रयाण, महापुराण की पाण्डुलिपि (पूर्वोक्त)

चित्र 279
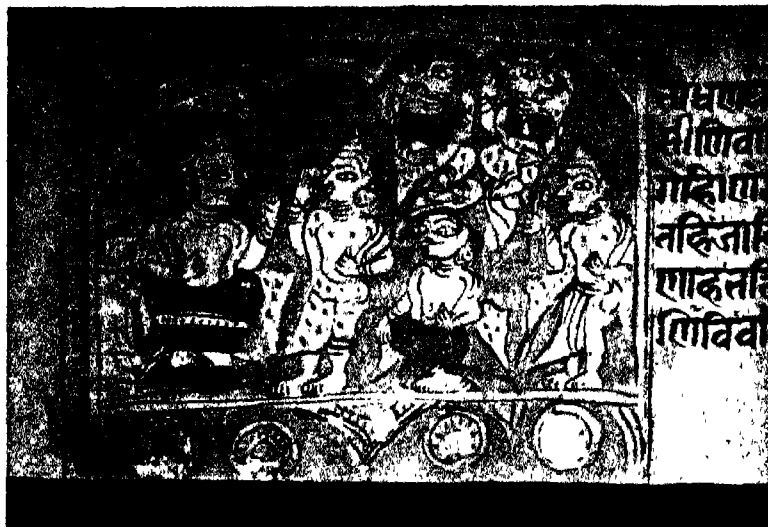
(क) राजसभा का सचालन करता इद्र, पासणाहचरिउ की पाण्डुलिपि मे, 1442 ई०, ग्वालियर, उत्तर भारतीय शैली (निजी सग्रह)

(ख) राजा यशोधर का एक नर्तकी और सगीतकारो द्वारा मनोरंजन, जसहरचरिउ की पाण्डुलिपि मे, लगभग 1440-50 ई०, कदाचित् ग्वालियर, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

चित्र 280

(क) शातिनाथ की सेना, सांतिगाहचरिउ की पाण्डुलिपि में, लगभग 1450-60 ई०, (इसके इससे बाद के काल के लिए लेख देखिए), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)
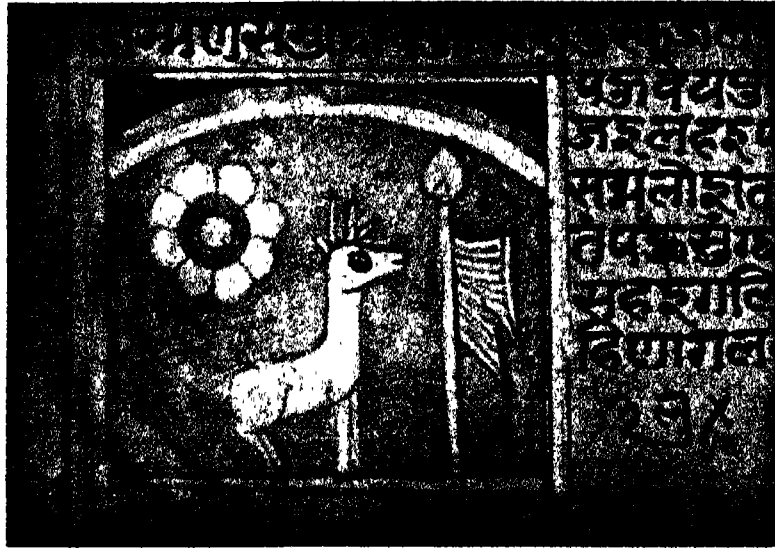
(ख) यशोधर का बकरी के रूप में जन्म, जसहरचरिउ की पाण्डुलिपि मे, 1454 ई०, कदाचित दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)
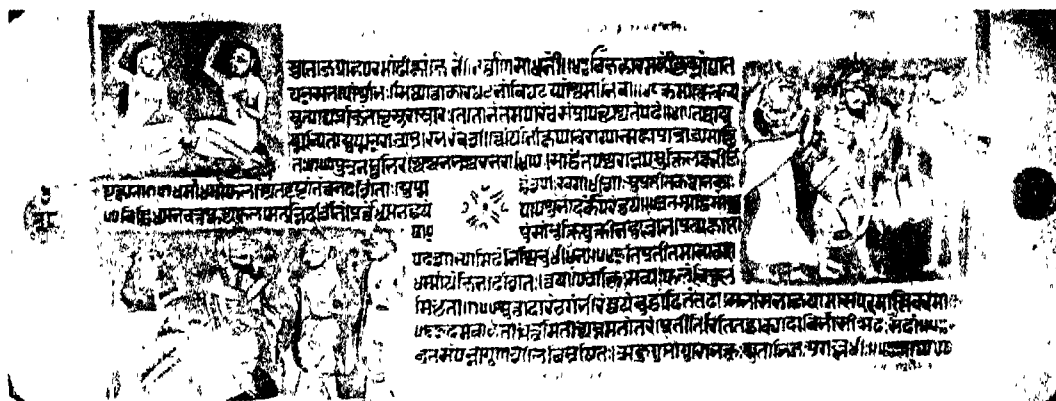
चित्र 281

(क) महस्रबल का सन्यास, आदिपुराण की पाण्डुलिपि (वर्ग-1) में, लगभग 1450 ई०, (इसके इससे बाद के काल के लिए लेख देखिए), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी सग्रह)
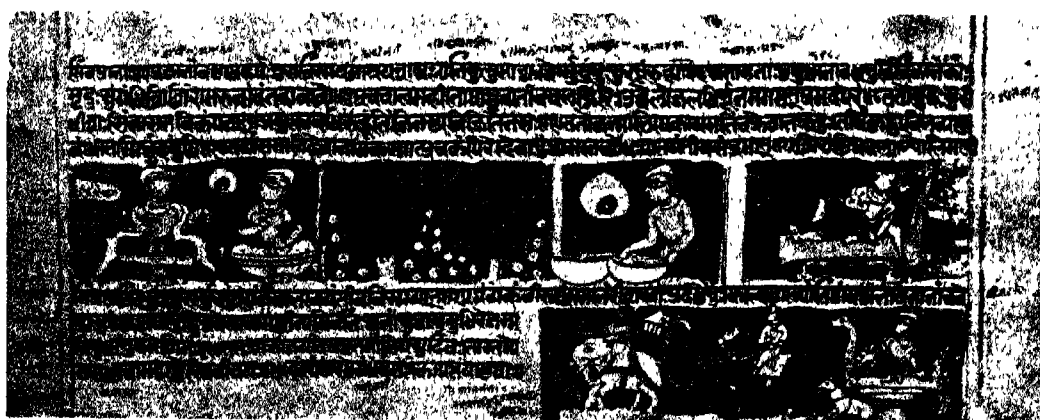
(ख) ऋषभ का जन्म-कल्याणक, आदिपुराण की पाण्डुलिपि (वर्ग-2) मे, लगभग 1475 ई०, (इसके इससे बाद के काल के लिए लेख देखिए), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी सग्रह)
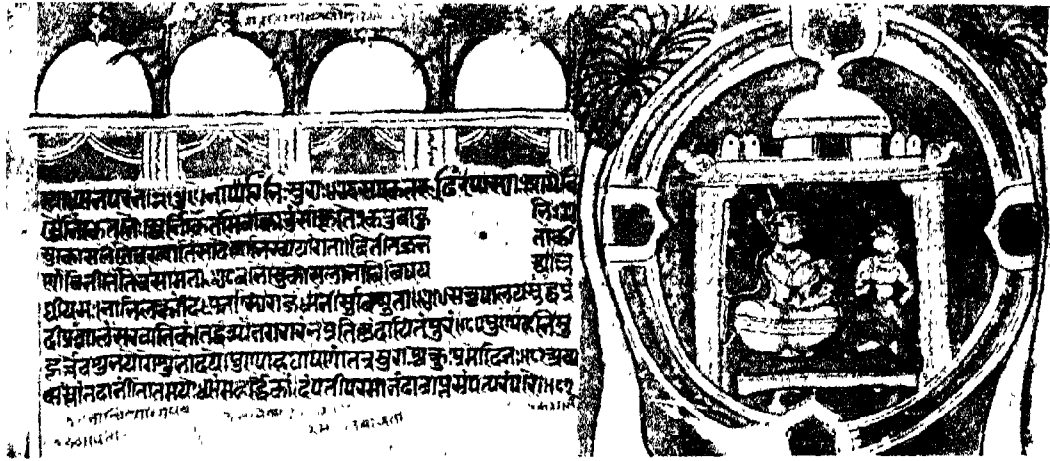
चित्र 282

(क) अयोध्यानगरी, आदिपुराण की पाण्डुलिपि मे वर्ग-2, (चित्र-282 ख के अनुसार) (निजी सग्रह)
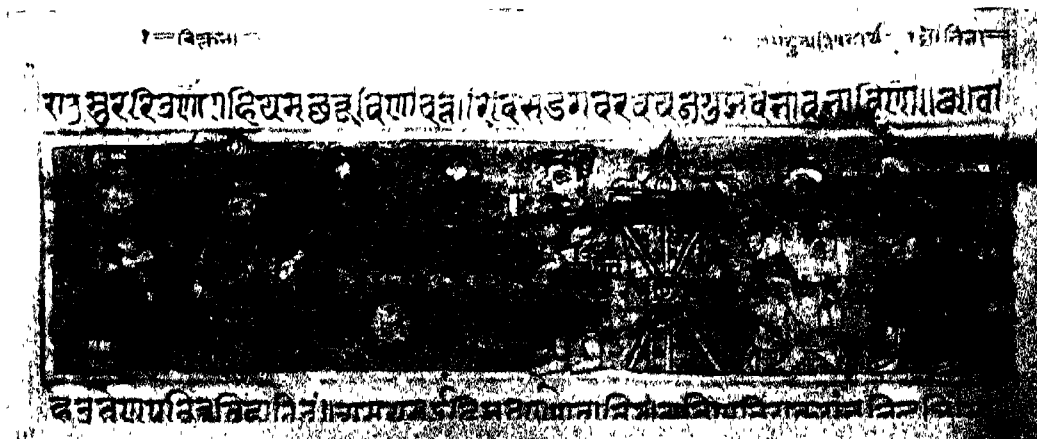
(ख) यशोधर का मत्स्य के रूप मे जन्म, यशोधरचरित की पाण्डुलिपि मे, 1590 ई०, आमेर (निजी सग्रह)

चित्र 283

भरत के सैन्य का म्लेच्छ खण्ड की ओर प्रयाण, महापुराण की पाण्डुलिपि में लगभग 1540 ई०. पालम, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

चित्र 284

इन चित्रों की बाह्य रेखाएँ काले रंग में हैं तथा ये चित्र लाल रंग की पृष्ठभूमि पर श्वेत, पीले और नीले रंग से अंकित हैं। यद्यपि इन चित्रों में लाक्षणिक कोणीयता तथा विस्फारित नेत्रों के चित्रांकन में पश्चिम-भारतीय अथवा गुजराती चित्र-शैली का निर्वाह हुआ है, तथापि इनमें एक निजी वैशिष्ट्य परक, दक्षिण-भारतीय गुण पाया जाता है।

इन तीनों पाण्डुलिपियों में से मात्र षट्-खण्डागम की पाण्डुलिपि ही तिथि-युक्त है। यह तिथि सन् १११२ है। अन्य दोनों पाण्डुलिपियाँ भी अनुमानतः इसी काल के लगभग, सन् १११२ से ११२० की मध्यावधि में रची गयी होंगी। इनके रचनाकाल का समर्थन इन तीनों पाण्डुलिपियों की निकटतम समरूपता से होता है। यह समरूपता इनकी विषय-वस्तु और चित्रण-शैली में देखी जा सकती है। इन चित्रों की रेखायुक्त तकनीक, उनकी सीमित रंग-योजना तथा चित्रों की सीमित संख्या इस तथ्य का उद्घाटन करती हैं कि इन चित्रों में उन शैलीगत प्रवृत्तियों का उपयोग हुआ है जो इस समय प्रचलन में थीं।[1] इस काल के रचे गये पाण्डुलिपि-चित्रों से इन चित्रों की समरूपता के लिए मानव-आकृतियों के अंकन को रेखांकित किया जा सकता है। मानव-आकृति के अंकन में आकार की सुडौल-गठन को रंग-प्रच्छालन और उनपर अंकित बाह्य रेखाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इन चित्रों में देवी-देवताओं के मूर्तिपरक चित्रांकन उसी समान उद्देश्य की पूर्ति करते हैं जिसकी पाल कला में तारा के चित्र अथवा श्वेतांबर जैन पाण्डुलिपियों में विद्यादेवियों के चित्र करते हैं। इन दिगंबर देवी-देवताओं के चित्रों का उद्देश्य चमत्कारपूर्ण है[2] तथा उनके मूल्य सौंदर्यात्मक होने की अपेक्षा रहस्यात्मक हैं।

इन चित्रों का एक रोचक पक्ष यह है कि ये चित्र उसी रूप-रेखा पर आधारित हैं जो अन्य समकालीन सचित्र पाण्डुलिपियों के चित्रों में पायी जाती है। इसके साथ ही इन चित्रों में उन क्षेत्रीय विशेषताओं ने भी स्थान पाया है जिनका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। ये चित्र नारी-आकृतियों के चित्रांकन तथा हंसों की लहरदार पुच्छ के आलंकारिक चित्रण में समसामयिक होयसल प्रतिमाओं से अपना एक सीधा संबंध भी प्रदर्शित करते हैं।[3]

कागज-काल

पश्चिम-भारत

गुजरात में सन् १४५० के पूर्व की चित्रित दिगंबर पाण्डुलिपियों में से कोई भी पाण्डुलिपि आज प्राप्य नहीं है——ऐसा प्रतीत होता है। सन् १४६९ की तिथि-युक्त तत्त्वार्थ-सूत्र[4] की पाण्डुलिपि

---

1 बैरेट (डगलस) एवं ग्रे (बेसिल). **पेण्टिंग ऑफ़ इण्डिया.** 1963. क्लीवलैण्ड. पृ 55./मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1949, पृ 28-32. /नॉमन ब्राउन (डब्ल्यू). **द स्टोरी ऑफ़ कालक.** 1934. वाशिंगटन. पृ 13-20.

2 मोतीचंद्र. **स्टडीज़ इन अर्ली इण्डियन पेंटिंग.** 1974. बंबई. पृ 40.

3 दोशी (सरयू), पूर्वोक्त, रेखाचित्र 29 क तथा 29 ख.

4 कपाडिया (एम). **सूरत और सूरत जिला दिगंबर जैन मंदिर मूर्ति-लेख-संग्रह,** पृ 152 के सामने का चित्र.

की जानकारी हमें मात्र उसके एक पुनर्मुद्रित चित्र से ही प्राप्त होती है लेकिन इस समय यह पाण्डुलिपि भी विलुप्त हो चुकी है। यह पाण्डुलिपि सोने की स्याही से लिखी गयी थी और इसके चित्र में भट्टारक विद्यानंदी को उनके अनुयायियों सहित चित्रित किया गया था। भट्टारक को नायक के शारीरिक अनुपात में, एक घुमावदार पीठ-युक्त चौकी पर आसीन मुद्रा में दर्शाया गया है। इनके सम्मुख तीन कतारों में बैठे हुए उपासक, उपासिकाएँ तथा साध्वियाँ चित्रित हैं। भट्टारक के शीर्ष के ऊपर छतरी की तरह की संरचना है जो परस्पर-संयुक्त अष्टदल के पुष्पों की रूप-रेखा वाली है। उपासकों के ऊपर झिरीदार वेदिकाएँ हैं जिनके फलक जालीदार हैं।

चित्र-संयोजन के सिद्धांतों, मानव-आकृतियों के अंकनों, उनकी मुद्राओं, वेश-भूषाओं तथा स्थापत्य एवं आंतरिक साज-सज्जा के उपादानों, उपस्कर आदि की दृष्टि से यह चित्र अपने समसामयिक पश्चिम-भारत में रचे गये अन्य चित्रों से भिन्न नहीं है।[1]

इसी क्षेत्र में चित्रित दिगंबर पाण्डुलिपियों में एकमात्र अन्य पाण्डुलिपि और है जिसे पश्चिम-भारत की प्रचलित 'समृद्ध शैली' में चित्रित माना जा सकता है। यह पाण्डुलिपि लाल, बैंगनी, काले अथवा श्वेत रंग से रँगे कागजों पर सुनहरी स्याही से लिखी गयी है (रंगीन चित्र ३० क)। यह भट्टारक सोमकीर्ति द्वारा संस्कृत में लिखे गये यशोधर-चरित की पाण्डुलिपि है जिसे जसहर-चरिउ के नाम से भी जाना जाता है। इसके उनतीस चित्र लगभग एक ही आकार के हैं जो पृष्ठ की दायीं अथवा बायीं ओर अंकित हैं। दो चित्र समूचे पृष्ठ पर भी बने हुए हैं (रंगीन चित्र ३० ख; चित्र २७६ क)। प्रत्येक पृष्ठ के चारों किनारों पर तथा मध्य में अलंकृत सज्जा-पट्टियाँ हैं।

चित्र या तो समूचे चित्र-फलक पर अंकित हैं या फिर आंशिक पंक्ति-चित्रों में। जिन रंगों का उपयोग किया गया है वे लाल रंग के साथ नीले और सुनहले जैसे बहुमूल्य रंगों के सम्मिश्रण से तैयार किये गये हैं। रंगीय रेखाओं की तकनीक की परंपरा जो इन चित्रों में प्रयुक्त की गयी है उससे मानव-आकृति के रूपांकन का निर्धारण होता है। ये आकृतियाँ कोणीय हैं तथा इन्हें अतिशयता-पूर्ण मुद्राओं एवं भावाभिव्यक्तियों के साथ अंकित किया गया है। मानव-आकृतियों में विस्फारित आँखों का अंकन है। पुरुषों को धोती पहने, वक्षस्थल पर उत्तरीय ओढ़े हुए और पगड़ी पहने हुए दर्शाया गया है तथा महिलाओं को धोती, लंबी बाँहों की चोली, सिर को ढके हुए ओढ़नी डाले हुए दर्शाया गया है। ओढ़नी के स्थान पर कहीं-कहीं उन्हें पगड़ी पहने हुए भी चित्रित किया गया है। नारी-वस्त्रों पर ज्यामितीय आकार, हंसों की पंक्तियाँ अथवा अरब प्रभावाधीन पत्र-पुष्पों की रूपरेखांकित अभिकल्पनाएं

---

1 देखिए रंगीन चित्र 25 क, ख, ग, घ; मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1949. रेखाचित्र 89, 90, 149, 150. / शाह (उ. प्रे.). **स्टोरी ऑफ़ कालक**. 1949. अहमदाबाद. रेखाचित्र 22, 32, 43, 64, 66. / ब्राउन. **मिनिएचर पेंटिंग फ्रॉम द जैन कल्प-सूत्र**. 1934. वाशिंगटन, रेखाचित्र 7, 46, 48. / ब्राउन. **मैन्युस्क्रिप्ट इलेस्ट्रेशन्स ऑफ़ दि उत्तराध्ययन सूत्र**. 1941. कोनेक्टीकट. रेखाचित्र 32, 51, 149.

अंकित की गयी हैं। वृक्षों को पतले तनों से युक्त चित्रित किया गया है जिनकी लहरदार शाखाओं के घुमाव चित्रों के अंदर की ओर प्रवेश करते हुए दर्शाये गये हैं। पहाड़ों को रंग-बिरंगी चट्टानों के ढेर के रूप में अंकित किया गया है जिनमें से वृक्ष निकले हुए दर्शाये गये हैं (रंगीन चित्र ३० क)। स्थापत्य को जालीदार फलक-युक्त संरचनाओं के रूपाकारों में अथवा बहुतल भवनों के रूप में चित्रित किया गया है (चित्र २७६ क)। भवन की आंतरिक साज-सज्जा के उपादानों में छत्राकार वितान तथा घुमावदार पायों के पलंग अंकित किये गये हैं।

पूर्वोक्त पाण्डुलिपि की भाँति इस पाण्डुलिपि के चित्र अपने चित्र-संयोजन, रंग-योजना तथा मानव-आकृतियों एवं दृश्य-चित्रों के अंकन में उन मान्यताओं का निर्वाह करते हैं जो पंद्रहवीं शताब्दी में पश्चिम-भारतीय चित्रकला में प्रचलित थीं (रंगीन चित्र ३० क, ख, की रंगीन चित्र २७ से तुलना कीजिए)। उस शैली[1] की कुछ विशेषताएँ हैं—देवी का मूर्तिपरक चित्रण (रंगीन चित्र ३० ख), एक मनुष्य का प्रसाधन-दृश्य जिसमें उसके लंबे बालों को सेविका द्वारा काढ़ते हुए दिखाया गया है (चित्र २७६ ख), तथा एक विवाह-मण्डप। एकमात्र असामान्य अभिप्राय का अंकन है एक बहुतल वाला भवन जो चित्रित किया गया है।

इस पाण्डुलिपि के किनारों की सज्जा में पुष्पादि-लता-वल्लरियों, ज्यामितिक रूपाकारों और आलंकारिक अभिप्रायों का उपयोग हुआ है जिनकी प्रेरणा फारसी कालीनों तथा अलंकृत फलकों से ग्रहण की गयी है (चित्र २७७ क)। कुछ चित्र-फलकों में लहरदार लता-वल्लरियों में गिलहरियों एवं पक्षियों का अलंकृत वृक्षों का तथा नृत्यरत नारी एवं संगीतज्ञों की आकृतियों का आकर्षक अंकन है (चित्र २७७ ख)। इसी प्रकार पहलवानों और पशुओं के समूह का भी अंकन किया गया है। पृष्ठ के किनारों के इन अलंकरणों की सन् १४७२ में चित्रित उत्तराध्ययन-सूत्र[2] तथा मुनि हंसविजयजी की कल्प-सूत्र[3] की पाण्डुलिपि के किनारों के अलंकरणों से प्रत्यक्ष तुलना की जा सकती है। यद्यपि यह पाण्डुलिपि देवासा-नो पाडो भण्डार की कल्पसूत्र-पाण्डुलिपि से पर्याप्त समानताएँ रखती है तथापि यह भी स्पष्ट है कि इसके किनारों के अलंकरण में न तो काल्पनिक अंकन ही है और न उत्तरवर्ती

---

1 रंगीन चित्र 30 ख की तुलना मजूमदार (एम आर). 'अर्लिएस्ट देवीमहात्म्य मिनिएचर्स विद स्पेशल रेफरेंस टू शक्ति-वर्शिप इन गुजरात', **जर्नल ऑफ़ दि इण्डियन सोसाइटी ऑफ़ ओरिएण्टल आर्ट**, 6. 1938. चित्र 28 और रेखाचित्र 3-4 के साथ कीजिए तथा चित्र 276 ख की ब्राउन, पूर्वोक्त, 1934, चित्र 12 के साथ तुलना कीजिए.

2 ब्राउन, पूर्वोक्त, 1941, रेखाचित्र 27, 32, 76, 91, 127, 137, 141, 148, 149, 150, यहाँ पर तिथि का उल्लेख नहीं है. इसके लिए तिथि का निर्धारण खण्डालावाला द्वारा 'लीव्स फ्रॉम राजस्थान', **मार्ग**, 4, सं. 3 में किया गया है.

3 मोतीचंद्र, वही, 1949. रेखाचित्र 139, 142-46.

पाण्डुलिपि जैसी विविधता ही ।[1] और न इनकी मानव-आकृतियों में देवसा-नो पाडो की कल्प-सूत्र तथा जामनगर की कल्प-सूत्र पाण्डुलिपि की भाँति फारसी या सुलतानी काल की वेशभूषा ही अंकित है ।[2]

सामान्यत: सचित्र पाण्डुलिपियों की अलंकृत किनारियों का अभिप्राय चित्र के साथ आलंकारिक सामंजस्य स्थापित करना रहा है परंतु इस पाण्डुलिपि के कुछ चित्रों में इन किनारी-अलंकरणों ने उन चित्रों के पूरक का कार्य किया है जो या तो इसी पृष्ठ पर अंकित हैं (रंगीन चित्र ३० ख), या इससे आसन्न अगले पृष्ठ पर। इनका नियोजन अत्यंत निपुणता के साथ किया गया है जिससे पाण्डुलिपि पढ़ते समय खोले गये दोनों आसन्न पृष्ठ एक ही दिखाई दें। एक स्थान पर तो समूची घटना को मात्र किनारी के चित्र-फलक पर ही अंकित कर दिया गया है अतः इस किनारी के भीतर इसके साथ कोई दूसरा चित्र अंकित नहीं किया गया है। समूची कथा को किनारी के चित्र-फलकों में अंकित करने की यह विधि यद्यपि यदा-कदा ही पायी गयी है तथापि यह कोई नयी विधि नहीं है क्योंकि इस प्रकार की विधि का अंकन सन् १४५६ की चित्रित पाटन की कल्प-सूत्र प्रति में देखा जा चुका है। पाटन की यह कल्प-सूत्र पाण्डुलिपि पाटन के शामलाजी-नी पोल स्थित भण्डार में सुरक्षित है ।[3]

इस पाण्डुलिपि की प्रशस्ति से हमें यह तो जानकारी उपलब्ध है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५१ (सन १४६४) में हुई। परंतु इसके बारे में कोई उल्लेख नहीं है कि यह पाण्डुलिपि किस स्थान पर चित्रित हुई। फिर भी इस पाण्डुलिपि के चित्रों की सन् १४७२ की उत्तराध्ययन-सूत्र तथा लगभग सन् १४७५ की देवसा-नो पाडो की सुपरिचित पाण्डुलिपि के चित्रों से तुलना करने पर इनमें पायी जाने वाली शैलीगत समानता, इनकी रंग-योजना तथा रंग-योजना में पृष्ठभूमि में तीन श्वेत रंग के बिन्दुओं के समूह का अंकन (रंगीन चित्र ३० क की रंगीन चित्र २८ ग से तुलना कीजिए) और किनारी के अलंकरण इस अनुमान के लिए पर्याप्त अवसर देते हैं कि यह पाण्डुलिपि पश्चिम-भारत में कहीं चित्रित हुई है। इस पाण्डुलिपि की समूची अवधारणा उस 'समृद्ध शैली' की विशेपताओं के अनुरूप है जो पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य पश्चिम-भारत में प्रचलित थी।

उत्तर-भारत

उत्तर-भारत में दिगंबर जैन संप्रदाय की कागज पर चित्रित सबसे प्रारंभिक ज्ञातव्य पाण्डु-लिपि आदि-पुराण की है जो योगिनीपुरा (दिल्ली) में सन् १४०४ में[4] चित्रित हुई। यद्यपि इस

---

1 चित्र 276 ख, 277 क, ख की तुलना मोतीचंद्र एवं खण्डालावाला, पूर्वोक्त, 1969, चित्र 6, 7, रेखाचित्र 49-50 एवं 59-99 से कीजिए.

2 मोतीचंद्र एवं शाह, पूर्वोक्त, 1968, रेखाचित्र 12, 13.

3 नवाब (साराभाई). 'जैन जातकोना चित्र-प्रसंगोवाली कल्प-सूत्रानी सुवर्णाक्षरी प्रत', आचार्य विजय वल्लभ-सूरि-स्मारक-ग्रंथ, 1956, बंबई. पृ 161-167.

4 दोशी (सरयू). 'एन इलेस्ट्रेटेड आदिपुराण ऑफ़ ए.डी. 1404 फ्रॉम योगिनीपुरा,' छवि. 1972. वाराणसी. पृ 383-91.

पाण्डुलिपि के चित्र पूरे नहीं हैं तथापि यह पाण्डुलिपि पंद्रहवीं शताब्दी की पश्चिम-भारतीय अथवा गुजराती चित्रकला की विविधताओं और उनके विकास को समझने में मूल्यवान सामग्री उपलब्ध करती है। इस पाण्डुलिपि में दो सौ सत्तावन पृष्ठ हैं जिनमें तीन सौ सत्रह स्थान चित्रों के लिए चिह्नित किये गये हैं। परंतु दुर्भाग्य से इनमें से मात्र एक—पहला स्थान—ही चित्रित है (चित्र २७८ क); शेष चिह्नित स्थान रिक्त हैं। यह चित्र रेखीय तकनीक में अंकित है जिसके लिए कोणीय अंकन का उपयोग हुआ है। मानव-आकृतियों में विस्फारित आँखों का अंकन है। रंग-पट्टिका मुख्यतः आरंभिक रंगों तक ही सीमित है। विस्तृत पत्र-पुष्पों की रूपरेखा-युक्त छत्राकार वितान, घुमावदार पाये-युक्त पलंग, पत्र-पुष्पों का विस्तृत अलंकरण आदि जैसे विविध अभिप्रायों का अंकन उस शैली का स्मरण कराती है जो पश्चिम-भारत में प्रचलित थी।[1]

इस पाण्डुलिपि की चित्र-योजना—चित्रों की संख्या, चित्रों के आकार तथा इन चित्रों का पृष्ठ पर नियोजन (स्थान-निर्धारण) आदि—एक ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करती है जो पश्चिम-भारत की पाण्डुलिपियों में पाये गये औपचारिक संयोजन से नितांत भिन्न है। पश्चिम-भारत की पाण्डुलिपियों की अपेक्षा इस पाण्डुलिपि में मात्र चित्रों की बहुलता ही नहीं है अपितु चित्रों के आकारों में एक व्यापक विविधता भी है। इन चित्रों का आकार पूरे पृष्ठ का भी है और छोटे-बड़े विभिन्न आकारों के लंबे, क्षैतिजिक अथवा आयताकार एवं वर्गाकार फलक का भी है। पूरे पृष्ठ का आकार पश्चिम-भारत की पाण्डुलिपियों के पृष्ठ के आकार से बड़ा है। पृष्ठ पर चित्रों का नियोजन सामान्यतः पश्चिम-भारत की पाण्डुलिपियों की भाँति, दायीं या बायीं ओर किया गया है। इसके साथ ही, एक पृष्ठ पर विभिन्न आकार के दो चित्रों के बनाने की योजना भी रही है जो असामान्य नहीं है। पृष्ठों पर जिस प्रकार से मूलपाठ और चित्रों के नियोजन की व्यवस्था की गयी है वह कुल मिला कर ऐसा लचीलापन प्रदर्शित करती है जो पश्चिम-भारत की समकालीन पाण्डुलिपियों के रीतिबद्ध रूप से अवधारित प्रारूप में नहीं पाया जाता। संभवतः इस नयी प्रवृत्ति ने फारसी चित्रकला-परंपरा के प्रभाव-स्वरूप इन चित्रों में स्थान पाया है। इस प्रकार इस पाण्डुलिपि के चित्रों की शैली में जहाँ पश्चिम-भारत की सचित्र पाण्डुलिपियों की परंपराओं का निर्वाह हुआ है वहीं चित्रों के नियोजन में यह पाण्डुलिपि उनसे परे हट गयी है।

सन् १४०४ की इस आदि-पुराण पाण्डुलिपि के चित्र-नियोजन तथा चित्रण-शैली के समान आधार पर एक अन्य दूसरी सचित्र पाण्डुलिपि महा-पुराण की है जो दिल्ली के दिगंबर जैन नया मंदिर के संग्रह में सुरक्षित है।[2] इस पाण्डुलिपि में अनगिनत चित्र हैं लेकिन उनके आकारों में बहुत कम विविधता है और वे कुछ विशेष आकार के ही हैं। इस पाण्डुलिपि के एक पृष्ठ पर दो से अधिक चित्र भी अंकित हैं, जो पहली पाण्डुलिपि-परंपरा के निर्वाह को परिलक्षित करती है।

---

1 मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1949, रेखाचित्र 59, 89, 90.

2 मोतीचंद्र. 'एन इलस्ट्रेटेड मैन्युस्क्रिप्ट ऑफ़ द महापुराण इन दि कलेक्शन ऑफ़ श्री दिगंबर जैन नया मंदिर, दिल्ली', ललित कला, 5. पृ 68-81.

नियमानुसार चित्र पृष्ठ के दायीं या बायीं ओर अंकित हैं। इस प्रकार इस पाण्डुलिपि में भी चित्र-नियोजन की विशेषता पश्चिम-भारत की पाण्डुलिपियों से भिन्न है।

इस पाण्डुलिपि की चित्रण-शैली सन् १४०४ के आदि-पुराण की चित्रण-शैली से बहुत समानता रखती है। यह समानता विशेषकर नारी-आकृतियों के अंकन में स्पष्टतः देखी जा सकती है (चित्र २७६ क, ख की चित्र २७८ क से तुलना कीजिए)। इन दोनों पाण्डुलिपियों के चित्रों में ये विशेषताएं इस प्रकार हैं कि नारी-आकृतियों की कटि अत्यंत क्षीण है तथा वेशभूषा में पगड़ी भी सम्मिलित है जिसपर एक-जैसी ही धारियों की अभिकल्पनाएँ अंकित हैं। रंग-योजना के अंतर्गत इन दोनों पाण्डुलिपियों के चित्रों में प्राथमिक रंगों को प्रमुखता दी गयी है जो परस्पर तुलनीय हैं, परंतु महा-पुराण के चित्रों पर हलके पीले रंग की लाख वाली वार्निश है इसलिए इन दोनों पाण्डुलिपियों के चित्रों के रंगाभासों का स्तर परस्पर एक समान नहीं है।

यद्यपि इस पाण्डुलिपि के चित्रों में भी रेखीय अंकन की तकनीक का उपयोग हुआ है तथापि, इसके अनेक चित्र भावाभिव्यक्ति पूर्ण हैं। ये पश्चिम-भारत की प्रचलित परंपरा से भिन्नता रखते हैं (रंगीन चित्र २६ की रंगीन चित्र २५ से तुलना कीजिए)। इस समय पश्चिम-भारत की चित्र-शैली ने रेखांकन में परिष्कृति तथा रंग-योजना में व्यापकता की उपलब्धियों को प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार चित्र-संयोजन में अधिक जटिलता एवं अंकन में सूक्ष्मता आ गयी है और रंग-योजना में नीलम, सोने और चांदी के रंगों के जुड़ जाने से व्यापकता आ गयी है। इसके उपरांत भी सरलता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है जिसमें चित्र का नियोजन बड़े से बड़े फलक पर प्रसार पाने लगा है और वह कम से कम जटिल होने लगा है। स्थापत्यीय संरचनाओं, उपस्कर के उपादानों एवं वस्त्रों में पाये जाने वाले अलंकरणों की अतिशयता में कमी आने लगी है। रंग-योजना प्राथमिक रंगों तक ही सीमित होने लगी है, जब कि इसके विपरीत, पश्चिम-भारत के समसामयिक चित्रों की रंग-योजना बहुरंगी रही है। इन चित्रों में बादलों और वृक्षों को जिन रूपाकारों में चित्रित किया गया है, वे उन रूपाकारों के संक्षिप्त रूप हैं जिन्हें हम पश्चिम-भारत के चित्र-शैली-परंपरा में देख चुके हैं।

फिर भी, पश्चिम-भारत में प्रचलित शैली का घटिया रूपांतरण होने के कारण इस पाण्डुलिपि के चित्र हमें प्रभावित नहीं कर सके हैं। वैसे इन चित्रों में ओजस्विता और जीवंतता की भावना है। इन चित्रों की आकृतियां सजीवता तथा गतिशीलता से अनुप्राणित हैं (चित्र २७६ क, ख)। इस पाण्डुलिपि के चित्रों में ऐसे दो सूत्र भी खोजे जा सकते हैं जो पश्चिम-भारत के पाण्डुलिपि-चित्रों में नहीं पाये जाते। इनमें से एक सूत्र मण्डप के स्थापत्य (चित्र २७६ क) का है और दूसरा रथ की अभिकल्पना का (चित्र २७६ ख)। मण्डप के स्थापत्य का अंकन अपने समसामयिक पश्चिम-भारत के अंकन से भिन्न है। इस मण्डप पर जालीदार फलकों के जंगले नहीं हैं बल्कि इसके गुंबद लहरदार हैं। रथ की अभिकल्पना में उसका आधार सपाट है तथा उसके सामने के लंब रूप भाग

के ऊपर एक दैत्याकार सिर संलग्न है। प्रतीत होता है कि ये रूपाकार यहाँ की स्थानीय परंपराओं के अनुरूप अंकित किये गये हैं।[1] विशेषकर मण्डप की संरचना तो इसी प्रकार की ही रही है।

इन साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि पाण्डुलिपि-चित्रों की शैली में रेखाओं और कोणीय अंकन पर बल दिया गया है और इनका रूपांकन पश्चिम-भारतीय या गुजराती शैली पर आधारित है, फिर भी इस आधार पर उन्होंने जिस शैली का विकास किया है वह उस शैली से भिन्न है जो पश्चिम भारतीय शैली में विकसित हुई है। दूसरी ओर, इनकी अंकन-विधि तथा चित्र-नियोजन का शैलीगत प्रयास सन् १४०४ की चित्रित आदि-पुराण की पाण्डुलिपि के समानांतर है—यह इस संभावना की ओर ले जाती है कि नया मंदिर का महा-पुराण दिल्ली क्षेत्र में सन् १४२० के लगभग लिखा एवं चित्रांकित किया गया। मोतीचंद्र जैसे कुछ विद्वान् इस पाण्डुलिपि की तिथि लगभग सन् १४५० मानने के पक्ष में हैं अतः इसके आधार पर हम इस संभावना को अस्वीकार नहीं कर सकते कि यह शैली जैन चित्रों में निरंतर एक लंबे समय तक बिना किसी परिवर्तन के प्रचलित रही।

नया मंदिर के महा-पुराण की शैली से प्रायः मिलती हुई एक अन्य पाण्डुलिपि है—भविसयत्त-कहा (रंगीन चित्र ३१, चित्र २७८ ख), जो यद्यपि अपूर्ण है तथापि समृद्ध रूप में चित्रित है। यह पाण्डुलिपि पहली पाण्डुलिपि से कहीं अधिक रीतिबद्ध है और इसी रीतिबद्धता के कारण यह उससे भिन्न है। इस पाण्डुलिपि में कोई भी चित्र समूचे पृष्ठ पर अंकित नहीं है तथा इसके चित्र-फलकों के आकार में विविधता भी कम है। चित्र-रचना में सजीवता होते हुए भी सरलता है और उनमें चित्रित विषय के तत्त्वों को एक ही धरातल पर एक पंक्ति में ही नियोजित करने की स्पष्ट प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस पाण्डुलिपि की शैली में जो कुछ थोड़ी-सी शुष्कता है वह यह संकेत देती है कि इसकी प्रेरणा समसामयिक पाण्डुलिपि से ग्रहण करने की अपेक्षा नया मंदिर के महा-पुराण से ग्रहण की गयी है। इसके आधार पर इस पाण्डुलिपि का रचना-क्षेत्र दिल्ली एवं रचना-तिथि लगभग सन् १४३० निर्धारित की जा सकती है और इसके लिए नया मंदिर के महा-पुराण का रचनाकाल पंद्रहवीं शताब्दी का मध्य-काल न मानकर लगभग सन् १४२० मानना होगा।

चित्रकला की यही परंपरा ग्वालियर में भी प्रचलित थी जिसका प्रमाण हमें पासणाह-चरिउ[2] की पाण्डुलिपि से मिलता है, जो गोपाचल-दुर्ग (ग्वालियर) में सन् १४४२ में रची गयी। इस पाण्डुलिपि के मूलपाठ का प्रणयन सुप्रसिद्ध कवि रइधू (लगभग सन् १३८०-१४८०) द्वारा हुआ[3] जिन्होंने अपने जीवन का बहुत-सा समय ग्वालियर में व्यतीत किया था। पंद्रहवीं शताब्दी में ग्वालियर जैन कला की प्रखर गतिविधियों का एक प्रमुख केंद्र रहा है। इस काल में पहाड़ी चट्टानों

1 चित्र 279 क तथा ख की तुलना मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1949, क्रमशः चित्र 90, 150 तथा 156 से कीजिए.

2 जैन (राजाराम). रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन. 1974. वैशाली. चित्र 1-9.

3 पूर्वोक्त, पृ 120.

को काटकर विशाल प्रतिमाओं का निर्माण हुआ तथा अनेकानेक जैन मूलपाठों की प्रतिलिपियाँ हुईं[1]। प्रतीत होता है कि पासणाह-चरिउ के मूलपाठ की रचना-समाप्ति के तुरंत बाद ही उसकी सचित्र पाण्डुलिपि तैयार की गयी होगी।

इस पाण्डुलिपि के चित्र भविसयत्त-कहा के समान हैं जिनकी अवधारणा भी उसी के अनुरूप की गयी है। इस पाण्डुलिपि के चित्र भी अधिकांशत: आयताकार फलकों में अंकित हैं। इन फलकों के आकार दो-तीन प्रकार से निश्चित हैं, जो पृष्ठ के दायीं अथवा बायीं ओर पर नियोजित हैं किंतु कोई भी चित्र आकार में इतना बड़ा नहीं है जो समूचे पृष्ठ को घेर ले।

यद्यपि पासणाह-चरिउ के चित्रों की शैली भविसयत्त-कहा के चित्रों की रंग-योजना एवं रूपांकन के अनुरूप है फिर भी इसका चित्र-संयोजन दक्षतापूर्ण है, यद्यपि इसकी रेखाएँ अपनी अधिकांश शक्ति खो चुकी हैं। इसका दुर्बल रेखांकन और चित्रण विशेष उल्लेखनीय नहीं है लेकिन चित्रों की शैली ने उनमें गत्यात्मकता की भावना को संजोये रखा है। मानव-आकृतियों एवं उनकी मुद्राओं के अंकन तथा इन चित्रों में दर्शाये गये नयी शैली के वस्त्राभूषण आदि की परंपरा आगे चलकर विकसित हुई; उसे उत्तर-भारत के चित्रों में देखा जा सकता है। इन चित्रों में पुरुषाकृतियों को धोती और उत्तरीय जैसी परंपरा-प्रचलित वेष-भूषा में दर्शाया गया है लेकिन महिला आकृतियों में उन्हें धोती एवं दुपट्टा के साथ साड़ी पहने भी दर्शाया गया है। साड़ी के पल्ले को वक्ष के ऊपर से होकर जाते हुए अंकित किया गया है (चित्र २८० क) सैनिकों को जामा, पैजामा और चूड़ीदार पैजामा जैसे नये वस्त्र पहने चित्रित किया गया है, लेकिन ये सैनिक पश्चिम-भारत के चित्रों में पाये गये साहियों की भाँति विदेशी न होकर इसी देश के वासी हैं (रंगीन चित्र ३२ की रंगीन चित्र २५, २६ से तुलना कीजिए)। पहले वस्त्रों में यदि कोई अभिकल्पना होती थी तो वह बिंदुओं से निर्मित होती थी लेकिन इन चित्रों में वस्त्रों की अभिकल्पना में पुष्प लता-वल्लरियों और घुमावदार रूपाकारों का प्रयोग हुआ है जो पश्चिम-भारत के चित्रों में प्रचलित था। योग-पट्ट को अपने घुटनों पर लिये बैठने की मुद्रा में अंकित पुरुषाकृतियों के अभिप्राय भविष्यत्त-कहा में भी हैं, लेकिन इस प्रकार के अभिप्राय इस पाण्डुलिपि के चित्रों में पर्याप्त संख्या में देखे जाते हैं जिसके कारण इसे इस शैली की एक विशेषता मानी जा सकती है।

यद्यपि पूर्ववर्ती पाण्डुलिपि-चित्रों में प्राय: आकाश को एक पट्टी के रूप में दर्शाया जाता था। किंतु इन चित्रों में इस पट्टी को घटाकर ऊपरी कोनों पर त्रिकोणाकार धब्बे या ऊपरी भाग में एक

---

1 जैन (राजाराम), पूर्वोक्त, पृ 130-131; **राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रंथ-सूची.** पाँच खण्ड, संपा: कासलीवाल (कस्तूरचंद). 1949-62. जयपुर. खण्ड 1, पृ 192. नं. 137, पृ 208 नं. 245; खण्ड 2, पृ 140, नं. 171, पृ 227, नं. 1144, पृ 233, नं. 1223, पृ 241, नं. 1320, पृ 46 नं. 501; खण्ड 3 पृ 196, नं. 119; खण्ड 4, पृ 172, नं. 3008.
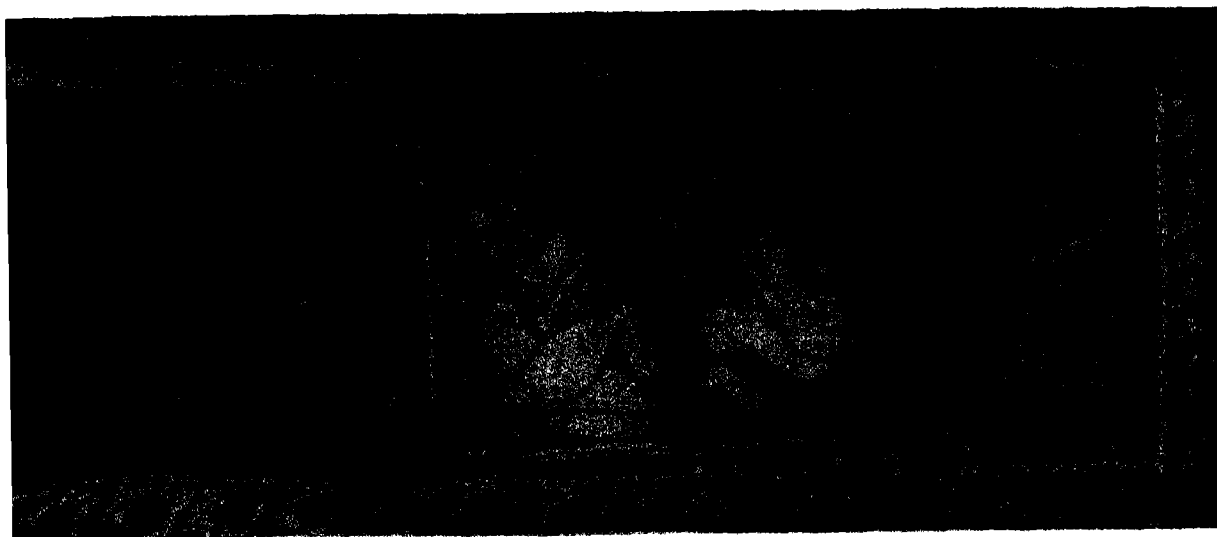
22 जिनरक्षित के साथ जिनदत्त-सूरि, चित्रांकित पटली का एक भाग, 1122-54 ई०, पश्चिम भारतीय या गुजराती शैली (जैसलमेर भण्डार)

23 (क) पटली के एक भाग का चित्र, 1122-54 ई० (लेख मे देखिए जहाँ इससे भी पूर्व के समय पर विचार किया गया है), पश्चिम भारतीय या गुजराती शैली (जैसलमेर भण्डार)

(ख) (ग)
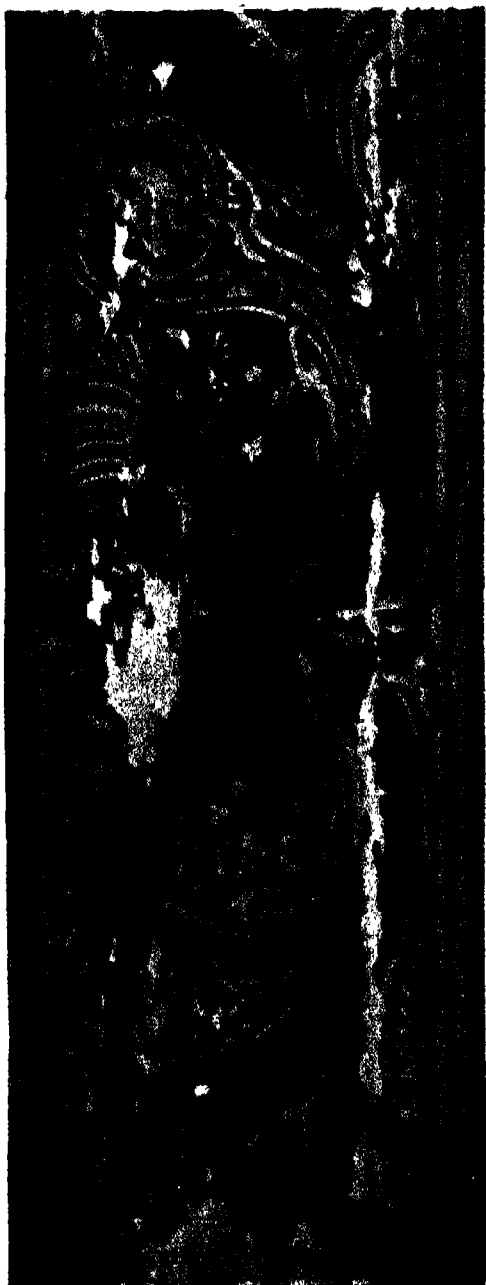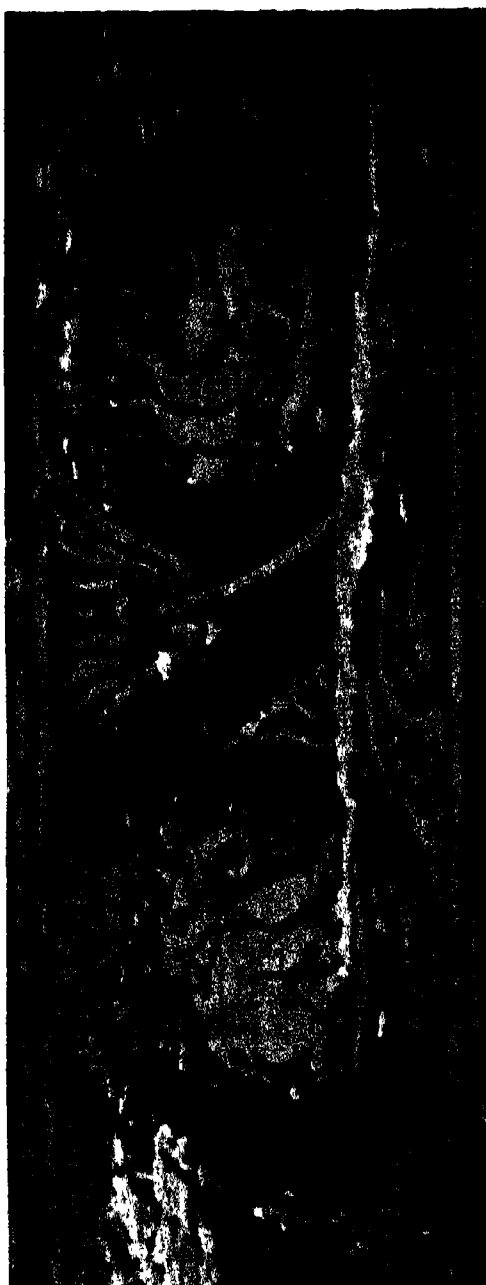
23 (ख) ग्रौर (ग) उपर्युक्त पटली (23 क) के पृष्ठभाग पर मण्डलकों, पक्षियो ग्रौर पशुग्रो का चित्रांकन

23(घ) उपर्युक्त (23 ख और ग) के अनुसार

24 देवसूरि-कुमुदचन्द्र-शास्त्रार्थ की पटली पर चित्रांकन का एक भाग, लगभग 1125 ई०, पश्चिम भारतीय या गुजराती शैली (निजी संग्रह में)
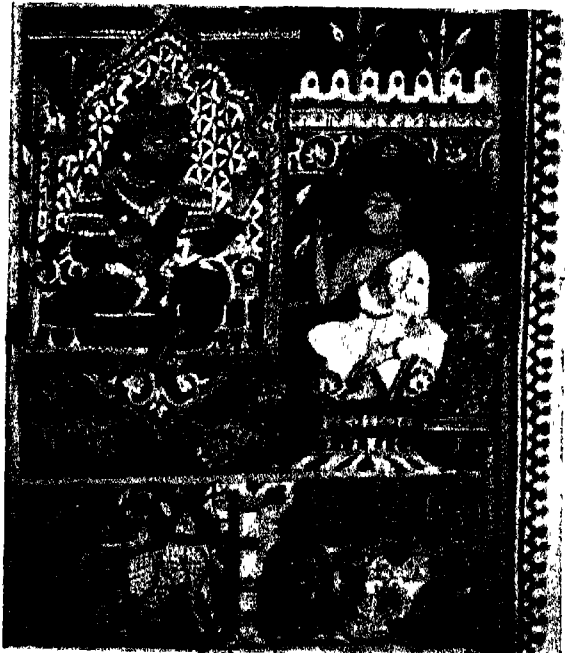
25 (क) कालक और शिष्य, (ख) गर्दभिल्ल की सेना का प्रयाण, (ग) कालक और माहि प्रधान, (घ) गर्दभिल्ल की गिरफ्तारी, कालकाचार्य की कथा के पत्र, पश्चिम भारतीय या गुजराती शैली (पी० सी० जैन, बंबई के संग्रह में)

26 गर्दभी-विद्या, कल्पसूत्र-कालकाचार्य-कथा के एक पत्र पर, 1452 ई०, पश्चिम भारतीय या गुजराती शैली (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)
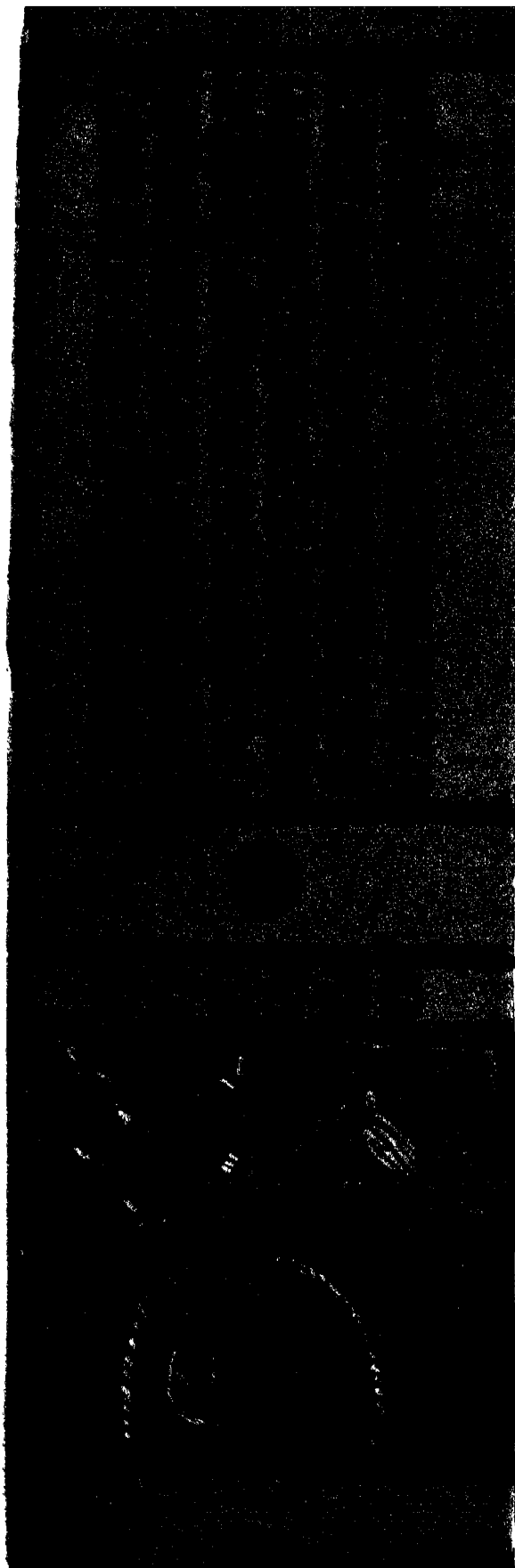
27 महावीर का वैराग्य, कल्पसूत्र के एक पत्र पर, 1417 ई०, पश्चिम भारतीय या गुजराती शैली (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)

28 (क) बाहुबली का तपश्चरण, देवसानो भण्डार कल्पसूत्र-कालकाचार्य-कथा के एक पत्र (अग्रभाग) पर, लगभग 1475 ई० (निम्न में देखिए जहाँ इससे बाद के समय पर विचार किया गया है), पश्चिम भारतीय या गुजराती शैली (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)
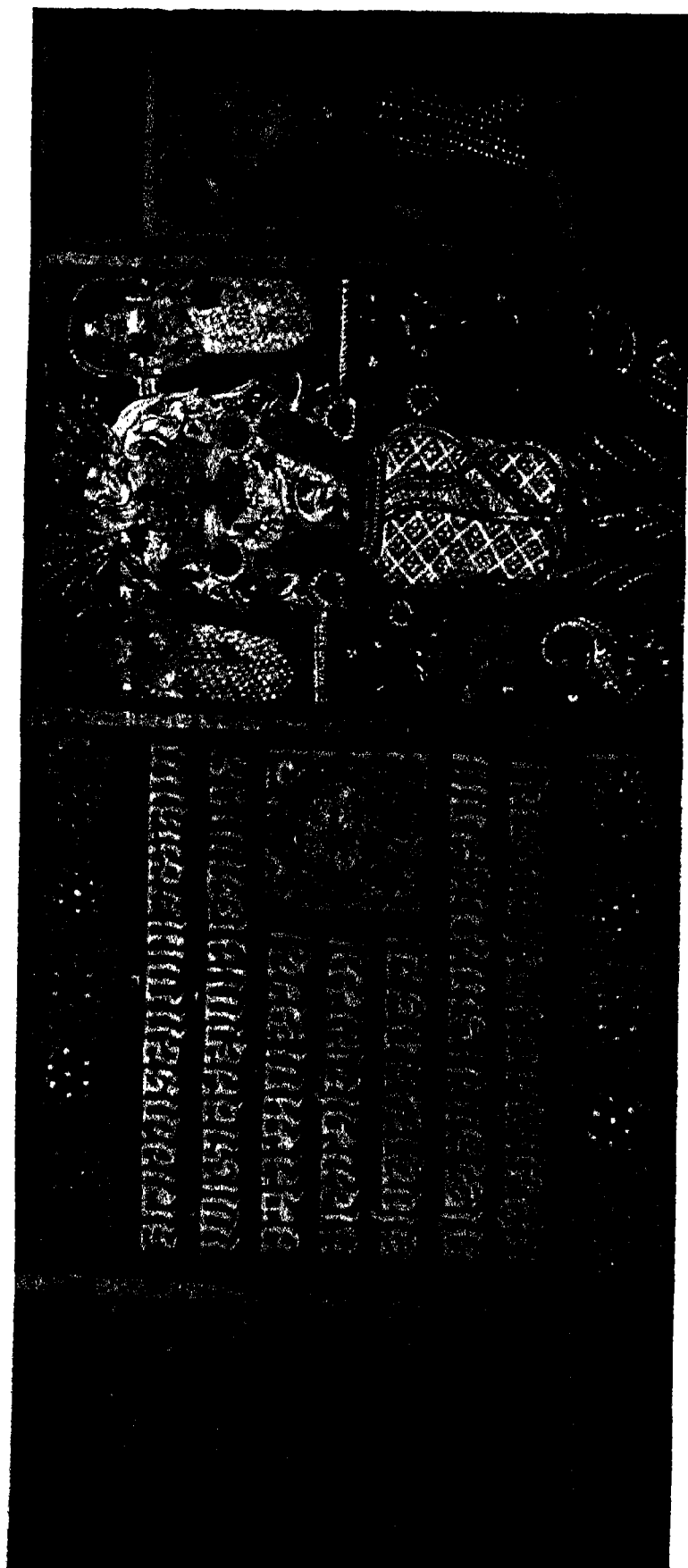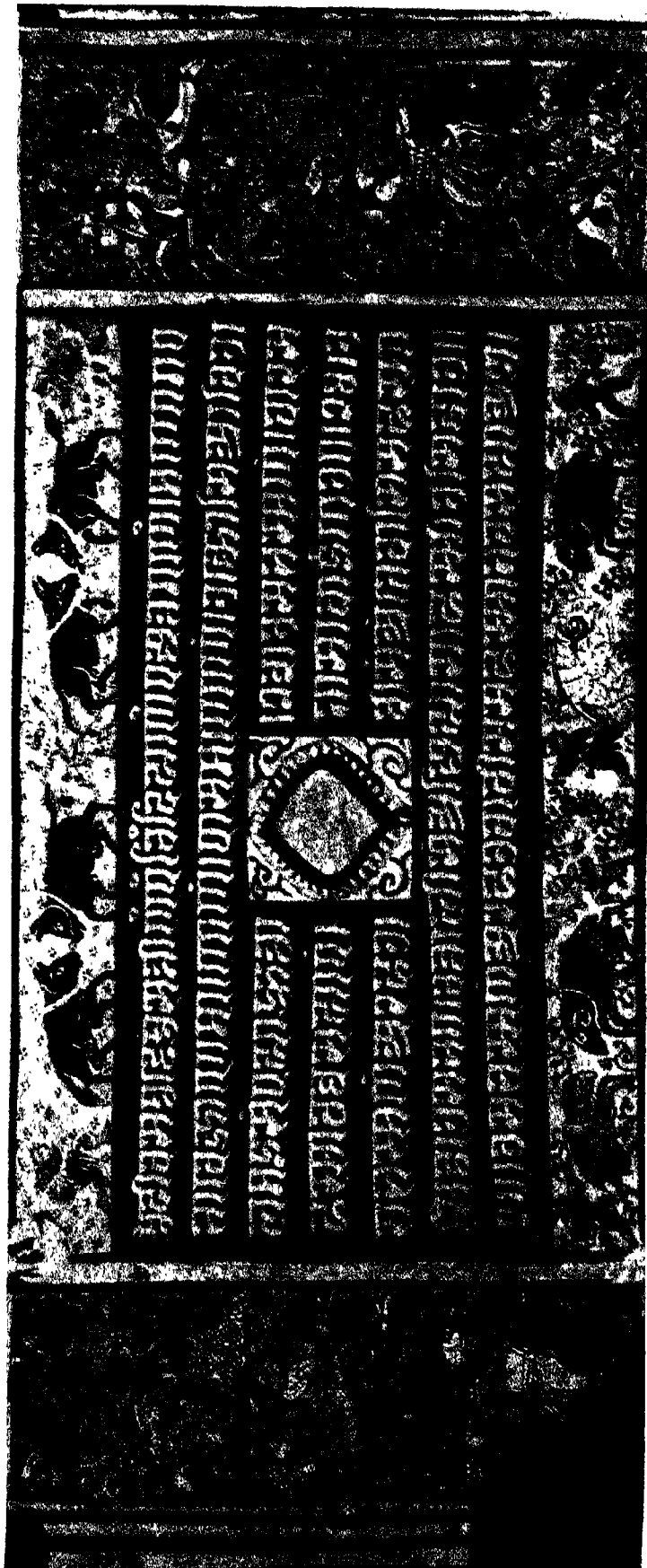
28 (ख) किनारों की सज्जा, उपर्युक्त पाण्डुलिपि (28 क) के एक पत्र (पृष्ठभाग) पर

28 (ग) गर्दभिल्ल और कालक, कालकाचार्य-कथा का पशु-पक्षियों के चित्रों से अंकित एक पत्र, कदाचित् देवसानो पाडो भण्डार की पाण्डुलिपि, लगभग 1475 ई० (लेख में देखिए जहां इसके दाद के समय पर विचार किया गया है), पश्चिम भारतीय या गुजराती शैली (राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली)
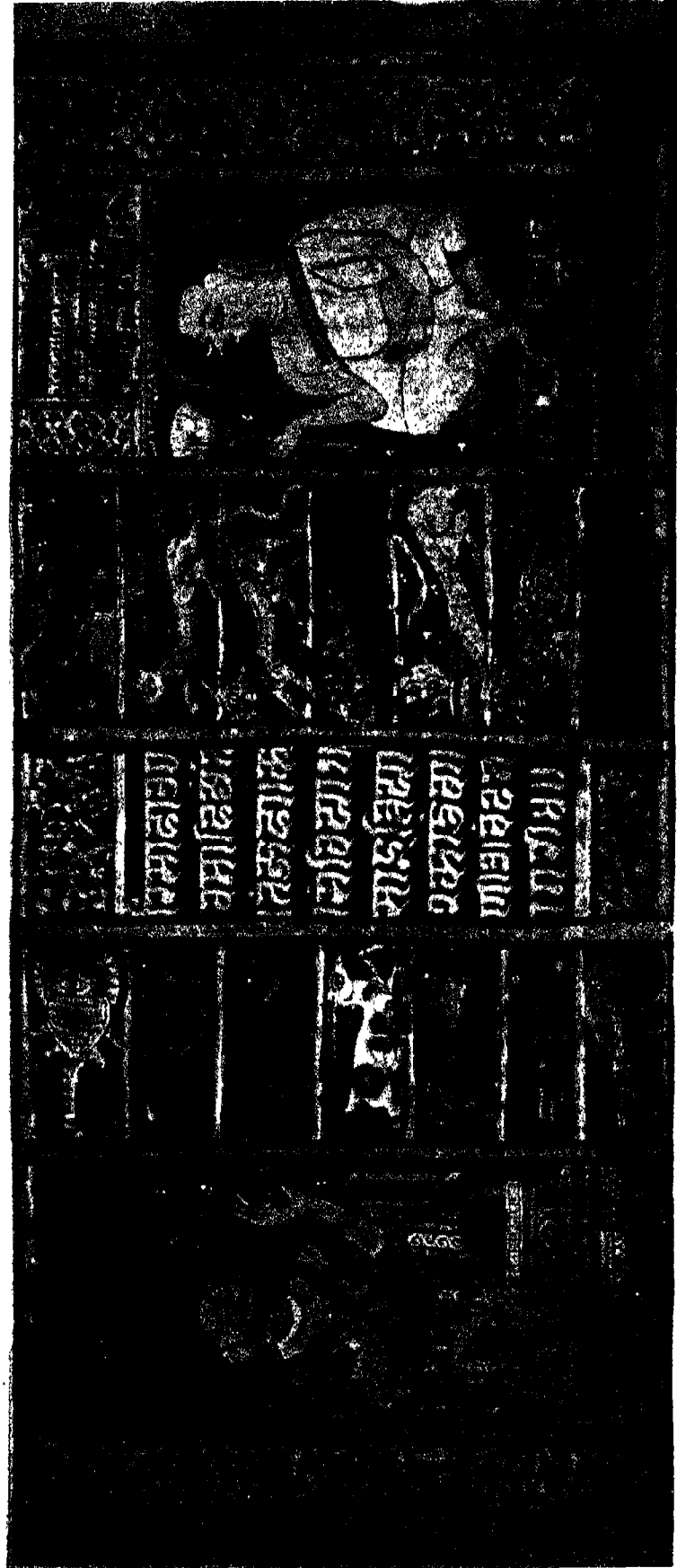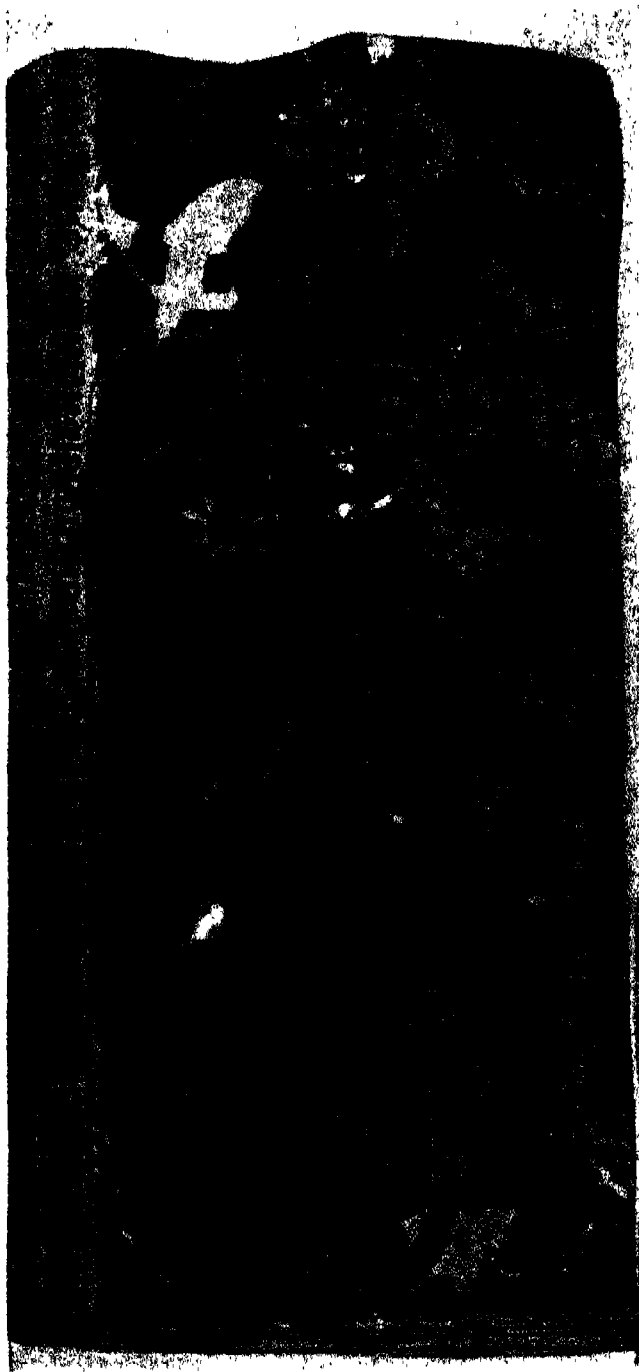
29 इंद्र और इंद्राणी द्वारा मरुदेवी को बधाई, महापुराण के एक पत्र पर, लगभग 1420 ई० (लेख में देखिए जहां इससे बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली में, उत्तर-भारतीय शैली (दिगंबर जैन मंदिर, पुरानी दिल्ली का संग्रह)

30 (क) पशु माही ने सर्प को मारा और बदले में उसपर अन्य पशु ने आक्रमण किया, यशोधर-चरित के एक पत्र पर, 1494 ई०, गुजरात, कदाचित् सोजित्र (निजी संग्रह)
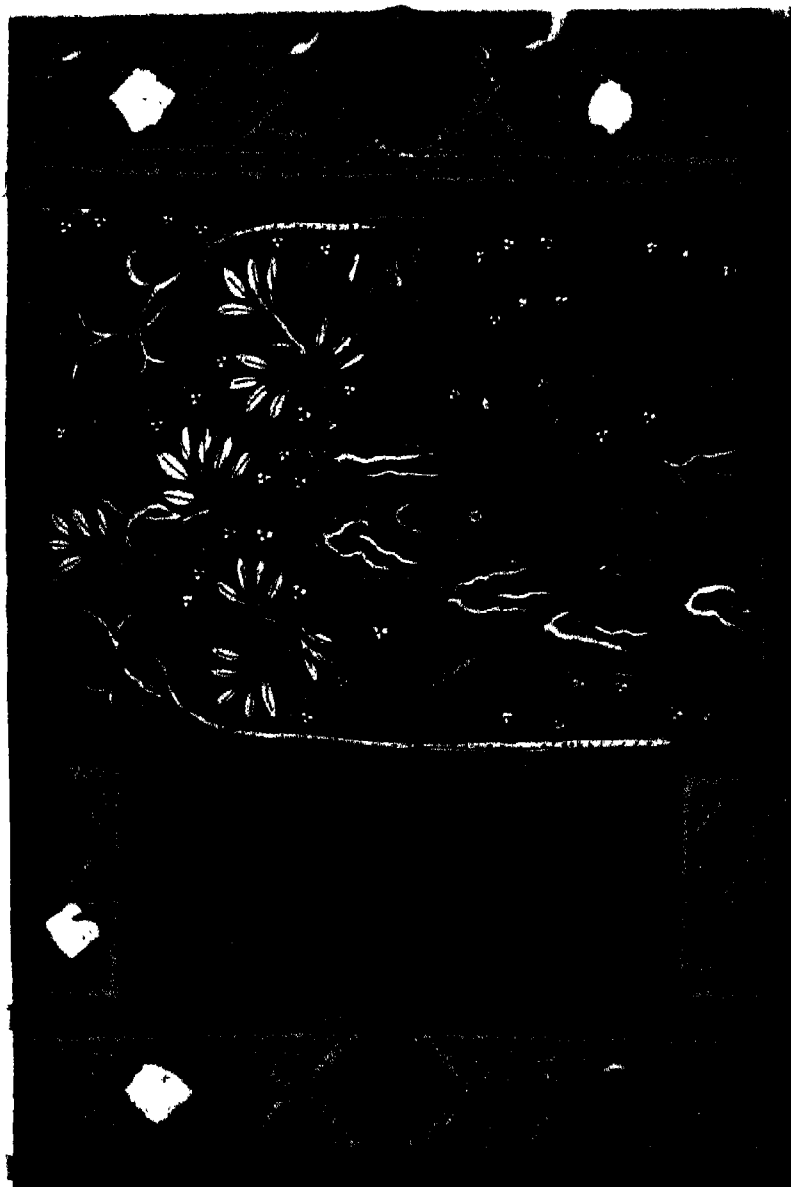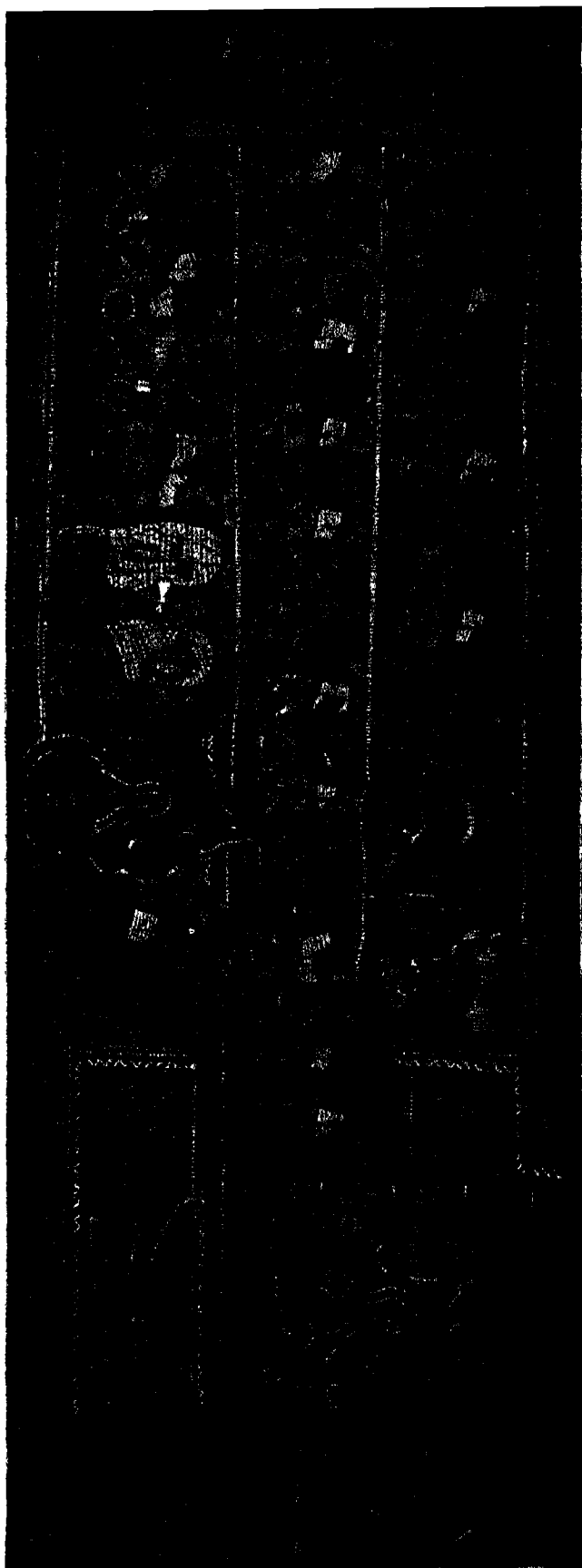
30 (ख) राजा मारिदत्त द्वारा देवी को बलि का उपक्रम, उपर्युक्त पाण्डुलिपि के एक लेख पर (30 क)
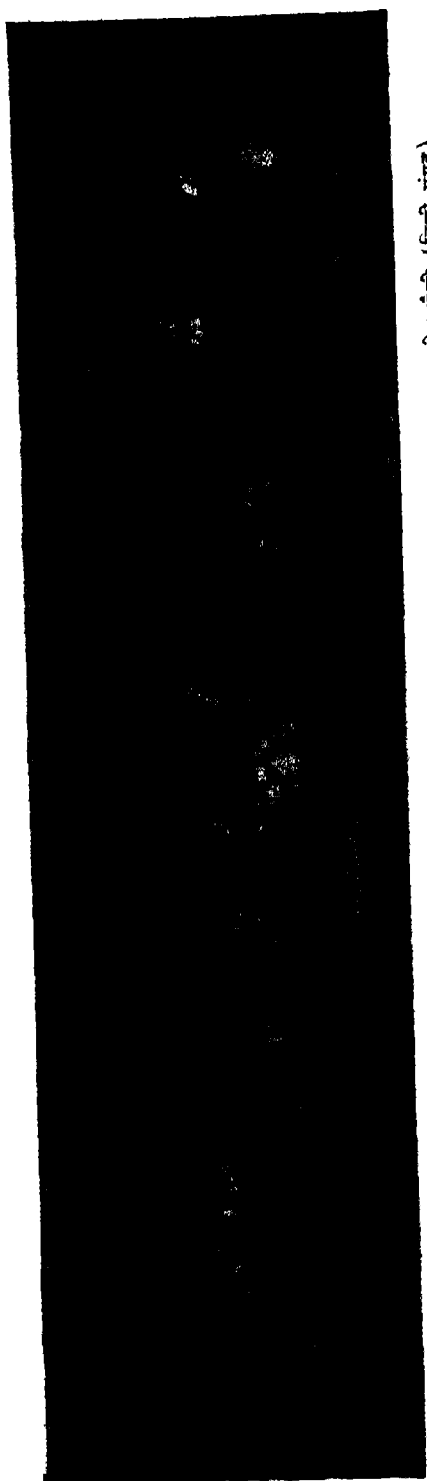
32 परिचारकों के साथ पार्श्व, पासणाहचरिउ के एक पत्र पर, 1442 ई०, ग्वालियर में चित्रांकित, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

31 भविसयत्त की समुद्र-पार की यात्रा, भविसयत्त-कहा के एक पत्र पर, लगभग 1430 ई० (लेख में देखिए जहां इससे बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी सग्रह)
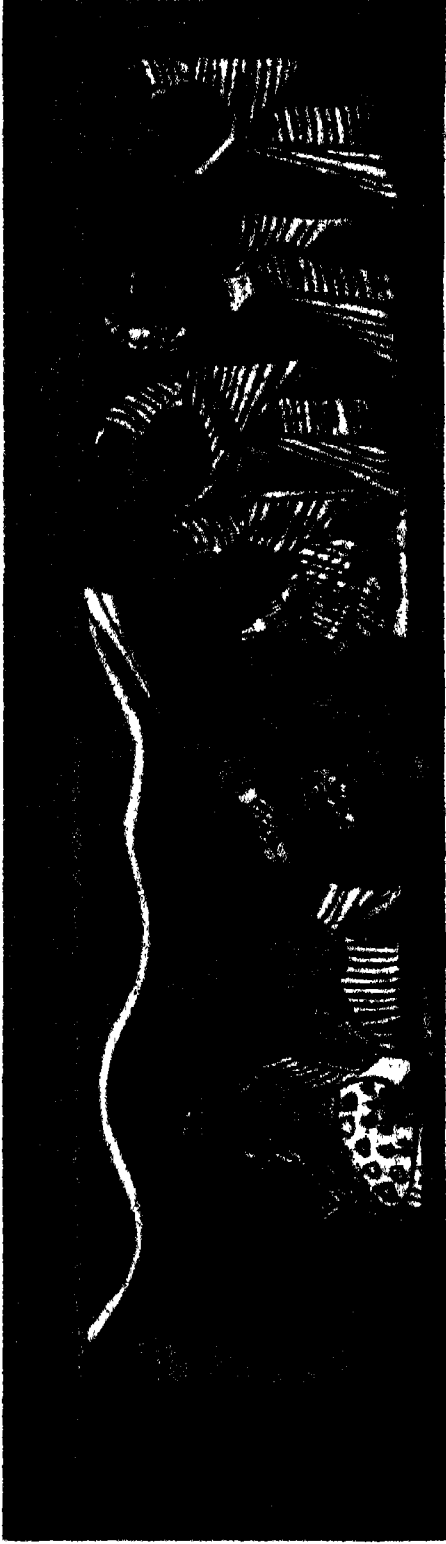
33 चंद्रमति यशोधर को बलि के लिए आटे से बना हुआ मुर्गा दिखा रही है, जसहर-चरिउ के एक पत्र पर, लगभग 1440-50 ई०, कदाचित् ग्वालियर, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

34 मुनि सुदत्त के दर्शन करते ही अभयमति और अभयरुचि अचेत हो गये, जसहर-चरिउ के एक पत्र पर, लगभग 1454 ई०, कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

35 परिचारकों-सहित शांतिनाथ, शांतिनाथ-चरिउ के पत्र पर, लगभग 1420-60 ई०, (लेख में देखिए जहाँ इसके बाद के समय पर विचार किया गया है) कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

36 (क) विद्याधर अग्निबल, आदिपुराण (वर्ग–1) के एक पत्र पर, लगभग 1450 ई० (लेख में देखिए जहां इसके बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)
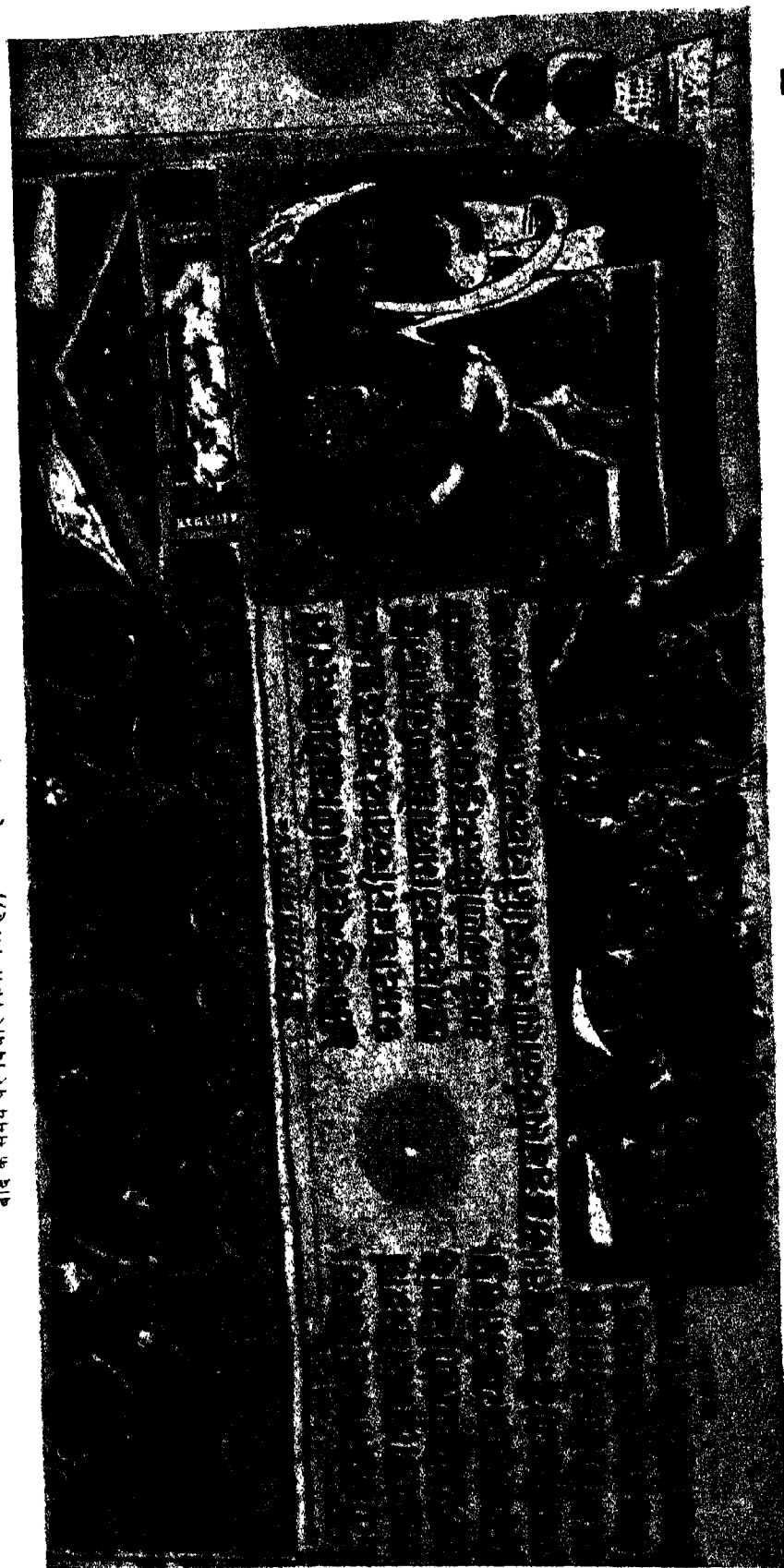
36 (ख) श्रेणिक द्वारा समवसरण की महिमा का वर्णन, आदिपुराण (वर्ग-1) के एक पत्र पर, लगभग 1450 ई०
(लेख मे देखिए जहां इससे बाद से समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली,
उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

36 (ग) श्रीमति और वज्रजंग के विवाह का उत्सव मनाती संगीत-मण्डली, आदिपुराण (वर्ग-2) के एक पत्र पर, लगभग 1475 ई० (लेख में देखिए जहाँ इससे बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

36 (घ) नर्तक, आदिपुराण (वर्ग-2) के एक पत्र पर, लगभग 1475 ई० (लेख में देखिए जहां इसमें बाद के समय पर विचार किया गया है), कदाचित् दिल्ली, उत्तर भारतीय शैली (निजी संग्रह)

37 राजा यशोधर अपने परिचारकों के साथ, यशोधर-चरित के एक पत्र पर, लगभग 1596 ई०, कदाचित् उत्तर गुजरात, पश्चिम भारतीय शैली (निजी संग्रह)

अर्धचंद्राकार छल्ले के रूप में आकाश को अंकित किया गया है। कभी-कभी इन दोनों आकारों को मिलाकर एक कर दिया गया है। ताड़-वृक्षों के अंकन की प्रारंभिक परंपरा निरंतर प्रचलित रही लेकिन इन चित्रों में ताड़-वृक्षों के लम्बोतरे-घुमावदार तने के स्थान पर सीधा तना, अण्डाकार पत्तों के स्थान पर गोल या त्रिकोणाकार रूप में पंक्तियों में आबद्ध पत्तियों का अंकन किया गया है। जल का अंकन पहले की भाँति परंपरागत ढंग से समकेंद्रिक, एक के ऊपर उठते एक हुए, घेरों के रूप में किया गया है। स्थापत्य की संरचनाओं में छोटे-छोटे गुंबद और उनके ऊपर कलश अंकित हैं। पूर्व के चित्रों में रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए पुष्पों का जो अंकन किया जाता था वह इन चित्रों में नहीं पाया जाता। बड़े-बड़े रिक्त स्थानों को आलंकारिक वृत्ताकार पदकों से आपूरित कर दिया गया है। इस पाण्डुलिपि के चित्रों में कुछ व्यक्तियों को हाथों में कोई वस्तु लिये हुए दर्शाया गया है, जो कमल की कली जैसी दिखाई देती है। यह चित्रण असामान्य है और ऐसा अन्यत्र नहीं पाया जाता।

पासणाह-चरिउ की चित्रण-शैली तथा चित्र-संयोजन के समान एक दूसरी सचित्र पाण्डुलिपि जसहर-चरिउ की है जिसके भी रचनाकार रइधू हैं। इस समानता के आधार पर यह स्पष्ट है कि दोनों ही पाण्डुलिपियाँ रंगों के चयन, उनपर सर्वत्र की गयी हलके पीले रंग की वार्निश, तथा विषय-संयोजन आदि के लिए एक ही शैलीगत मान्यताओं से अनुशासित हैं, यद्यपि विषय-संयोजन में पासणाह-चरिउ के विपरीत कभी-कभी चित्र-फलक का घेरा वस्त्र के उड़ते हुए छोर अथवा घेरे पर अंकित मानव-आकृतियों के कारण टूट गया है। (चित्र २८० ख)। इन दोनों पाण्डुलिपियों का साम्य मानव-आकृति के अंकन तक ही सीमित है (चित्र २८० ख की चित्र २८० क से तुलना कीजिए)। नारियों को प्रायः साड़ी पहने और पुरुषों को धोती एवं उत्तरीय पहने दर्शाया गया है (रंगीन चित्र ३३)। शिकारियों को जामा और पैजामा पहने हुए दर्शाया गया है। दोनों पाण्डुलिपियों के दृश्य-चित्रों के अंकन में किसी प्रकार का कोई विशेष अंतर नहीं है, लेकिन मण्डप के स्थापत्यीय अंकन में एक अंतर है। इस पाण्डुलिपि में चित्रित मण्डप के स्थापत्य में उसकी बाह्य संरचना में तीन या पाँच गुंबद हैं जो लाल रंग से रँगे हुए हैं। इस दोनों पाण्डुलिपियों की और पासणाह-चरिउ की परस्पर घनिष्ठ समानता के आधार पर इस पाण्डुलिपि के लिए लगभग सन् १४४०-५० का समय निर्धारित किया जा सकता है, और इसके रचना-स्थल के लिए, इस संभावना के उपरांत भी कि यह शैली दिल्ली-क्षेत्र में प्रचलित रही हो सकती है, ग्वालियर-क्षेत्र निर्धारित किया जा सकता है।

इन दोनों पाण्डुलिपियों की शैली से थोड़ा भिन्न, लेकिन इन्हीं की परंपरा में चित्रित, सांतिणाह-चरिउ की एक अपूर्ण पाण्डुलिपि भी है। इसके रचनाकार भी कवि रइधू हैं। इसके चित्रों में शैली, चित्रों का नियोजन तथा पुरुषों के हाथों पर रखे हुए कमल की कली के समान वस्तु के अंकन की विशेषता आदि में पूर्ववर्ती दोनों पाण्डुलिपियों की मान्यताओं का निर्वाह हुआ है। रंग-योजना में हलके रंगाभासों को प्राथमिकता दी गयी है लेकिन इस पाण्डुलिपि के चित्रों से यह निश्चित कर पाना कठिन है कि इन चित्रों में अन्य दोनों पाण्डुलिपियों की भाँति हलके पीले रंग की वार्निश का प्रयोग किया गया है

या नहीं । लापरवाही से चित्रित इन चित्रों में मानव-आकृतियों को भद्दे अनुपात में चित्रित किया गया है, जिनमें सिर बड़े-बड़े हैं और आँखें उभरी हुई है, लेकिन मुद्राएँ सजीव हैं (चित्र १८१ क) । इन चित्रों में सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व वेश-भूषा का है । नारियों को साड़ी या धोती और दुपट्टा पहने हुए दिखाया गया है लेकिन पुरुषों को सामान्यतः फारसी-शैली से प्रभावित वेश-भूषा में दर्शाया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि पुरुष-वर्ग समसामयिक सलतनतकालीन प्रभाव के पक्ष में थे और वे लंबा जामा अथवा तंग पैजामे के साथ छोटा कुरता पहनते थे (रंगीन चित्र ३५) । इसके साथ वे पटका और उत्तरीय भी पहनते थे, सिर पर पगडी बाँधते थे । यह वेश-भूषा सिकंदर-नामा तथा भारत कला भवन में सुरक्षित लोर-चंदा एवं तूबिन्गेन के हम्ज़ा-नामा की पाण्डुलिपि के चित्रों में दर्शायी वेश-भूषा से मूल रूप से मिलती-जुलती है ।[1]

इस पाण्डुलिपि की शैली उत्तर-भारत की चित्र-परपरा की विकासमान अवस्था का प्रतिनिधित्व करती हुई प्रतीत होती है, अतः ऐसा ज्ञात होता है कि यह पाण्डुलिपि लगभग सन् १४५०-६० की कालावधि में रची गयी है परंतु इस संभावना को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस कालावधि से इस पाण्डुलिपि की तिथि कुछ उत्तरवर्ती भी हो सकती है । यह पाण्डुलिपि यद्यपि ग्वालियर में लिपिबद्ध एवं चित्रित हुई मानी जाती है तथापि इसमें चित्रित फारसी से प्रभावित सुलतानी वेश-भूषा की प्रमुखता यह भी संकेत देती है कि यह पाण्डुलिपि दिल्ली-क्षेत्र में चित्रित हुई हो क्योंकि ग्वालियर और दिल्ली दोनों ही केंद्रों में चित्रों की एक ही परंपरा प्रचलित रही है ।

कवि रइधू-कृत जसहर-चरिउ की एक अन्य प्रति भी उपलब्ध है जिसपर सन् १४५४ की तिथि अंकित है । इसके प्रथम बयालीस पृष्ठ उपलब्ध नही है परतु शेष पृष्ठों पर अंकित चित्रों से स्पष्ट है कि यह पाण्डुलिपि शैलीगत रूप मे अपने से पूर्ववर्ती एवं पूर्व विवेचित तीनों पाण्डुलिपियों की परंपरा से संबद्ध है । इसके चित्र शैलीगत और रीतिबद्ध हैं । इन चित्रों में पूर्ववर्ती चित्रों से भिन्न एक विशेषता यह है कि इनमें बाह्य रेखांकन के लिए लाल रंग का उपयोग किया गया है (रंगीन चित्र ३४) । रग-योजना भी पूर्ववर्ती चित्रों के समान है । चित्रों में हलके रंगों का प्रयोग किया गया है तथा इनमें किसी प्रकार की वार्निश का प्रयोग नहीं है । मानव-आकृतियाँ उद्धत प्रकृति की हैं तथा उसी प्रकार की वेश-भूषा में दर्शायी गयी है जो पूर्ववर्ती चित्रों में पायी गयी है । परतु सांतिणाह-चरिउ के विपरीत इन चित्रों में जामा और पैंजामा के लिए प्राथमिकता प्रदर्शित नहीं पायी जाती । मात्र एक चित्र में एक पुरुष को कुरता-पैजामा पहने दिखाया गया है । नारियों को साड़ी पहने दिखाया गया है जिसमें साडी की चुन्नटों को आगे की ओर निकला हुआ तथा कहीं-कहीं उन्हें साड़ी से पृथक् ही प्रतिकृति में अंकित किया गया है । वस्त्रों को प्रायः श्वेत या एक ही रंग में रँगा हुआ दर्शाया गया है । यदि कहीं वस्त्रों को अलकृत दिखाया गया है तो उनमें बिन्दुओं से बनी पट्टियों अथवा चौखाने की डिजाइन अंकित की गयी है । दृश्य-चित्रों में आकाश को नाटकीय रूप से लहरदार पट्टियों में अंकित किया गया है

1 रंगीन चित्र 35 एव चित्र 281 क की तुलना खण्डालावाला एवं मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1968, चित्र 99, 101-15 तथा 117-23 से कीजिए.

जिसमें ऊपरी सतह श्वेत रंग में और निचली सतह गहरे नीले रंग में चित्रित है (चित्र २८१ ख)। आकाश को प्राय: लहरदार पट्टी या घुमावदार छल्ले के रूप में या चित्र के ऊपरी कोने में स्थान ग्रहण किये हुए अंकित किया गया है। वृक्ष को उसके तने सहित भीतर की ओर झुका हुआ दिखाया गया है। उसकी पर्णावली को कवि रइधू-कृत तीनों पाण्डुलिपियों के चित्रों की अपेक्षा नया मंदिर स्थित महा-पुराण के चित्रों की भांति अंकित किया गया है। कहीं-कहीं पत्तों को पत्तियों के एक विशाल समूह के आकार में अंकित किया गया है।

यह पाण्डुलिपि ग्वालियर और दिल्ली---इन दोनों में से किसी एक स्थान पर चित्रित हुई हो सकती है। अधिकतर संभावना दिल्ली में चित्रित होने की है क्योंकि धारीदार या चौखाने की रूप-योजना-युक्त वस्त्र तथा चित्र-संयोजन में महराबदार रूप में झुके हुए वृक्षों का अंकन आदि कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो नया मंदिर स्थित महा-पुराण के चित्रों की विशेषताओं के अधिक निकट हैं।

कवि रइधू-कृत इन चारों कृतियों की सचित्र पाण्डुलिपियों का समूह उत्तर-भारत में विकसित चित्र-परपरा का ही मात्र अंकन प्रस्तुत नहीं करता अपितु इस काल की रचित माण्डू की कल्प-सूत्र और जौनपुर की कल्प-सूत्र आदि जैसी अन्य पाण्डुलिपियों की मानव-आकृतियों के अंकन और उनके धोती एवं उत्तरीय पहनने तथा नारियों द्वारा साड़ियों के पहनने के ढंग आदि की शैलीगत समानता को भी प्रदर्शित करता है।[1] इन समानताओं से भी अधिक कुछ ऐसी समानताएँ, जो पहचानी जा चुकी हैं, सिकंदर-नामा, भारत कला भवन के लौर-चंदा और तूबिन्गेन के हम्ज़ा-नामा आदि पाण्डुलिपियों के चित्रों में पायी जाती हैं। ये विशेषताएं मुख्यत: लंबे जामा, कुरता-पैजामा जैसी वेश-भूषा तथा साड़ी के बाँधने के ढंग में देखी जाती हैं, जिसमें साड़ी की चुन्नट आगे की ओर निकली हुई दर्शायी गयी है।[2] बाद की पाण्डुलिपियों के इस समूह में एक हिन्दू व्यक्ति की आकृति में एक विजातीय प्रकार का अंकन है जो कि पासणाह-चरिउ तथा तिथि-रहित जसहर-चरिउ[3] की पाण्डुलिपि-चित्रों में अंकित आकृतियों से समानता रखता है। इन दोनों प्रकार की पाण्डुलिपियों के समूह में जो समानताएँ हैं वे इस पूर्वोक्त मत का समर्थन करती हैं कि सिकंदर-नामा आदि पाण्डु-लिपियों के समूह का चित्रांकन दिल्ली और उसके समीप हुआ होगा। इसके आधार पर यह सुझाव दिया जाना भी संभव है कि इनका रचनाकाल पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध[4] की अपेक्षा लगभग

---

1 रंगीन चित्र 33, 34 तथा चित्र 280 क, ख की तुलना खण्डालावाला और मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1968, चित्र 2, 4 और रेखाचित्र 11, 15-18, 33, 36, 39, 43, 44 से कीजिए.

2 रंगीन चित्र 32, 34, 35 की तुलना पूर्वोक्त, रेखा चित्र 90, 101, 102-104, 109, 117, 118, 125 से कीजिए.

3 रंगीन चित्र 33 और चित्र 281 क, ख की तुलना पूर्वोक्त, रेखाचित्र 99, 101-103, 108 से कीजिए.

4 पूर्वोक्त, पृ 50, 53.

सन् १४५० रहा होगा, यद्यपि यह विवाद-ग्रस्त है। सिकंदर-नामा आदि पाण्डुलिपियों के समूचे समूह तथा उनके साथ चौर-पंचासिका आदि पाण्डुलिपियों के समूह को खण्डालावाला एवं डॉ. मोतीचंद्र ने गत वर्ष सन् १९७४ में बबई से प्रकाशित 'एन इलस्ट्रेटड आरण्यक पर्वन ऑफ दि एशियेटिक सोसाइटी' शीर्षक अपनी पुस्तक में उस समूह में वर्गीकृत किया जिसे उन्होंने चित्रकला की 'लोदी-शैली' के नाम से अभिहित किया है। उन्होंने सिकंदर-नामा, हम्ज़ा-नामा और लौर-चंदा के रचनाकाल के लिए पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्ष के समय को प्राथमिकता दी है परंतु इसके साथ ही उन्होंने यह भी सुझाव दिया है कि पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की कोई तिथि भी उनके यथार्थ समय के आस-पास हो सकती है।

आदि-पुराण की एक अन्य पाण्डुलिपि भी उपलब्ध है जिसके चित्र अपनी एक निजी शैली में अंकित हैं; तथापि, यह पाण्डुलिपि उत्तर-भारत की चित्र-परपरा से संबद्ध है। यह पाण्डुलिपि वैसे तो पूर्ण है परंतु इसके अंतिम भाग में चित्रांकन नहीं हो पाया है। चित्रों के लिए छोड़े गये निर्धारित स्थान रिक्त ही रह गये हैं। उत्तर-भारतीय चित्र-परंपरा की अन्य पाण्डुलिपियों की भाँति इस पाण्डुलिपि की चित्र-योजना में विभिन्न आकार-प्रकार के अनेकानेक चित्र सन्निहित हैं। इस पाण्डुलिपि में यद्यपि अधिकांश पृष्ठों के दायीं अथवा बायी ओर चित्र अंकित हैं तथापि कुछ पृष्ठों पर चित्रों का नियोजन रोचक है जिसके अंतर्गत लिखित मूलपाठ और अंकित चित्र के मध्य एक पारस्परिक संबंध दिखाई पड़ता है। इससे उस प्रकार के प्रयास का उद्घाटन होता है जो फारसी पाण्डुलिपियों में देखा गया है (रंगीन चित्र ३६ क, चित्र २८२ क, ख एवं २८३ क)। प्रतीत होता है कि चित्र छोटे-छोटे फलकों में अंकित किये गये थे जो बाद में एक-दूसरे से जोड़ दिये गये हैं (चित्र २८२ ख)।

इस पाण्डुलिपि के सचित्र पृष्ठों को शैलीगत आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकना है। पहले वर्ग में पृष्ठ १ से ३९ तक, दूसरे वर्ग में ४० से १६० तथा तीसरे वर्ग में पृष्ठ १६१ से १७७ तक के चित्र रखे जा सकते हैं। दूसरे और तीसरे वर्ग के चित्रों से संभवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हे पहले वर्ग के अनुवर्ती किसी काल में पूर्ण करने का प्रयास किया गया है।

पहले वर्ग के चित्रों की शैली से ज्ञात होता है कि इस पाण्डुलिपि में मात्र रग-योजना को छोड़कर शेष में उत्तर-भारतीय शैली का निर्वाह किया गया है। इन चित्रों की रंग-योजना पूर्ववर्ती चित्रो से कही अधिक विस्तृत है और रेखांकन कहीं अधिक शैलीगत एवं रीतिबद्ध हो गया है। मानवाकृतियाँ आकर्षक हैं और उनके चेहरे अधिक कोणीय हैं (रंगीन चित्र ३६ क, चित्र २८२ क)। पुरुषों के चेहरे पर जबड़े की रेखा के साथ दूसरे रंग का प्रयोग चेहरे पर दाढ़ी होने का संकेत प्रदर्शित करता है (चित्र २८२ क)। पुरुषों को ऊँची धोती, असामान्य रूप से कम लपेटा हुआ उत्तरीय एवं ऊँची पगड़ी पहने हुए दर्शाया गया है। कही-कहीं पुरुषों को जामा और ऊँचे जूते पहने हुए भी दिखाया गया है। नारी-आकृति में उन्हें साड़ी पहने हुए चित्रित किया गया है जिनमें उनकी साड़ी की चुन्नटें बाहर की ओर निकली हुई हैं तथा साड़ी का पल्ला उड़ती हुई पट्टी के रूप में वक्षस्थल पर

तिरछे रूप में होकर जाता हुआ दर्शाया गया है। वस्त्रों की अभिकल्पना में धारियाँ या अनगढ़ रूप-रेखाएं अंकित हैं। दृश्य-चित्रों को काल्पनिक रूप से अंकित किया गया है (रंगीन चित्र ३६ ख)। उदाहरण के लिए, वृक्षों को उनके तनों से लिपटी हुई लताओं के साथ प्रदर्शित किया गया है; वृक्षों के पत्तों के मध्य पक्षियों या बंदरों को बैठे हुए दर्शाया गया है; पत्तियों की नसों को पीले या लाल रंग में चित्रित किया गया है और उन्हें सामान्यतया पंक्तियों या वृत्ताकार रूपाकारों में व्यवस्थित किया गया है। पर्वतों के अंकन में चट्टानों को सर्पिल शीर्ष से युक्त दर्शाया गया है। पर्वतों के मूल-भूत अंकन से इन्हें भिन्न रूप में अंकित किया गया है। कहीं-कहीं इन पर्वतों को घटाकर अर्धवृत्ताकार चट्टानों को एक-दूसरे के ऊपर चिने हुए रूप में अंकित किया गया है तथा कहीं-कहीं चट्टानों को मैदानी क्षेत्र में फैले हुए रूप में भी दर्शाया गया है। बादलों को विद्युत् की चमक के साथ सजीव रूप से अंकित किया गया है। इस पाण्डुलिपि के चित्रों के चित्र-फलकों में सर्वप्रथम विशुद्ध प्राकृतिक दृश्यों का अंकन किया गया है। स्थापत्यीय अंकन में नीची सतह वाली छतों तथा जालीदार दीवारों से युक्त मण्डप की बाह्य संरचनाओं को प्रदर्शित किया गया है।

इस पाण्डुलिपि के चित्रों से यह स्पष्ट है कि उत्तर-भारतीय परंपराओं के अंतर्गत परिभाषित होते हुए भी इसकी शैली जीवंतता और नवीनता-शोधी प्रवृत्तियों के कारण उनसे पृथक् विशिष्टताएँ रखती है। इससे भी अधिक रोचक एक तथ्य यह है कि इस पाण्डुलिपि की कुछ विशेषताओं की समानता चौर-पंचासिका आदि पाण्डुलिपियों के विवाद-ग्रस्त समूह के चित्रों में देखी जा सकती है।[1] इन विशेषताओं के अंतर्गत रंग-योजना की व्यापकता, पुरुषाकृति के चेहरे पर जबड़े की रेखा के साथ रंग-प्रयोग की विशेषता तथा योग-पट्ट को अपने घुटनों के पास रखे बैठी हुई मुद्रा में पुरुषाकृतियों का अंकन और वृक्षों की पत्तियों की नसों का लाल और पीले रंग से अंकन आदि की गणना की जा सकती है।[2] परंतु इससे कोई सुनिश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

इस पाण्डुलिपि के दूसरे वर्ग के चित्र यद्यपि शैलीगत मूलभूत आधार पर पहले वर्ग के चित्रों के समान हैं तथापि ये उनसे कुछ भिन्नता रखते हैं। इनमें प्रयुक्त रंग-योजना सीमित है जिसमें

---

1 इस समूह में चौर-पंचासिका सीरीज़ (नगरपालिका संग्रहालय, अहमदाबाद), लौर-चंदा की पाण्डुलिपि जिसका कुछ भाग लाहौर संग्रहालय में तथा कुछ भाग चण्डीगढ संग्रहालय में विभाजित है, भागवत्-पुराण सीरीज़ के कुछ पृथक्-पृथक् पृष्ठ, भारत कला भवन स्थित मृगावत की पाण्डुलिपि, मैनचेस्टर की राइलैण्ड्स लाइब्रेरी की लौर-चंदा पाण्डुलिपि, तथा प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूज़ियम की लौर-चंदा पाण्डुलिपि, सन् 1540 की चित्रित महापुराण की पाण्डुलिपि, बांबे एशियाटिक सोसाइटी की सन् 1516 की चित्रित आरण्यक-पर्वन्, विजयेंद्र-सूरि-राग-माला, प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय स्थित गीत-गोविंद की सचित्र पाण्डुलिपियाँ सम्मिलित हैं। इन समस्त सचित्र पाण्डुलिपियों का विश्लेषण मोतीचंद्र एवं कार्ल खण्डालावाला ने पूर्वोक्त, 1969, पृ 64-109 पर प्रस्तुत किया है, तथा 'एन इलस्ट्रेटेड आरण्यक पर्वन् ऑफ़ दि एशियाटिक सोसाइटी' 1974, बंबई, में इस समूह के चित्रों की शैली के लिए 'लोदी-चित्र-शैली' नाम दिया गया है।

2 रंगीन चित्र 35 क, ख और चित्र 282 क की तुलना मोतीचंद्र एवं खण्डालावाला, पूर्वोक्त, 1969, चित्र 16, 20, 21 से कीजिए.

मुख्यतः नीले, श्वेत और फीके हरे रंग का प्रयोग हुआ है। रेखांकन अधिक दक्षतापूर्ण है, तथा उसमें आलोड़ित लय तथा सौंदर्य है जो अबतक इस परंपरा में नहीं पाया गया था (रंगीन चित्र ३६ ग, घ)। इस चित्र-समूह में सर्वाधिक उल्लेखनीय परिवर्तन मानव-आकृतियों की अंकन-विधि में पाया गया है। इस आकृतियों में चेहरे का पार्श्व-दृश्य अंकित किया गया है जो विशेष रूप से चौकोर है। इनमें विस्फारित आँखों का अंकन नहीं है। मानवाकृतियाँ अनेकानेक मुद्राओं में हैं। योग-पट्ट को अपने घुटनों के पास रखे बैठी हुई मुद्रा में मानव-आकृति का अकन इस काल में इस शैली की एक सुस्पष्ट विशेषता बन गयी थी। पुरुषों को इन चित्रों में धोती और उत्तरीय-जैसी प्राचीन परंपरागत वेश-भूषा में दर्शाया गया है या फिर जामा और पैजामा-जैसी फारसी-शैली की सुलतानी नयी वेश-भूषा में (रंगीन चित्र ३६ ग)। इन पोशाकों के साथ या तो ऊँची उठी हुई गोल टोपी के आगे पगड़ी या फिर सादा अथवा जालीदार कुलाह के चारों और लपेटकर बँधी पगड़ी पहने हुए दिखाया गया है (चित्र २८२ ख)। महिलाओं को उसी प्रकार की साड़ी पहने हुए अंकित किया गया है जिस प्रकार वे इससे पूर्व के पाण्डुलिपि-चित्रों में पहने दिखायी गयी हैं। इनके निदर्शन में मात्र एक नया तत्त्व झुमके का अकन सम्मिलित किया गया है (रंगीन चित्र ३६ ग)। इनमें दर्शाये गये वस्त्र प्रायः मोटे प्रकार के हैं जो सामान्यतः श्वेत हैं और उनपर किसी प्रकार की अभिकल्पना नहीं है। दृश्य-चित्रों का अंकन उत्तर-भारतीय परंपरा के अनुरूप है जिसमें पत्तियों के एक बड़े समूह से युक्त वृक्ष का अंकन सन् १४५४ की चित्रित जसहर-चरिउ के अंकन जैसा है; परंतु इसका अकन कहीं अधिक संवेदनशील और आकर्षक है। कहीं-कहीं तो वृक्ष के पत्तों के समूह के चारों ओर पीले और श्वेत तारे दर्शाये गये हैं। स्थापत्यीय अकन में मण्डप की संरचना पूर्व की भाँति रही है जिसकी बाह्य संरचना में धारीदार या लहरदार गुबद अथवा स्तूपिका-युक्त सपाट छतरी प्रदर्शित है। कहीं-कहीं छतरी के किनारे के साथ पंक्तिबद्ध कंगूरे अंकित हैं। मण्डप की आंतरिक सज्जा में छतरी का उपयोग किया गया है जो छतों से छल्लों में बँधे हुए दिखाये गये हैं। इसके नीचे पलंग अंकित हैं जिनपर कहीं-कही आयताकार गद्दे बिछे हुए दिखाई देते हैं (चित्र २८३ क)। धर्म-संबंधी विषय-वस्तु को सामान्य रूप मे रूपायित करने की प्रवृत्ति इस शैली में विकसित एक ऐसी उल्लेखनीय विशेषता है जो इस पाण्डुलिपि में परिलक्षित होती है।

समसामयिक चित्रों की अनेक विशेषताओं को पाण्डुलिपियों के एक समूह में भली-भाँति देखा जा सकता है। पाण्डुलिपियों के इस समूह को चौर-पंचासिका-समूह के नाम से जाना जा सकता है। इस समूह के चित्रों में मानव-आकृतियों की अवधारणा को प्रमुख स्थान मिला है। इनमें उपरोक्त पाण्डुलिपि की भाँति चौकोर चेहरे का अंकन हैं जिसमें चित्रित आँखें लंबी और बड़ी-बड़ी हैं, तथा योग-पट्ट को अपने घुटनों के पास रखकर बैठे हुए मानव की आकृति भी समान मुद्रा में चित्रित है। वेश-भूषा में भी कुछ समानताएँ मिलती है जिनमें महिलाओं द्वारा पहने गये झुमके-जैसे आभूषणों का सूक्ष्मांकन भी सम्मिलित है। उपरोक्त पाण्डुलिपि में वृक्ष के पत्तों के चारों ओर तारों का चित्रण, रथ एवं मण्डप का आकार, उनके गुंबद एवं कंगूरे तथा आंतरिक सज्जा आदि का जिस प्रकार

सामान्यतः अंकन पाया गया है — ठीक इसी प्रकार का अंकन चौर-पंचासिका पाण्डुलिपि-समूह के चित्रों में भी पाया जाता है ।[1]

आदि-पुराण के तीसरे एवं अंतिम वर्ग के चित्र शताब्दियों पश्चात् चित्रित किये गये हैं तथा ये चित्र अत्यंत निम्न श्रेणी के हैं ।

यद्यपि वर्ग एक एवं दो के चित्र शैलीगत रूप में परस्पर कुछ भिन्नताएँ रखते हैं और वे दोनों अपनी निजी समान विशेषताएँ भी रखते हैं, तथापि उन दोनों का उत्तर-भारतीय कला की विशेषताओं से साम्य सरलता से पहचाना जा सकता है । दोनों में चौर-पंचासिका पाण्डुलिपि-समूह के चित्रों से भी कुछ समानताएं हैं यद्यपि इनके अभिप्राय भिन्न हैं । दूसरे वर्ग के चित्र पहले वर्ग के चित्रों की अपेक्षा चौर-पंचासिका से कहीं अधिक समानता रखते हैं । इस प्रकार इस पाण्डुलिपि के माध्यम से इसके चित्रों की शैली और चौर-पंचासिका-समूह के चित्रों की उस शैली के मध्य पारस्परिक संबध स्थापित किया जा सकता है जो उत्तर-भारत में विद्यमान थी ।

उत्तरी क्षेत्र में चित्रित अन्य पाण्डुलिपियों की अपेक्षा आदि-पुराण की कहीं अधिक परिष्कृत शैली एक ऐसे प्रमुख केंद्र की ओर अंगुलि-निर्देश करती हैं जहाँ पर ये पाण्डुलिपियाँ चित्रित हुई । संभवत यह केंद्र दिल्ली था । सन् १४४२ की पासणाह-चरिउ तथा सन् १४५४ की जसहर-चरिउ की शैली से इस पाण्डुलिपि के चित्रों की शैलीगत समानताओं के आधार पर निरीक्षण करने पर प्रतीत होता है कि प्रथम वर्ग के चित्र दूसरे वर्ग के चित्रों की अपेक्षा पहले चित्रित हुए हैं । यह पाण्डुलिपि संभवतः लगभग सन् १४५० में चित्रित हुई है । दूसरे वर्ग के चित्र, जो पहले वर्ग के चित्रों के उपरांत चित्रित हुए, रंग-योजना तथा अभिप्रायों की अवधारणा में उत्तरी शैली से घनिष्ठ रूप से सबद्ध और मानव-आकृति के अंकन, दृश्य-चित्रण तथा स्थापत्यीय अंकन में सन् १५१६ की आरण्यक-पर्वन् की पाण्डुलिपि से संबद्ध हैं ।[2] इन समानताओं के आधार पर इसके लिए लगभग सन् १४७५ की तिथि निर्धारित की जा सकती है । इस पाण्डुलिपि के दोनों वर्गों के चित्र शैलीगत आधार पर जो परस्पर भिन्नता रखते है वह अधिक से अधिक पच्चीस वर्ष की कालावधि की भिन्नता प्रतीत होती है । खण्डालावाला के मतानुसार इन वर्गों के चित्र परस्पर पृथक्-पृथक् निजी विशेषताएं रखते है इसलिए इन दोनों वर्गों के चित्र पर्याप्त लंबे कालांतर में, भिन्न-भिन्न कालों में चित्रित हुए हैं । उनके सुझाव के अनुसार, पहले वर्ग के चित्र पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध अर्थात् लगभग सन् १४७५-१५०० में चित्रित हुए हैं और दूसरे वर्ग के चित्र लगभग सन् १५४० के चित्रित महा-पुराण, जिसका विवरण आगे दिया जायेगा, के रचनाकाल के आसपास चित्रित हुए हैं ।

---

1 रंगीन चित्र 36 ग, घ तथा चित्र 282 ख, 283 क की तुलना खण्डालावाला, एवं मोतीचंद्र पूर्वोक्त, 1968, चित्र 16, 20, 21, 23 तथा रेखाचित्र 187, 189, 191, 194, 199 से कीजिए.

2 रंगीन चित्र 15 ग, घ तथा चित्र 282 ख, 283 क की तुलना पूर्वोक्त, चित्र 13-16 से कीजिए.

अतः उनके अनुसार दूसरे वर्ग के चित्र लगभग सन् १५२० और १५४० के मध्यवर्ती किसी काल में चित्रित हुए हैं।

उत्तर-भारत में प्रचलित उस शैलीगत प्रवृत्ति के, जिसे पहले आदि-पुराण (दूसरे वर्ग के चित्र) में देखा जा चुका है, निरंतर प्रवहणशील विकास का प्रमाण पालम (दिल्ली के निकट) सन् १५४० की प्रणीत तथा चित्रित महा-पुराण की सचित्र पाण्डुलिपि के चित्रों में देखा जा सकता है।[1] यह इसके चित्रों की योजना से स्पष्ट है; यद्यपि इस समय आकार का संयोजन कहीं अधिक विस्तृत हो गया था। इसके कई चित्र समूचे पृष्ठ के आकार के है और कई चित्र लंबे क्षैतिजिक चित्र-फलक के रूप में पृष्ठ को भी पार कर गये हैं। इसमें अधिकांशतः चित्र पृष्ठ को दायीं अथवा बायीं ओर अंकित हैं। कहीं-कहीं चित्र पृष्ठ की दायी और बायीं दोनों ओर चित्रित हैं तथा कहीं-कहीं पृष्ठ के मध्य में। रेखांकन में कुछ दुर्बलताएँ भी पायी जाती हैं, इनमे रेखाएँ अपनी पूर्ववर्ती लयात्मक गति को खो चुकी हैं। इसके उपरांत भी चित्रांकन निपुणतापूर्ण है और उसमें गत्यात्मकता है (चित्र २८४)। रंग-योजना में अधिक से अधिक रंगों को सम्मिलित किया गया है तथा चित्रों पर वार्निश भी की गयी है। कई चित्र-फलकों को मिलाकर बड़े आकार के चित्रों का संयोजन किया गया है। इन चित्रों की विषय-वस्तु में धर्म-निरपेक्ष संदर्भों के अंकन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

मानव-आकृतियों और उनकी वेश-भूषा का अंकन उसी प्रकार का पूर्ववत् रहा है जो उत्तर-भारत की परंपरा में चित्रित पहले की पाण्डुलिपियों में देखा जा चुका है। पुरुषों की आकृतियों के अनेक चेहरों में जबड़े की रेखा तथा ऊपरी होंठ के ऊपर उसी प्रकार के रंग का प्रयोग किया गया है जिस प्रकार का आदि-पुराण के पहले वर्ग के चित्रों में देखा जा चुका है। बैठने की मुद्रा में परिवर्तन के अतिरिक्त मानव-आकृति के अंकन में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। दृश्य-चित्रों, स्थापत्यीय अभिप्रायों, रथों और सिंहासनों का अंकन पूर्ववर्ती पाण्डुलिपियों की भाँति प्रचलित परंपरा के अनुसार ही किया गया है। आम के वृक्ष, परकोटे-युक्त नगर तथा मण्डपों में बैठे हुए नगरवासियों का अंकन इन चित्रों में पहली बार हुआ है, जिन्हें इन चित्रों की नवीनता में परिगणित किया जा सकता है (चित्र २८४)।

यह पाण्डुलिपि उत्तर-भारतीय चित्रों की शैली के विकास में एक चरम बिंदु प्रस्तुत करती है। इसके साथ ही इसे चौर-पंचासिका-समूह की पाण्डुलिपियों की शैली से संबद्ध भी माना जा सकता है क्योंकि उस समूह की पाण्डुलिपियों के चित्रों की भाँति इसमें बहुविधि रंग-योजना का उपयोग हुआ है और इसकी मानव-आकृतियों के पार्श्व-दृश्य में अंकित चेहरे तथा उनकी मुद्राएँ भी उस समूह के चित्रों के समान हैं। दृश्य-चित्रों और स्थापत्य-संरचनाओं का अंकन, जिसमें तीर के

1 वही, पृ 69-78.

फलकों की रूपरेखा के आलंकारिक अभिप्राय भी सम्मिलित हैं, चौर-पंचासिका-समूह के चित्रों के अनुरूप है।[1]

आदि-पुराण की प्रारंभिक तिथि-रहित पाण्डुलिपि भी चौर-पंचासिका-समूह के चित्रों से कुछ समानताएँ रखती है। आदि-पुराण की पाण्डुलिपि तथा सन् १५४० की महा-पुराण की पाण्डुलिपि —इन दोनों पाण्डुलिपियों के समूहगत साक्ष्य यह संकेत देते हैं कि ये दोनों उस विकसित शैली की उदाहरण है जो चौर-पंचासिका-शैली में प्रस्फुटित हुई। इससे आगे ये पाण्डुलिपियाँ यह भी संकेत देती हैं कि चौर-पंचासिका की शैली का उद्गम उस चित्रकला में निहित है जो उत्तर-भारत में प्रचलित थी।[2]

दिल्ली और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में चित्रित इन समस्त सचित्र पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण हमें अकबर से पूर्व अर्थात् लोदी-वंश के शासनकाल के अंतर्गत इस क्षेत्र में विकसित चित्रकला की शैली के विषय में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध कराता है। इसके अतिरिक्त यह भी तथ्य हमारे सामने स्पष्ट है कि यद्यपि समसामयिक पश्चिम-भारत की शैली से पृथक् इस शैली की निजी विशेषताएं हैं तथापि वह उससे संबद्ध रही है। जब हम उत्तर-भारत की चित्र-शैली की तुलना पश्चिम-भारत की चित्र-शैली से करते हैं तो ज्ञात होता है कि उत्तर-भारत की चित्र-शैली के चित्र एक बहुत बड़ी संख्या में पाण्डुलिपि-चित्रों के रूप में रचे गये हैं और उनकी रचना अनावश्यक रूप से दोहरायी गयी है। पृष्ठ पर चित्र और लिखित सामग्री के संयोजन में पश्चिम-भारत के चित्रों की अत्यंत औपचारिक व्यवस्था-शैली की अपेक्षा उत्तर-भारत के चित्रों की व्यवस्था-शैली कम बाधक है तथा पश्चिम भारतीय विशेषता से कही अधिक खोजपरक है। इन चित्रों का चित्र-संयोजन जीवंत है। मानव-आकृतियों की वेश-भूषा, स्थापत्य और उसकी अंतर-साजसज्जा आदि विषय के चित्रण में दोनों शैलियों में स्थानीय विशेषताओं को स्थान प्राप्त हुआ प्रतीत होता है।

उत्तर-भारत की शैलीगत विशेषताएं चित्रांकन में नये आकारों के समावेश और चित्र-संयोजन की उपयुक्त विधियों के साथ प्रयोग करके, शैली के रूप में उसके विकास में सुदृढ़ प्रगति प्रस्तुत करती रही है। इसके विपरीत, पश्चिम-भारत की शैली ने, यद्यपि वह वैभव एवं लालित्यपूर्ण है, अपने निजी ढाँचे के अंतर्गत ही विकास किया, जिसके फलस्वरूप वह निःसत्त्व और गतिहीन होकर रह गयी।

सन् १५५६ में अकबर दिल्ली के सिंहासन पर बैठा और उसके द्वारा किये गये सांस्कृतिक विकास ने, जो उसके शासनकाल की एक विशेषता बन गया था, इस काल में चित्रात्मक अभिव्यक्ति

1 वही, चित्र 21 एवं रेखाचित्र 190, 191, 195.

2 खण्डालावाला एवं मोतीचंद्र, पूर्वोक्त, 1974.

के लिए अत्यंत निर्णायक प्रतिक्रिया सिद्ध हुई। पश्चिम-भारत की चित्र-शैली में इसका प्रभाव मानव-आकृतियों और उनकी वेश-भूषा के अंकन में देखा जा सकता है। यह प्रभाव अनेक पाण्डुलिपियों के चित्रों में स्पष्ट परिलक्षित है जिनमें मतर में सन् १५८३ में चित्रित सग्रहणी-सूत्र[1] और सन् १५९६ की चित्रित यशोधर-चरित पाण्डुलिपि (रंगीन चित्र ३७) की प्रमुख रूप से गणना की जा सकती है। इसी प्रकार की प्रवृत्ति यशोधर-चरित की एक अन्य सचित्र पाण्डुलिपि में भी परिलक्षित होती है जो कछवाहा राजपूतों की राजधानी आमेर में सन् १५९० में चित्रित हुई (चित्र २८३ ख)।

यद्यपि दिगबर जैन पाण्डुलिपियाँ श्वेतांबर जैन पाण्डुलिपियों की अपेक्षा संख्या में अत्यंत अल्प हैं तथापि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि दिगंबर संप्रदाय ने धर्म के मान-मूल्यों के संवर्धन के लिए श्वेतांबरों का अनुकरण किया।[2] इसका वास्तविक कारण सभवत: यह हो सकता है कि अन्य सप्रदायों की अपेक्षा श्वेतांबर जैन धार्मिक अभिव्यक्ति के इस ढंग के प्रति कहीं अधिक अनुरक्त थे। हिन्दू, बौद्ध, दिगबर जैन, मुसलमान, इनमें से कोई भी सप्रदाय अकेले या सब मिलकर भी श्वेतांबरों की इन प्रचुर-सख्यक पाण्डुलिपियों की तुलना नहीं कर सकते।

पाण्डुलिपियों की संख्या के अंतर के अतिरिक्त, दिगंबर और श्वेतांबर जैन परंपराएँ, चित्रित कराने हेतु मूलपाठों के चयन में पर्याप्त भिन्न रही है। तीर्थंकरों के जीवन-चरित्रों का अकन दोनों संप्रदायों के चित्रों का लोकप्रिय विषय रहा है परंतु श्वेतांबरों में इसने सामान्यत: कल्प-सूत्र का रूप ग्रहण किया है, और दिगंबरों में महा-पुराण का। इसी प्रकार श्वेतांबरों ने जहाँ उत्तराध्ययन-सूत्र को चित्रित कराया है वहाँ दिगंबरों ने चित्रित कराने के लिए यशोधर-चरित का चयन किया है। इससे ज्ञात होता है कि इनका चयन स्पष्टत: संप्रदायगत मूल्यों द्वारा निर्धारित हुआ है। ऐसे किसी ग्रंथ या पाण्डुलिपि को, जिसे अन्य संप्रदायों में भी मान्यता प्राप्त है, प्रत्येक संप्रदाय में बार-बार चित्रित कराया गया है। उदाहरण के लिए, जहाँ हिन्दुओं ने बाल-गोपाल-स्तुति की कथा को चित्रित कराया है वहाँ सलतनत-मुस्लिम-परंपरा में सिकदर-नामा और हम्जा-नामा को चित्रित कराया गया है।

इन अंतरों के उपरांत भी जब उन दोनों संप्रदायों के सामने एक ही विषय-वस्तु को चित्रित करने के लिए शैली के चयन का प्रश्न उठा है तो उन दोनों संप्रदायों ने स्वय को उसी शैली पर निर्भर किया है जो उस काल के अंतर्गत उस क्षेत्र-विशेष में प्रचलित रही है। यही कारण है कि सन् १४९४ की चित्रित दिगबर पाण्डुलिपि यशोधर-चरित श्वेतांबर सप्रदाय की पाण्डुलिपियों से, जो पश्चिम-भारत की 'समृद्ध शैली' में चित्रित है, भिन्न नहीं जान पड़ती। यदि सन् १४९४ की चित्रित यशोधर-चरित की पाण्डुलिपि यशोधर-चरित की दूसरी पाण्डुलिपि से भिन्न दिखाई देती है तो इस भिन्नता का

1 मोतीचद्र एव शाह, पूर्वोक्त, 1968, पृ 367-68.

2 खण्डालावाला एव मोतीचद्र, पूर्वोक्त, 1969, पृ 69.

कारण यह है कि वे दोनों भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में चित्रित हुई हैं। इन दिगंबर और श्वेतांबर पाण्डुलिपियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पंद्रहवीं शताब्दी में पश्चिम-भारतीय अथवा गुजराती शैली में क्षेत्रीय प्रवृत्तियों के अनुरूप परिवर्तन का आना प्रारंभ हो गया था। जहाँ इन्होंने अपने मूलभूत तत्त्व और विशिष्ट चारित्रिक गुणों को सुरक्षित बनाये रखा है वहीं स्थापत्यीय संरचनाओं, आंतरिक साज-सज्जा के उपादानों, रथों, वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं की आलंकारिक अभिकल्पनाओं आदि के अंकन में स्थानीय प्रभाव स्वयं अपना स्थान ग्रहण कर गया है। और यही वह स्थानीय शैली थी जिसने इस तथ्य की उपेक्षा करके कि चित्रित की जाने वाली पाण्डुलिपि हिंदू है या मुसलमान, जैन है या बौद्ध, उस क्षेत्र की पाण्डुलिपि को चित्रित करने के लिए अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में कार्य किया। इसीलिए बाल-गोपाल-स्तुति की हिंदू पाण्डुलिपि उसी शैली में चित्रित है जिस शैली में गुजरात में कल्प-सूत्र की श्वेतांबर जैन पाण्डुलिपि चित्रित हुई है। और इसी प्रकार उत्तर-भारत में चित्रित दिगंबर पाण्डुलिपियाँ शैलीगत रूप में उसी शैली के अनुरूप हैं जिसे सुलतान लोदी-समूह की पाण्डु-लिपियों की शैली की संज्ञा दी गयी है।

ये श्वेतांबर और दिगंबर सचित्र पाण्डुलिपियाँ परस्पर मिलकर मुगल-पूर्वकाल की प्रचलित कला-प्रवृत्तियों को भली-भाँति समझने की दिशा में बहुमूल्य सूत्र उपलब्ध कराती हैं तथा इन प्रवृत्तियों के विभिन्न विकासों तथा उसके विस्तार को समझने और भारतीय चित्रकला के इतिहास में इनके महत् योगदान पर प्रकाश डालने में अद्वितीय रूप से सहायक सिद्ध होती हैं।

सरयू दोशी

अध्याय 32

काष्ठ-शिल्प

प्रस्तावना

सर्वाधिक श्रमसाध्य और मनोज्ञ काष्ठ-शिल्प, जो काल के कराल थपेड़ों को झेल सका, वह अधिकतर गुजरात और राजस्थान में सत्रहवीं से उन्नीसवीं शती तक निर्मित हुआ है। काष्ठ-शिल्प की सर्वोत्तम कृतियाँ मूलतः जैन धर्म के संरक्षण में प्रस्तुत की गयीं। गुजरात और राजस्थान के शुष्क वातावरण में काष्ठ-निर्मित कृतियाँ देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक दीर्घकाल तक सुरक्षित रहती हैं, इसीलिए इन क्षेत्रों में काष्ठ के व्यापक उपयोग को प्रोत्साहन मिला। काष्ठ के प्रयोग का एक कारण उसका वह गुण भी है जिससे वह उष्णता को सहन कर सकता है। इसके अतिरिक्त, इन क्षेत्रों के समीप ही मध्य प्रदेश के वनों में लकड़ी का उत्पादन बहुत होता है, जो यहाँ सरलता से लायी जा सकती है। कलाकार-तक्षक भली-भाँति जानता था कि मूर्तियों, जालियों, छिद्रित जालियों तथा अन्य सूक्ष्म अलंकरणों का उत्कीर्णन और फिर उनपर पॉलिश आदि पाषाण आदि की अपेक्षा काष्ठ पर कम समय में किया जा सकता है। गुजरात और राजस्थान के घरों में जो काष्ठ के छज्जे बनते थे उनका अपना आकर्षण तो था ही, उनमें से वायु का प्रवेश भी पर्याप्त हो सकता था। काष्ठ के प्रयोग का एक लाभ यह भी था कि उससे भवन का भार कम रहता जबकि उसकी मजबूती में कोई अंतर नहीं पड़ता। उससे यह अतिरिक्त सुविधा भी रहती कि उसमें बड़े-बड़े अलंकरणों का उत्कीर्णन इसलिए सहज हो पाता कि कई काष्ठ-फलकों को जोड़कर बड़ा कर लिया जाता, जो ईंट पाषाण से संभव नहीं होता।

आवासीय स्थापत्य एवं उपस्कर

आवासीय स्थापत्य की दृष्टि से सामान्यतः एक जैन घर में द्वार के सरदल पर या गवाक्ष की चौखट पर तीर्थंकर-मूर्ति या मंगल-चिह्न (चौदह स्वप्न आदि) उत्कीर्ण किये जाते हैं ताकि घर में मांगलिकता का संचार हो। चौखट पर उत्कीर्ण किये जाने वाले अन्य अलंकरण हैं—अष्ट-मंगलों का आलेखन, पुष्पों और लताओं की पट्टियाँ[1], द्वारपाल आदि। जैन घरों में साधारणतः काष्ठ-निर्मित

---

1 गोयेत्ज़ (एच). **दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ़ बीकानेर स्टेट.** ऑक्सफोर्ड. 1950. पृ. 150, रेखाचित्र 24.

अग्रभाग होते हैं । समूचा भवन एक ऊँची चौकी पर निर्मित होता है, उसके सामने एक लघु 'ओटा' (अधिष्ठान) होता है जिसके ऊपर पाषाण की चौकियों पर खड़े स्तंभों पर आधारित दूसरा तल होता है । सामने की भित्ति की रचना काष्ठ के कई स्तंभों से होती है जिनके मध्य का अंतर ईंटों से भर दिया जाता है । एक आवास-गृह में अलंकरण के लिए जो भाग उपयुक्त माने जाते हैं, वे हैं—स्तंभ, गवाक्षों और द्वारों की चौखटें, सरदल, टोड़े, तोरण, छतें, भित्तियों पर निर्मित पट्टियाँ आदि । जिस व्यक्ति के पास थोड़े-से भी साधन होंगे वह अपने घर में कम-से-कम स्तंभों पर या द्वार अथवा गवाक्ष की चौखट पर अलंकरण अवश्य कराना चाहेगा । इन अलंकरणों का विस्तार गृहस्वामी की आर्थिक क्षमता के अनुसार बढ़ता जाता है ।

गुजरात और उसके समीप के बहुत बड़े क्षेत्र में जैन घरों में काष्ठ का प्रयोग हुआ, जिससे काष्ठ-शिल्पी को कला के विभिन्न रूप और आलेखन प्रस्तुत करने का अवसर मिला; इनमें समय-समय पर परिवर्धन और परिष्कार भी होता रहा क्योंकि इस क्षेत्र की कला और स्थापत्य को विभिन्न शैलियों ने प्रभावित किया । पाषाण-शिल्पी ने उन सब अभिप्रायों को आत्मसात् किया जो पहले काष्ठ-शिल्प में प्रचलित थे ; इसके विपरीत, पाषाण और ईंट की निर्माण-कला में जिनका विशेष स्थान था—ऐसी स्तूपी और तोरण को काष्ठ-कला में न केवल स्वीकार किया गया बल्कि उनका सफलता से निर्माण भी किया गया । एक जैन घर की अत्यंत उल्लेखनीय विशेषता के रूप में मदल या टोड़ा एक ऐसा शिल्पांकन है जिसकी कोई उपमा नहीं । मदल के अंकन में काष्ठ-शिल्पी को कौशल-प्रदर्शन का सर्वाधिक अवसर मिला क्योंकि उसके अंकन में जितनी गहराई तक कटाव आवश्यक होता है उतना केवल काष्ठ में ही संभव है । पुष्पावली आदि की पट्टियों, पशुओं, पक्षियों, मानव-आकृतियों और देव-देवियों की कल्पनामय संयोजना की आड़े-तिरछे ज्यामितिक रेखांकनों के मध्य संगति बिठाना एक ऐसी विशेषता है जो काष्ठ-कला में ही उपलब्ध होती है, जो मदल के शिल्पांकन से व्यक्त होती है[1] । मदलों का उपयोग, निस्संदेह, मंदिरों में भी किया जाता है किन्तु वहाँ उनपर केवल विविध वाद्यों के साथ दिव्य संगीत-मण्डलियों और शास्त्रीय नृत्यों की विभिन्न मुद्राओं में नर्तक-नर्तकियाँ ही शिल्पांकित की जाती हैं ।

समूचा निर्माण इस प्रकार संयोजित किया जाता कि कला और उपयोगिता में समन्वय हो जाता, वातावरण की विषमताएँ नियमित हो जातीं, रहन-सहन की अनुकूलता भी बनी रहती और गृहस्वामियों की आर्थिक परिस्थिति भी बाधक न बनती । स्थापत्य के द्वार, गवाक्ष, स्तंभ, धरन और मदल ऐसे अंग हैं जिनपर काष्ठ-शिल्पी ने अपने कौशल को मूर्त किया । द्वार-कपाटों को काष्ठ की आड़ी-खड़ी मोटी पट्टियों से इस प्रकार विभक्त किया जाता कि चतुष्कोणीय या आयताकार खण्ड बन जाते । द्वार-कपाट कभी समतल होते, कभी उनपर शिल्पांकन होता और कभी उन्हें जालीदार बनाया जाता । गवाक्ष या तो भित्ति के साथ-साथ ही बनाये जाते या उनकी संयोजना अलग से की

1 त्रिवेदी (आर के). **वुड कार्विंग ऑफ़ गुजरात**. 1965. बड़ौदा. चित्र 22-27.

जाती। गवाक्षों की चौखटें प्रथम तल पर अपेक्षाकृत कम अलंकृत होतीं पर द्वितीय तल पर उनमें विविध प्रकार के सुंदर अलंकरण उत्कीर्ण किये जाते। कुछ स्थानों पर आजकल की भाँति गवाक्ष भी बने जिनके कपाटों को इच्छानुसार खोला या बंद किया जा सकता। किन्तु अधिकांश स्थानों पर ऊपरी तल के गवाक्षों को कपाटों के बिना ही बनाया गया ताकि वायु और प्रकाश का प्रवेश निर्बाध हो सके। काष्ठ-निर्मित जाली में पुष्पावली आदि सुंदर अलंकरण उत्कीर्ण किये जाते और बीच-बीच में छिद्रित स्थान भी छोड़े जाते जिनसे वायु और प्रकाश का प्रवेश होता। ऐसे गवाक्षों का प्रचलन पाटन और उसके समीप बहुत रहा।

मुस्लिम प्रभाव जैन स्थापत्य पर भी पड़ा इसीलिए घरों में मेहराबदार गवाक्षों की संयोजना हुई। ऐसी एक उन्नीसवीं शती का गवाक्ष (चित्र २८५) राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली (आकार १८०×१२८ सेण्टीमीटर ; प्रविष्टि क्रमांक ६०.११५२) मे प्रदर्शित है। इस गवाक्ष की चौखट पर लहराती पुष्पावली और पट्टियाँ और बीच-बीच में मनुष्यों और पशुओं की आकृतियाँ अंकित है। ऊपर की पट्टी में एक तीर्थंकर-मूर्ति एक मंदिर में विराजमान दिखाई गयी है जिसकी ओर बहुत-से व्यक्ति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए बढ़ रहे हैं। मेहराब पर उत्कीर्ण आकृतियों के पंख दिखाये गये हैं, यह भी मुस्लिम प्रभाव के कारण है। ऊपर की पट्टी पर मनकेदार अलंकरणों का अंकन है जो इस काल की सामान्य विशेषता है।

ऊपर के तल को आधार देने वाले स्तंभ या तो एक ऊँचे ओत्ता (अधिष्ठान) पर बनाये जाते या वे भित्ति का ही अंग बना दिये जाते। वे अधिकतर चतुष्कोणीय और कहीं-कहीं गोल या नालीयुक्त और कभी-कभी शुण्डाकार होते। सुंदर शुण्डाकार स्तंभ मुस्लिम स्थापत्य के प्रभाव से बने। ऊपर के तल को आधार देने वाले तोरणों और धरनों पर बंदनवारों, कमल-पुष्पों, शृंग-पट्टियों और पत्रावली के शिल्पांकन हुए। अधिकांश घरों में छज्जे बनाये गये जिनसे भित्तियों की एकरसता कम हुई और एक तल से दूसरे तल का अंतर स्पष्ट हुआ। नीचे के तल पर कोई अलंकरण नहीं होता, केवल मालाओं से अंकित पट्टियाँ या नालीयुक्त स्तभ या साधारण अलकार-सहित मदल होते। किन्तु नीचे के तल के द्वार-कपाट और चौखटें सामान्य रूप से अत्यधिक अलंकृत होतीं जिनसे शेष भाग की अलंकारहीनता की पूर्ति हो जाती।

अहिंसा के उपासक होने से जैन प्रायः कपोतों को दाना चुगाते है और पक्षियों की रक्षा करते हैं। यही कारण है कि गुजरात में किसी भी जैन स्थान पर काष्ठ-निर्मित पाराबाडी या कपोतों का दरबा अवश्य होता है जिसमें कपोतों, गौरय्यों, शुकों, मयूरों आदि परिचित पक्षियों को पानी और दाना रखा जाता है। कुछ पाराबाडियों पर तो अत्यंत सुंदर शिल्पांकन होता है और वे काष्ठ की लघु मूर्तियों से अलंकृत होती हैं।[1] इन पाराबाडियों पर मुस्लिम स्थापत्य का प्रभाव रहा, उनपर गुंबद और मदल बनाये गये, यद्यपि उनका आकार छोटा ही रहा।

---

1 वही, चित्र 82, 83.

पट, बाजोठ (पलंग) और झूला तथा कुछ अन्य वस्तुएँ जैन घरों में काष्ठ से निर्मित करायी जाती हैं। उपयोग में आने वाली साज-सज्जा की काष्ठ-निर्मित वस्तुओं की संख्या सीमित रखी जाती है। इनमें से त्रण-खनिया और नव-खनिया (दीवार में जड़ी अलमारियाँ), जलपात्र रखने के लिए पनियारा, संदूक आदि पर सुंदर अंकन होते हैं।

मंदिर-स्थापत्य

जैन मंदिर दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—घर-देरासर या गृह-मंदिर और पाषाण या काष्ठ से निर्मित मंदिर। घर-देरासर गुजराती जैन समाज की एक अपनी ही विशेषता है, और ऐसा मंदिर प्रायः प्रत्येक घर में होता है चाहे उसके साधन कितने ही सीमित क्यों न हों। गुजरात और दक्षिण भारत में हिन्दू घरों में भी गृह-मंदिर होते हैं, किन्तु जैन देरासरों की अपनी अलग विशेषताएँ हैं। काष्ठ या पाषाण से निर्मित मंदिरों की यथार्थ लघु अनुकृति के रूप में घर में परिवार द्वारा उपासना के लिए ये देरासर बनाये जाते हैं। इन देरासरों पर सूक्ष्म शिल्पांकन, पॉलिश आदि का अलंकरण होता है जिसकी मात्रा गृहस्वामी की आर्थिक स्थिति के अनुसार हीनाधिक हो सकती है।

हाजा पटेल की पोल, कालूपुर, अहमदाबाद में जो शांतिनाथ-देरासर है वह सर्वाधिक प्राचीन देरासरों में से एक है। एक पाषाण पर उत्कीर्ण अभिलेख के अनुसार इस मंदिर का निर्माण विक्रम संवत् १४४६ (१३९० ई०) में सेठ सोमजी[1] ने संपन्न किया था। समूचा मंदिर काष्ठ से बना है, इसके मण्डप पर एक ३.३५ मीटर वर्गाकार स्तूपी है जिसपर चारों ओर घूमती एक-के-ऊपर-एक सत्रह पट्टियों में शिल्पांकन है, पूरी स्तूपी में दो सौ अड़तालीस काष्ठ-फलक लगे हैं। यद्यपि स्तूपी को आधार देने वाले स्तंभों पर अलंकरण नहीं है किन्तु उनके मदलों और तोरणों पर पशुओं, रथों, दिक्पालों, दिव्य संगीत-मण्डलियों और थिरकते नर्तक-नर्तकियों के विविध रूपांकन हैं।[2] गुजरात में घरों में और भी अनेक देरासर हैं पर उनमें से अधिकांश पर कोई लेख आदि प्रकाशित नहीं हुआ अतः उनके निर्माण-काल का परिज्ञान नहीं हो सका। वास्तव में, समय-समय पर हुए जीर्णोद्धार के कारण उनके निर्माण-काल का अनुमान भी संभव नही। श्री-समेत-शिखर-जी की पोल, माण्डवी पोल, अहमदाबाद में जो श्री-पार्श्वनाथ-देरासर है वह लगभग तीन सौ वर्ष प्राचीन अर्थात् सत्रहवीं शती का माना जाता है। जैन समाज का केंद्र होने से अहमदाबाद में कई उल्लेखनीय देरासरों का निर्माण हुआ : वाघन पोल, झवेरीवाड में श्री-अजितनाथ-देरासर ; निशा पोल में चिंतामणि पार्श्वनाथ-देरासर और सहस्रफण पार्श्वनाथ-देरासर ; झवेरीवाड, शेखपाड़ा में श्री वासुपूज्यस्वामी-देरासर और श्री-शीतलनाथ-प्रभु-देरासर; श्रीरामजी की पोल में श्री सुपार्श्वनाथ-देरासर; और हाजा पटेल की पोल।[3]

---

1 वही, पृ 46.
2 वही, पृ 46.
3 वही, पृ 45-48.

घर-देरासर-गुजरात के अन्य भागों में भी बनाये गये। पाटन एक महत्त्वपूर्ण नगर है जहाँ जैनों की संख्या पर्याप्त है। मणियाटी पाडी में श्री-लल्लूभाई दन्ती का घर-देरासर और कुंभरिया पाडा में श्री-ऋषभदेवस्वामी-देरासर यहाँ के महत्त्वपूर्ण गृह-मंदिर हैं। गुजरात के पालीताना, रल्हणपुर, खंभात आदि नगरों में भी ऐसे उदाहरण हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली में किसी गृह-मंदिर का एक सूक्ष्म शिल्पांकन सहित मण्डप (प्रविष्टि क्रमांक ६०.१४८) है, इसका निर्माण अवश्य ही या तो बड़ौदा में हुआ होगा या उसके आसपास; क्योंकि उसके शिल्पांकन पर मराठा-प्रभाव स्पष्ट है जो विशेषतः चारों कोनों पर प्रस्तुत गजारोहियों की गोल पगड़ी (चित्र २८६ और २८७) से प्रमाणित होता है। अन्य मण्डपों की भाँति यह भी कई काष्ठ-फलकों को जोड़कर बनाया गया है। मुख्य धरनों के चार अन्य पार्श्वों में से दो पर तीर्थंकरों की सात आसीन मूर्तियाँ (चित्र २८६) उत्कीर्ण हैं। छिद्र-सहित जाली और अर्धवृत्ताकार देवकुलिका से मुस्लिम प्रभाव प्रकट होता है। गज पर झूला और हौदा सुसज्जित हैं। गज को घण्टा, शिरस्त्राण, गलहार और नूपुर पहनाये गये हैं और उसके शिल्पांकन से स्वाभाविकता का वातावरण बनता है।

इस अष्टकोणीय मण्डप की छत से आबू के प्रसिद्ध मंदिरों (चित्र २८८) का स्मरण हो आता है। सोलह अप्सराएँ स्तूपी के अंतर्भाग की शोभा बढ़ा रही हैं। उसके मध्य में पुष्पावली से अलंकृत लोलक लटक रहा है। स्तूपी के सबसे नीचे की धरन पर पूरी लंबाई में जन-समूह का अंकन है जिसके अंतिम सिरे पर एक तीर्थंकर-सहित मंदिर की अनुकृति (चित्र २८९) उत्कीर्ण है। जन-समूह से तत्कालीन सामाजिक जीवन की एक झाँकी मिलती है। अप्सराओं, अन्य मूर्तियों और आरोहियों-सहित गजों से इस मण्डप का निर्माण-काल सोलहवीं-सत्रहवीं शती और निर्माण-स्थल बड़ौदा के आस-पास ज्ञात होता है। राष्ट्रीय संग्रहालय में द्वार की एक चौखट भी उल्लेखनीय जैन काष्ठ-कृति है (प्रविष्टि क्रमांक ६०.११५३)। उसके ऊपर की पट्टी पर बीच में एक तीर्थंकर-मूर्ति (चित्र २९०) है। दोनों ओर एक-एक चमरधारी और नौ-नौ मालाधारी विद्याधरों की संयोजना से मनोरम दृश्य की सृष्टि हुई है। दोनों ओर के एक-एक स्तंभ पर एक-एक चतुर्भुज द्वारपाल और एक-एक स्तंभ पर एक-एक देवकोष्ठिका में तीर्थंकर-मूर्तियाँ हैं जिनके साथ परिचरों की मूर्तियाँ भी अंकित हैं। चौखट के चारों ओर लताओं की पट्टियाँ उत्कीर्ण है। आकृतियाँ यद्यपि अब क्षत-विक्षत हो गयी हैं तब भी उनसे इस काष्ठ-कृति का समय सत्रहवीं शती और निर्माण-स्थल अहमदाबाद सूचित होता है।

राष्ट्रीय संग्रहालय में एक और काष्ठ-कृति है—एक गृह-मंदिर का द्वार (प्रविष्टि क्रमांक ४७.१११/१; आकार १००×६० सेण्टीमीटर) (चित्र २९१)। आकार में लघु होकर भी यह द्वार उतना ही शिल्पांकित है जितना एक बड़ा द्वार होता है। दोनों कपाटों पर छोटे-बड़े वर्गाकारों में सुंदर पुष्पावली आदि के अंकन हैं। सरदल पर चौदह स्वप्नों का आलेखन है (चित्र २९२) जो जैन शिल्पांकनों में विशेष महत्त्व का माना जाता है। सरदल के नीचे लक्ष्मी की एक चतुर्भुजी मूर्ति है जिसके दोनों ओर एक-एक चमरधारिणी है। नीचे के फलक पर दो गज और उसके दोनों
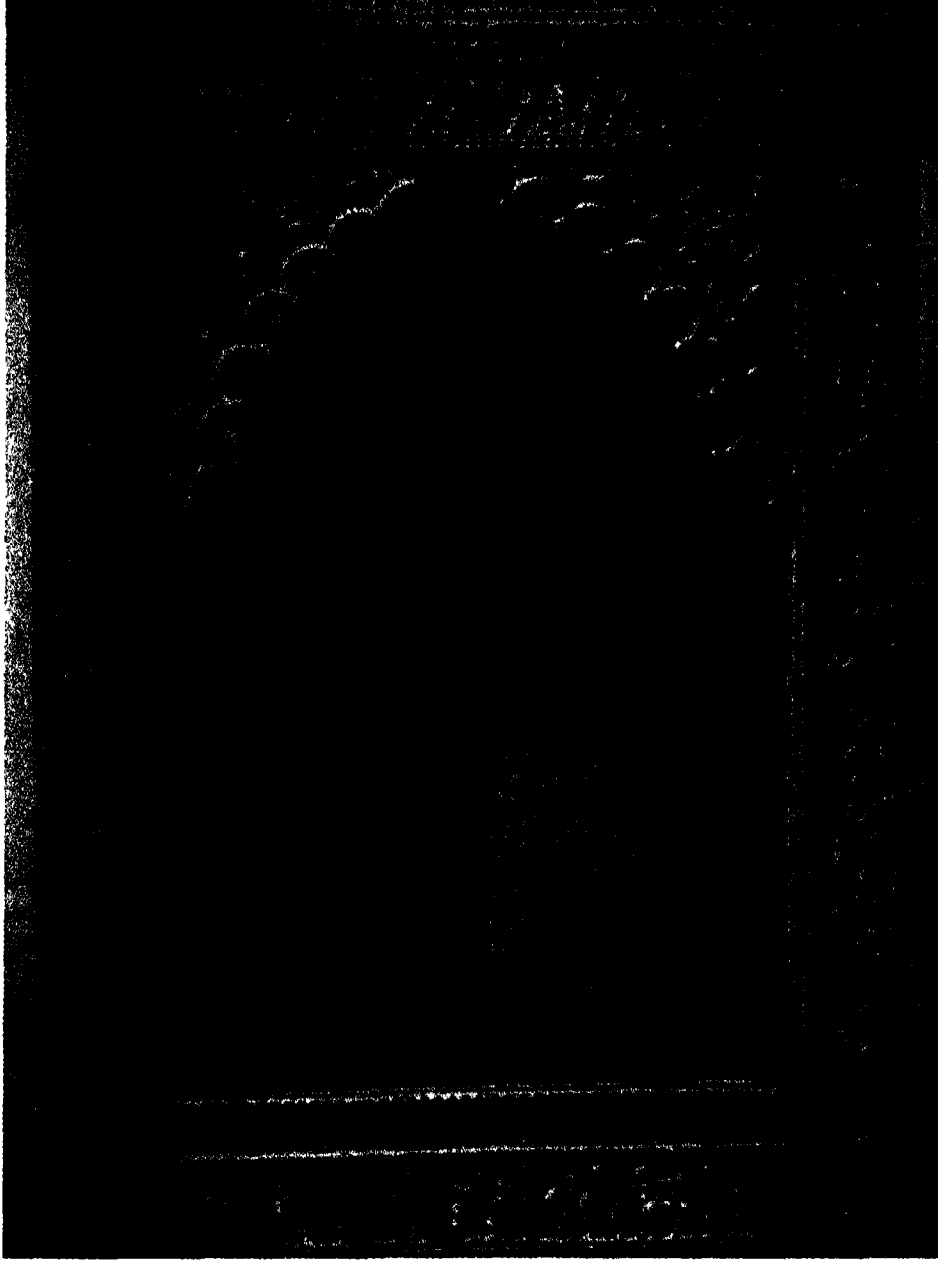
गुजरात : काष्ठ-निर्मित गवाक्ष
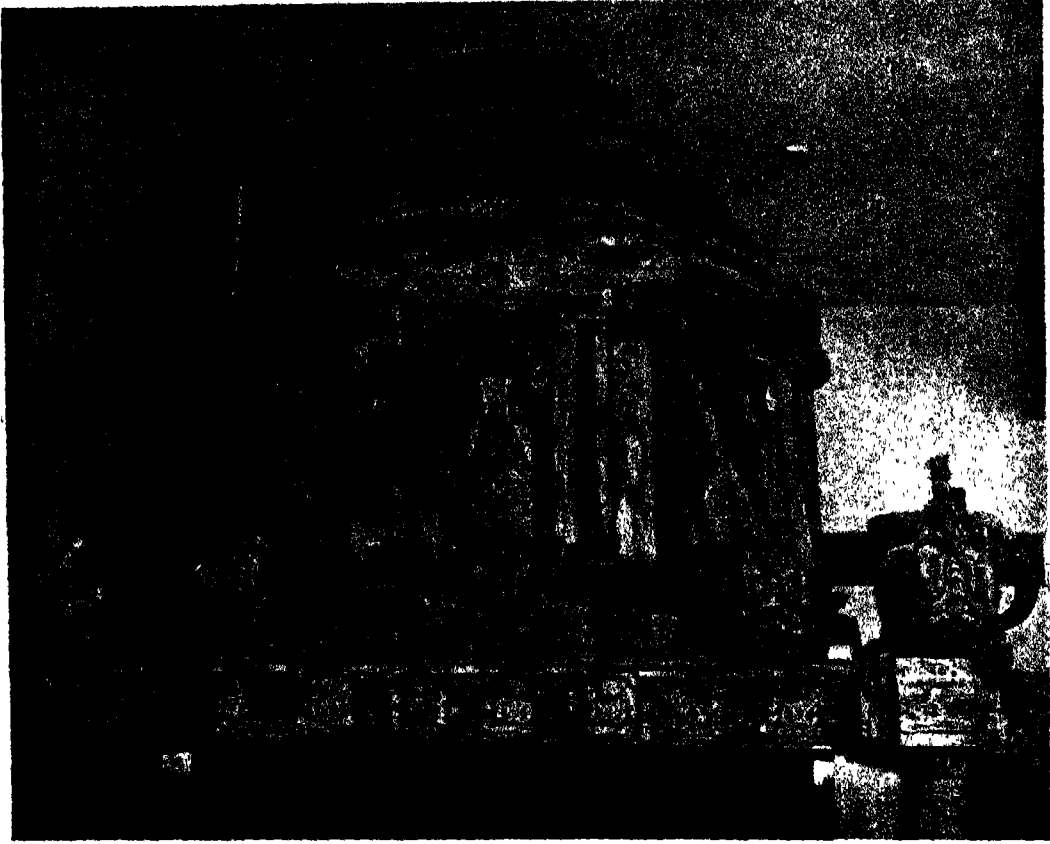
चित्र 285

गुजरात : वार्निशदार काष्ठ-निर्मित मण्डप, बाह्य भाग

चित्र 286

गुजरात : वार्निशदार काष्ठ-निर्मित मण्डप (चित्र 286), गजारोही

चित्र 287

गुजरात : वार्निशदार काष्ठ-निर्मित मण्डप (चित्र 286), छत
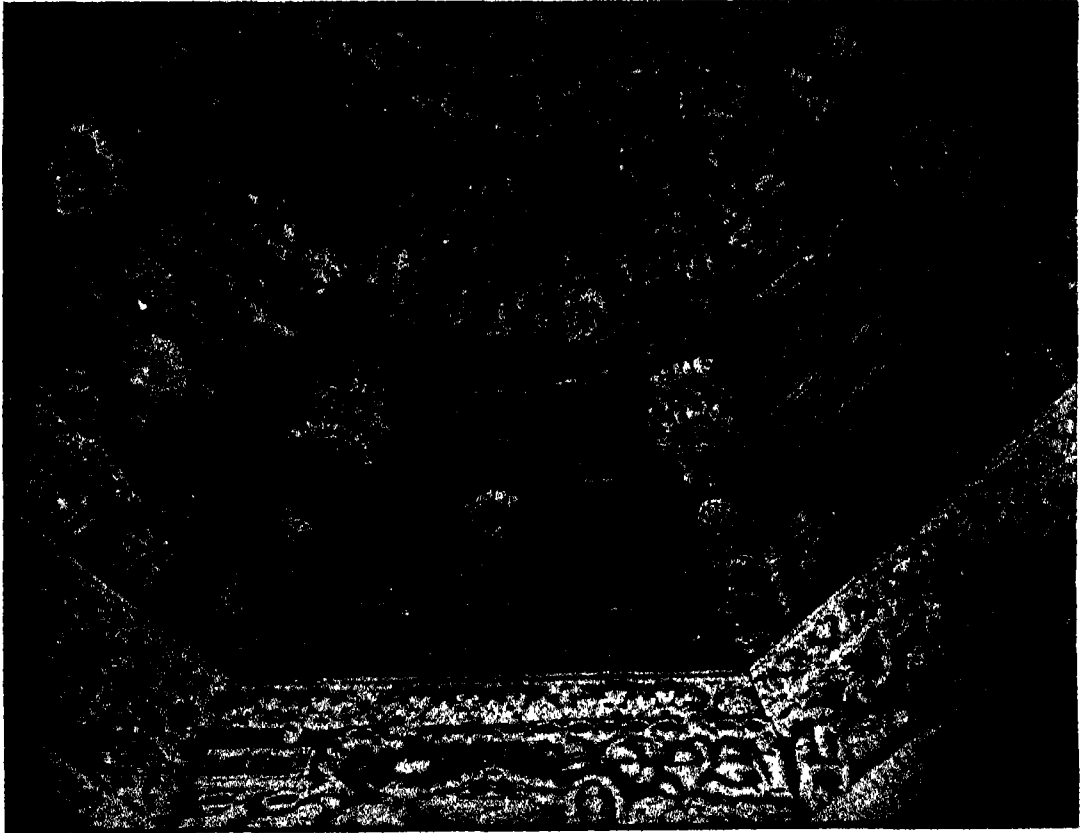
चित्र 288

गुजरात : वार्निशदार काष्ठ-निर्मित मण्डप (चित्र 286), छत का एक भाग (चित्र 288)

चित्र 289
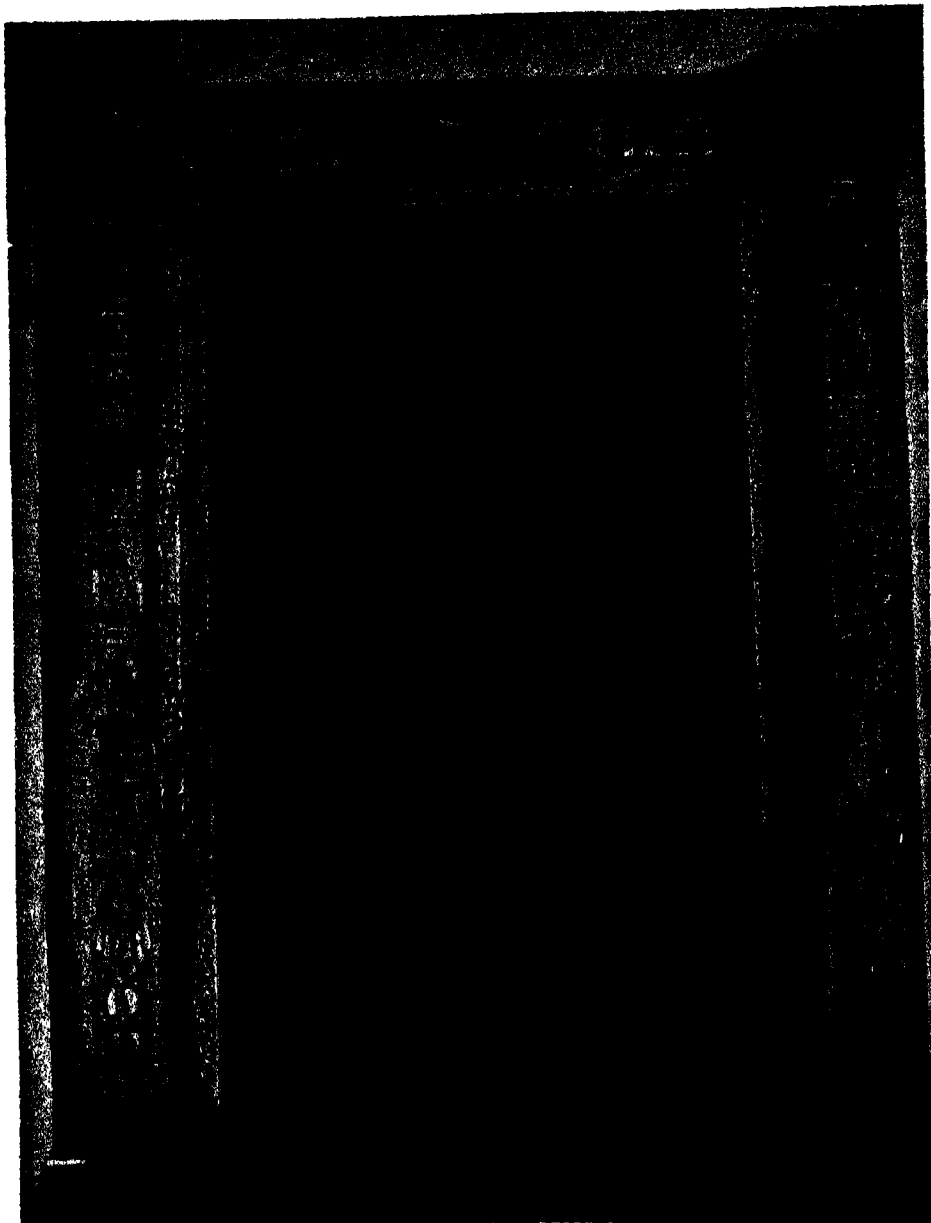
गुजरात : काष्ठ-निर्मित द्वार
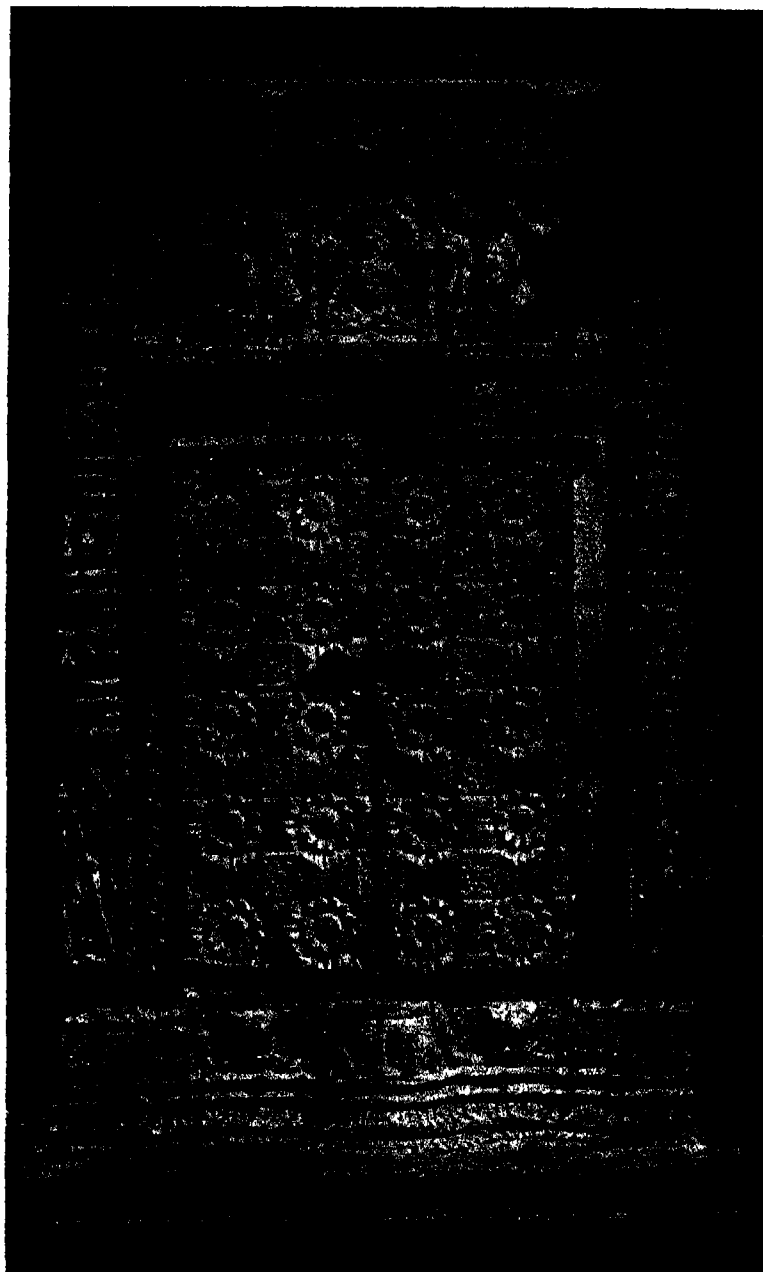
चित्र 290

गुजरात : एक घर-देरासर का काष्ठ-निर्मित द्वार

चित्र 291

गुजरात : एक घर-देरासर का काष्ठ-निर्मित द्वार (चित्र 291), मंगल-स्वप्नों और गज-लक्ष्मी का अंकन

चित्र 292

गुजरात : काष्ठ-निर्मित मण्डप

चित्र 293

(क) गुजरात : काष्ठ-निर्मित मण्डप (चित्र 293), एक पट्टी पर नृत्य, संगीत तथा अन्य दृश्यांकन
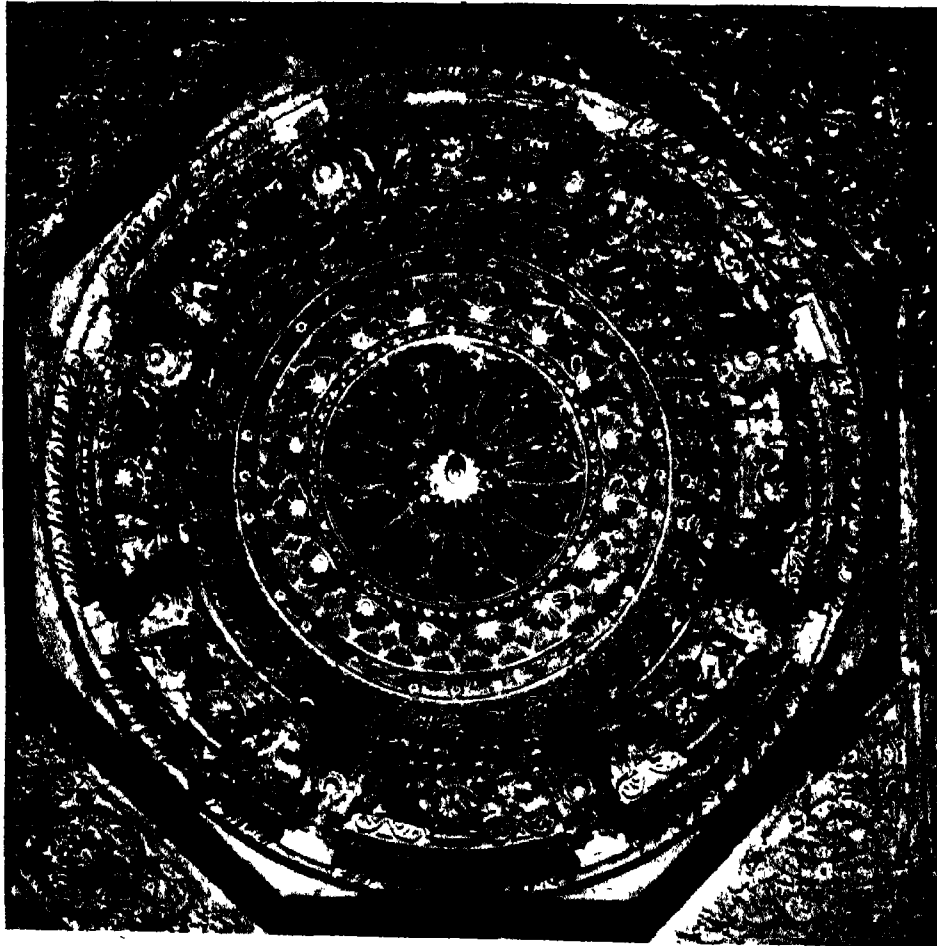
(ख) गुजरात : काष्ठ-निर्मित मण्डप (चित्र 293), छत
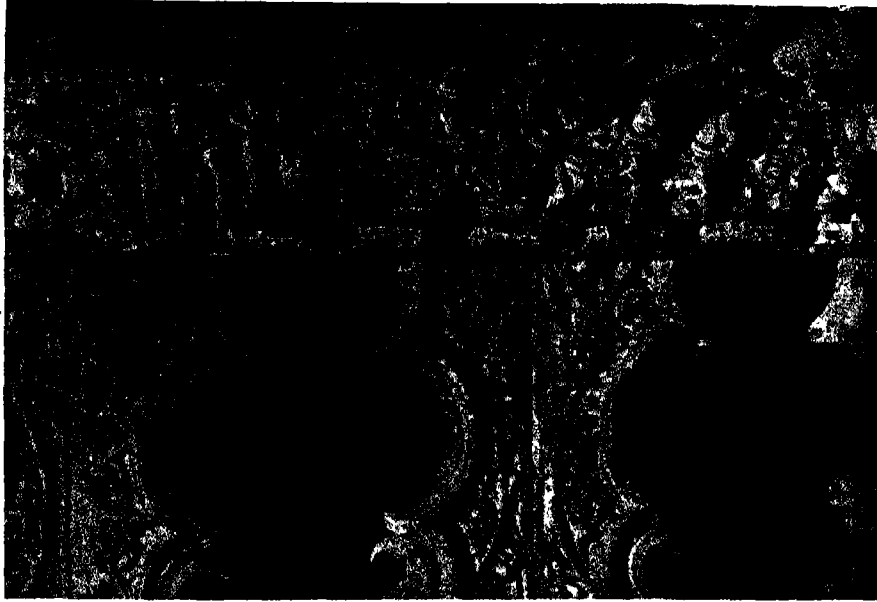
चित्र 294

(क) गुजरात एक घर-देरासर, एक राजकीय यात्रा का दृश्य
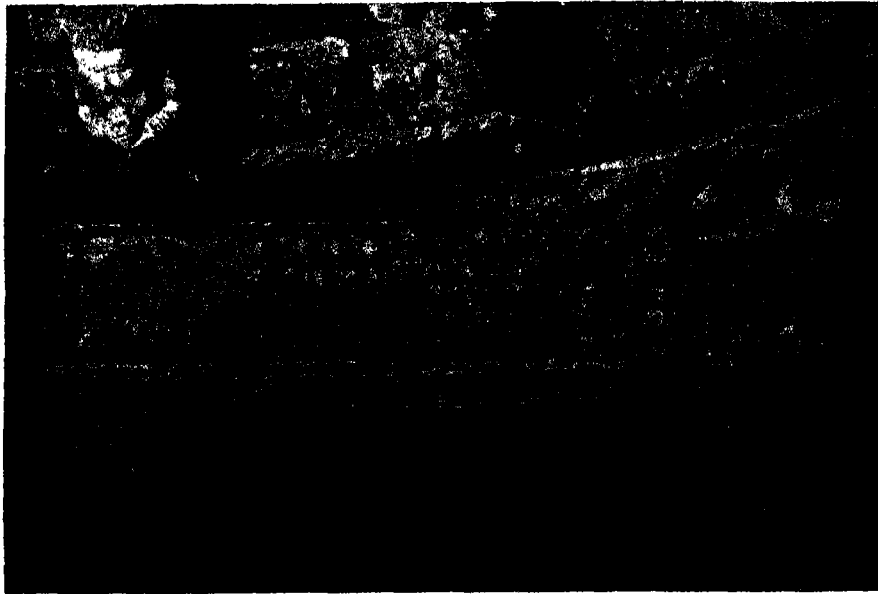
(ख) गुजरात : एक घर-देरासर, शिष्यों द्वारा आचार्य का स्वागत

चित्र 295
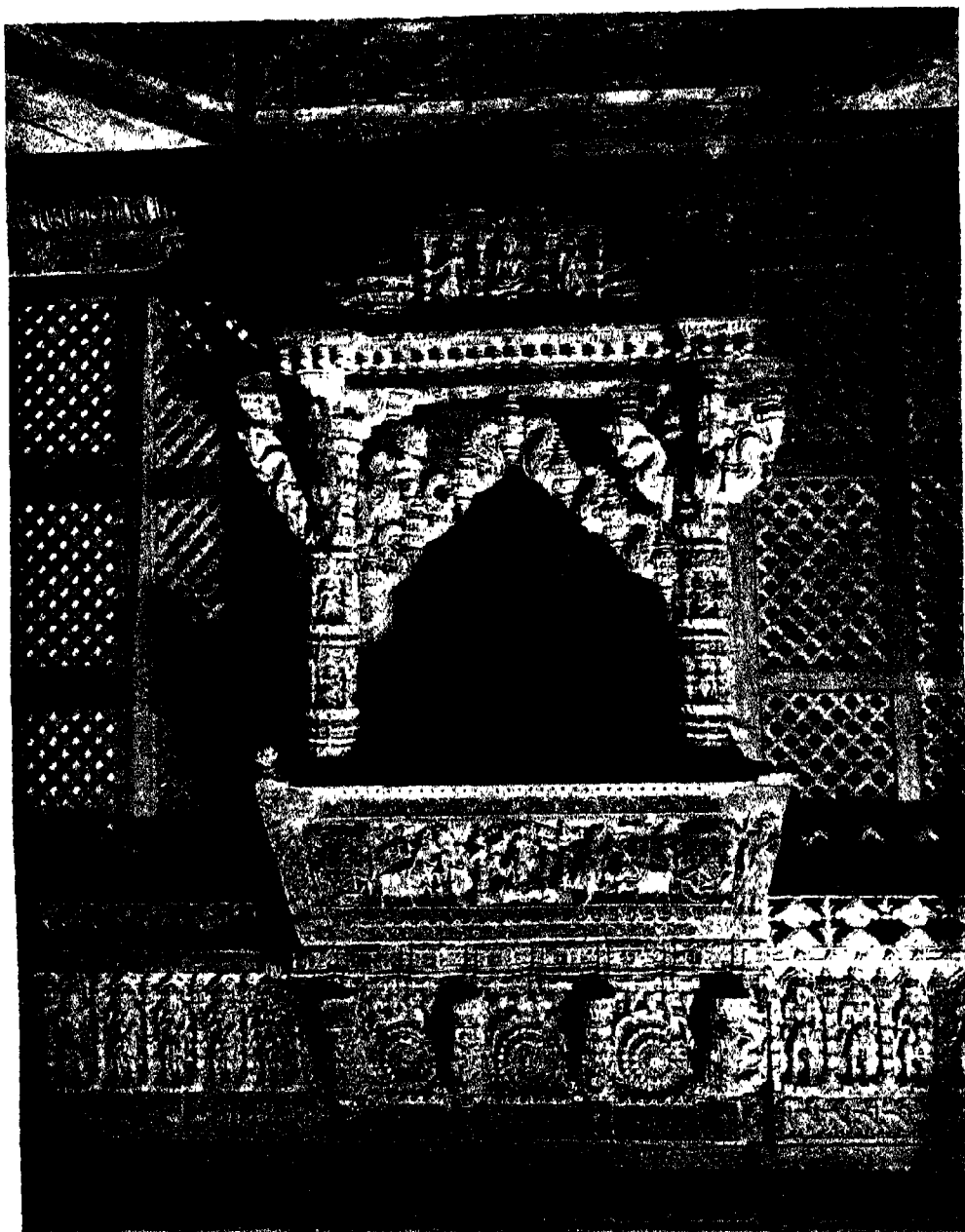
पाटन : वाडी पार्श्वनाथ-मंदिर, झरोखा

चित्र 296

पाटन . वाडी पार्श्वनाथ-मंदिर (चित्र 296), आंशिक दृश्य
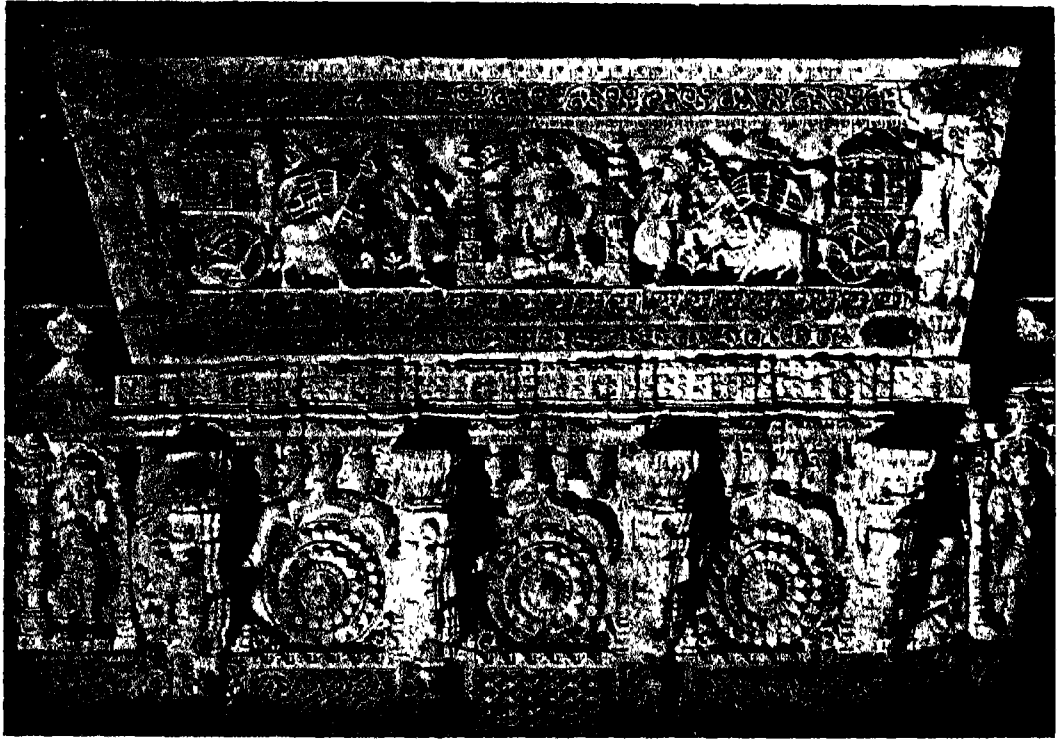
चित्र 297

गुजरात : पालिशदार काष्ठ-निर्मित पुत्तलिका

चित्र 298

(क) गुजरात : काष्ठ-निर्मित पुत्तलिका

(ख) गुजरात : काष्ठ-निर्मित पुत्तलिका

चित्र 299

(क) गुजरात . एक पट्टी पर जैन साधुओं के स्वागत का दृश्यांकन

(ख) गुजरात : एक पट्टी पर राजकीय यात्रा का दृश्यांकन
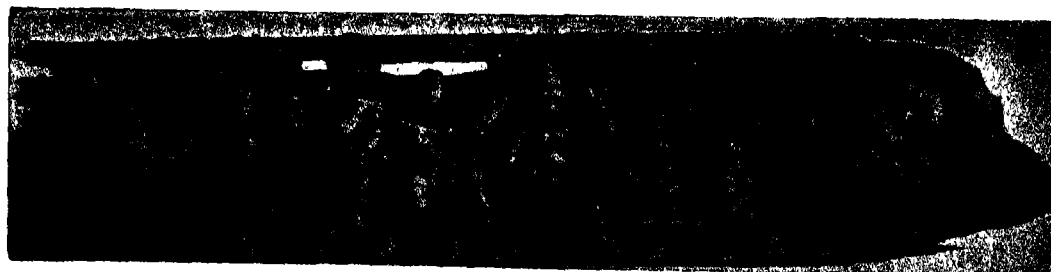
(ग) गुजरात एक पट्टी पर राजकीय यात्रा का दृश्यांकन

चित्र 300

कोणों पर एक-एक मंदिर की अनुकृति है जिसके दूसरी ओर एक-एक द्वारपाल का अंकन है। द्वारपालों के ऊपर उत्कीर्ण गवाक्षों से झाँकती हुई मनुष्यों की आकृतियाँ आभास देती हैं कि यह एक बहु-तल भवन का आलेखन है। ऐसा ही एक लघु द्वार बड़ौदा संग्रहालय में है[1]। उसपर गहरा और सूक्ष्म शिल्पांकन है और वह सोलहवीं शती का माना गया है। किन्तु राष्ट्रीय संग्रहालय के उक्त द्वार को अठारहवीं शती का मानना होगा क्योंकि उसपर पत्रावलियों और मूर्तियों का अंकन स्थूल है और उनमें वह आकर्षण नहीं है जो बड़ौदा संग्रहालय के द्वार में है।

प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम ऑफ वेस्टर्न इण्डिया, बंबई में भी किसी आवास-गृह[2] का एक काष्ठ निर्मित मण्डप है (चित्र २९३)। १८८ सेण्टीमीटर लंबे, १५६ सेण्टीमीटर चौड़े और ३९ सेण्टीमीटर ऊँचे तथा दो सोपानों से युक्त अधिष्ठान पर प्रस्तुत यह मण्डप विस्तृत शिल्पांकन सहित चार स्तंभों पर आधारित है जिनके मध्य का अंतर कुछ कम है और जिनपर कभी पॉलिश रही है। इन स्तंभों पर देवकोष्ठिकाओं का अंकन है जिनमें देव-देवियाँ, नर्तक-नर्तकियाँ और दिव्य संगीत-मण्डलियाँ आलिखित हैं। इन स्तंभों के नीचे विष्णु और ब्रह्मा और उनके अनुचरों की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। स्तंभों के शीर्षों पर मुस्लिम तथा स्थानीय अभिप्रायों का अंकन है, उनमें देव-कोष्ठिकाओं में प्रस्तुत आकृतियाँ, पक्षी और संगीत-मण्डलियाँ तथा अन्य अलंकरण आलिखित हैं। मदल अब केवल तीन बच रहे हैं, उनमें दो पर तो एक-एक नारी-संगीतकार उत्कीर्ण है और एक पर एक मृदंग-वादक। नारी-संगीतकार सँकरी चोली और कसा स्कर्ट और पाजामा पहने है, उसका लंबा, पतला जरीदार उत्तरीय कंधों से होकर ढीली गाँठ में बँधा हुआ पैरों तक चला आया है। मृदंग-वादक के अंकन में भी छह कोणों के पटका सहित जामा और अटपटी पगड़ी के रूप में मुस्लिम-प्रभाव स्पष्ट है।

स्तंभ-शीर्षों पर चारों प्रस्तार आधारित हैं जिनपर स्तूपी की संयोजना है। मण्डप क्योंकि जैन मंदिर का है अतः शिल्पी ने उसपर अंकन के लिए विषय-वस्तु तीर्थंकरों के जीवन से ली है। पट्टियों में जन-समूह चलते हुए अंकित हैं जिनमें गजारोही, अश्वारोही, शिविकाधारी, पदाति, अश्वों और वृषभों द्वारा खींचे जाते रथ, उष्ट्रों पर बैठे ढोल बजाते और अश्वों पर बैठे भेरी बजाते मनुष्य अंकित हैं (चित्र २९४ क)। साधुओं को उपदेश देते एक आचार्य का दृश्य भी सुंदर बन पड़ा है।

पट्टिकाओं के ऊपर एक ४६ सेण्टीमीटर ऊंची अष्टकोणीय स्तूपी (चित्र २९४ ख) की संयोजना है जिसके अंतर्भाग पर पंक्तिबद्ध वृत्ताकारों का अलंकरण है। स्तूपी का बहिर्भाग ऐसा प्रतीत होता

---

1 गोयेट्ज (एच). 'द पोस्ट-मेडिएवल स्कल्पचर्स ऑफ़ गुजरात', बुलेटिन ऑफ़ बड़ौदा म्यूजियम एण्ड पिक्चर गैलरी, बड़ौदा, 1947-48, 5, भाग 1-2, रेखाचित्र 2.

2 अन्वारे (एस के). 'पेण्टेड वुडन मण्डप फ्रॉम गुजरात', बुलेटिन ऑफ़ द प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूजियम ऑफ़ वेस्टर्न इण्डिया, 7, बंबई. 1959-62, पृ 41-45 और चित्र 29 से 33 सी तक.

है जैसे वह कोई पादपीठ हो, उसपर ऊपर की ओर क्रमशः लघुतर होते सोपानों-की-सी संयोजना के अंतर्गत लघु देव-कोष्ठिकाओं में गजलक्ष्मी की आकृति और पूर्ण-कुंभों के अंकन हैं। चौदह स्वप्नों और अन्य मंगल-चिह्नों के आलेखन भी हैं। यह मण्डप निश्चित रूप से अकबर के समय का, अर्थात् १६०० ई० का माना जा सकता है। इस मान्यता का आधार है—वेश-भूषा और शिल्पांकन की शैली।

बड़ौदा संग्रहालय और चित्र-वीथि, बड़ौदा में भी एक सुंदर काष्ठ-निर्मित गृह-मंदिर है।[1] गोयेत्ज़ ने विश्वासपूर्वक लिखा है कि वास्तव में यह मण्डप भड़ौंच-क्षेत्र के किसी धनाढ्य जैन व्यापारी के आवास-गृह का एक भाग था। यह ६.६ मीटर लंबा ३.३ मीटर चौड़ा और ३.१ मीटर ऊँचा है। वह छह स्तंभों और दो भित्ति-स्तंभों पर आधारित है और अब चारों ओर से खुला है। ३.३ मीटर के चार तोरणों पर आधारित वर्गाकार पीठ पर एक अष्टकोणीय भाग है जिसपर मध्यवर्ती स्तूपी की संयोजना है। दोनों पंक्तियों की छतें समतल हैं। स्तंभों की चौकियाँ बहुत उत्तरकालीन मुस्लिम-शैली की हैं और उनके शीर्ष उत्तरकालीन गुजराती शैली के। भित्ति-स्तंभों पर केवल कमल-मण्डलों की सघन पंक्तियाँ हैं। मध्यवर्ती स्तूपी के चारों ओर संयोजित तोरणों पर शिल्पांकित पट्टियाँ हैं जिन पर जैन पौराणिक कथाएँ अंकित हैं, जैसे पार्श्ववर्ती छतों पर विभिन्न शैलियों और कालों के अलंकरण हैं जिनमें एक मयूर है। अन्य छतों पर केवल एक आकृति-पट्टी है जिसमें लक्ष्मी या अंबिका का अंकन है। अलंकृत शैली में उत्कीर्ण कमल-पंखुड़ियों से बने दो वृत्ताकारों पर निर्मित मध्यवर्ती स्तूपी पर बड़ी संख्या में अलग-अलग मूर्तियाँ और शिल्पांकन-पट्टियाँ उत्कीर्ण हैं, उनमें से कुछ तो मौलिक रूप से थीं और कुछ बाद में जोड़ी गयी हैं। इनमें सामान्य अलंकरण ही दुहराये गये हैं, जैसे संगीत-वाद्य बजाती हुई देवियाँ, नारियाँ, जन-समूह (चित्र २९५ क), दिक्पाल, अप्सराएँ और दिव्य नर्तक-नर्तकियाँ, जैन साधुओं की पूजा (चित्र २९५ ख) आदि।

इस मण्डप के निर्माण में एकरूपता नहीं है क्योंकि इसमें समय-समय पर परिवर्तन, जीर्णोद्धार और संवर्धन होते रहे और इनमें भी एक ने दूसरे के रूप-निर्धारण में मौलिक प्रभाव छोड़ा। पूरे मण्डप को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—पहले निर्मित हुआ गर्भालय वाला भाग जो सोलहवीं शती के उत्तरार्ध और सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध की कृति है; और शेष भाग जिसका निर्माण उन्नीसवीं शती के सातवें या आठवें दशक में बड़ौदा के महाराजा खाण्डे राव (१८५६-७० ई०) और महाराजा मल्हार राव (१८७०-७५ ई०) के शासनकाल में हुआ।

पाषाण से या काष्ठ से निर्मित प्रत्येक जैन मंदिर के चारों ओर सामान्यतः प्राचीर होता है जिसके अंतर्भाग पर तीर्थंकरों के देवकोष्ठ बनाये जाते हैं। इस प्रकार वर्षा और पानी से मंदिर के मुख्य भाग की सुरक्षा हो जाती है। इस प्रवृत्ति का विशेष लाभ यह हुआ कि कुछ काष्ठ-निर्मित मंदिर वातावरण की प्रताड़ना से बचे रहे और वे आज भी हमारे समक्ष विद्यमान हैं।

---

1 गोयेत्ज़ (एच). 'ए मॉन्यूमेण्ट ऑफ़ ओल्ड गुजराती वुड स्कल्पचर', **बुलेटिन ऑफ़ द बड़ौदा म्यूज़ियम एण्ड पिक्चर गैलरी**, 6, भाग 1-2. 1950. बड़ौदा. पृ 2.

हिन्दू मंदिर की ही भाँति जैन मंदिर के दो भाग होते हैं—मण्डप, जिसमें भक्त एकत्र होते हैं और मुख्य मंदिर अर्थात् गर्भालय जिसमें इष्टदेव की स्थापना होती है। इनमें से मण्डप महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पाषाण तथा काष्ठ पर कला के भव्य और विविध शिल्पांकनों को पर्याप्त स्थान वहीं मिलता है। जार्ज वाट की धारणा तो यहाँ तक बनी कि 'अलंकरण की कला का व्याकरण वास्तव में केवल काष्ठ-शिल्प के अध्ययन से ही लिखा जा सकता है, और जो यह संयोग बन पड़ा है कि काष्ठ-शिल्पी और पाषाण-शिल्पी एक ही जाति के होते हैं वह इस तथ्य की ओर भी पुष्टि करता है कि एक प्रकार के शिल्प ने दूसरे प्रकार के शिल्प को जब-तब स्वरूप प्रदान किया, और यह तथ्य भी कोई बहुत प्राचीन नहीं है।'[1]

जैन मंदिर का निर्माण अधिकतर किसी एक ही मध्यम श्रेणी के धनिक व्यक्ति के दान से हुआ होता है, यही कारण है कि ये कृतियाँ साधारणतः लघु आकार की हैं और उनमें वह आनुपातिक भव्यता नहीं आ सकी है जो एक देव-प्रासाद में होनी चाहिए। यद्यपि इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि जैनों ने साज-सज्जा को अपने आवास-गृहों में ही अधिक स्थान दिया जबकि महत्त्व वे मंदिर को ही अधिक देते रहे।

मण्डप की संयोजना पंक्तिबद्ध स्तंभों पर होती है, वे तोरणों और धरनों को आश्रय देते हैं जिन-पर विस्तृत अलंकरण होते हैं और उनपर सुंदर सुरुचिपूर्ण शिल्पांकित स्तूपी आधारित होती है। मण्डप में सर्वत्र निरंतर शिल्पांकन होते हैं। समान अंतर पर स्थित और तोरणों से परस्पर-संबद्ध बारह स्तंभों पर एक वृत्ताकार स्तूपी की संयोजना होती है। मदल-सहित शीर्ष और बडेरियाँ बाद में बनाये जाने लगे जिन्होंने भवन की स्थापत्य संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति तो की ही, काष्ठ पर सुंदर शिल्पांकन के लिए अत्यंत उपयुक्त स्थान भी उपलब्ध कराया।

पाटन का वादि-पार्श्वनाथ-मंदिर एक सर्वोत्तम काष्ठ-कलाकृति है जो अब न्यूयॉर्क के मेट्रोपॉलिटन संग्रहालय में सुरक्षित है। लगभग १८९० ई० में जब बर्जेस और कज़िन्स ने[2] उत्तरी गुजरात के पुरावशेषों का सर्वेक्षण किया तब यह १५९४ ई० की कलाकृति पाटन के झवेरीवाड मोहल्ले में थी, बाद में उसे मेट्रोपॉलिटन संग्रहालय ने प्राप्त कर लिया। इसमें छत के स्थान पर एक ३.४ मीटर ऊँची स्तूपी है जिसका व्यास ३.३ मीटर है। उसपर आकृतियों से अंकित वृत्ताकारों की चतुर्दिक् पंक्तियाँ और अलंकरणों की पट्टियाँ हैं और उसके अंतर्भाग के मध्य में एक कमलाकार लोलक बनाया गया है। अंतर्भाग में चारों ओर समान अंतर पर संयोजित आठों मदलों पर आकृतियाँ हैं। इनमें नारी-संगीत-मण्डलियाँ और नर्तकियाँ हैं और प्रति दो मदलों के मध्य एक अनुचरों-सहित आसीन

---

1 जार्ज वाट. **इण्डियन आर्ट एट देल्ही**. 1903. दिल्ली. पृ 100.

2 बर्जेस (जेम्स) और कज़िन्स (हेनरी). **दि आर्किटेक्चरल एण्टिक्विटीज ऑफ़ नार्दर्न गुजरात**, ऑर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, न्यू इम्पीरियल सीरीज़, 9, 1903. लंदन. पृ 49.

पुरुष-मूर्ति है। ये आठों दिक्पाल हैं। स्तूपी के नीचे उसे आश्रय देने के लिए अंतर्भाग में चार छज्जेदार गवाक्षों की संयोजना है जिनपर अत्यंत सूक्ष्म शिल्पांकन (चित्र २९६) हुआ है। उसके नीचे भित्तिमूल की भाँति चारों ओर एक पट्टी है, उसपर संयोजित देवकोष्ठों में संगीत-मण्डलियों और नर्तक-नर्तकियों के तथा उसके नीचे हंस और अन्य अलंकरण अंकित हैं।

मूर्तियाँ

जैन मान्यता है कि दीक्षा से एक वर्ष पूर्व एक बार जब वर्धमान अपने स्थान पर ही ध्यानमग्न थे तब, अर्थात् उनके जीवनकाल में ही, उनकी एक चंदन-काष्ठ की मूर्ति बनायी गयी।[1] यह एक अनुश्रुति है और इसके रहते हुए भी ऐसा कभी और कहीं नहीं हुआ कि काष्ठ-निर्मित एक भी तीर्थंकर-मूर्ति प्राप्त हुई हो ; फिर यह कहना भी कठिन है कि तीर्थंकर-मूर्ति काष्ठ से बनती-बनती पाषाण या कांस्य से कब बनने लगी। किन्तु जो तीर्थंकर-पूजा में विश्वास करते हैं उन्हें इस प्रश्न का समाधान मिलते देर न लगेगी कि काष्ठ-निर्मित मूर्ति की पूजा का निषेध क्यों किया गया। जल और दुग्ध से प्रक्षाल और चंदन-चर्चण ऐसे अनुष्ठान हैं जिनके कारण पूजा के लिए काष्ठ-निर्मित मूर्ति उपयुक्त नहीं मानी जा सकती। किन्तु अन्य देव-देवियों तथा स्थापत्य के अंग के रूप में संयोजित मूर्तियाँ अवश्य काष्ठ से बनती रहीं, इसीलिए विभिन्न संग्रहालयों और निजी संग्रहों में ऐसी अनेक मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

ऐसी अधिकांश मूर्तियाँ जैन मण्डपों, आवास-गृहों और मंदिरों के विभिन्न भागों में सत्रहवीं से उन्नीसवीं शती तक संयोजित होती रहीं, इसके पहले भी हुईं पर अब वे प्राप्त नहीं होतीं क्योंकि काष्ठ प्रकृति से ही इससे अधिक समय तक अक्षत नहीं रह सकता। ऐसी सभी कलाकृतियों में ये विशेषताएँ समान रूप से प्राप्त होती हैं : १—समान उपयोग के लिए निर्मित पाषाण की मूर्तियों की अपेक्षा ये आकार में लघुतर होती हैं; २—अपने मूल स्थान से पृथक् हो जाने पर ये प्राय: सभी ऐसी प्रतीत होती हैं मानो इन्हें पृथक् या स्वतंत्र रूप से ही गढ़ा गया हो; ३—इनके शिल्पांकन की यह विशेषता होती है कि इनका जो पार्श्व स्थापत्य के किसी अंग से जुड़ा रहता है उसे पर्याप्त समतल नहीं बनाया जाता; ४—साधारणत: इनपर रंग कर दिया जाता है; और ५—ये गुजरात और राजस्थान के ही किसी भाग में प्राप्त होती हैं इसलिए इनमें वहाँ की क्षेत्रीय विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। इस क्षेत्र के शुष्क वातावरण ने इन्हें अब तक सुरक्षित रहने में सहायता की। इन तथ्यों का विश्लेषण करने के लिए हम यहाँ कुछ जैन काष्ठ-मूर्तियों की चर्चा करेंगे।

प्राय: सभी जैन मण्डपों पर नारी-मूर्तियों के सुंदर शिल्पांकन होते हैं, वे या तो विविध संगीत-वाद्य बजा रही होती हैं (रेखाचित्र २६) या नृत्य की विविध मुद्राओं में होती हैं (चित्र २९८)।

---

1 (शाह) उमाकांत प्रेमानंद. स्टडीज इन जैन आर्ट. 1955. बनारस. पृ 4-5. बौद्धों में भी एक ऐसी ही अनुश्रुति है, आनंदकुमार कुमारस्वामी. हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट. 1965. न्यूयार्क. पृ 43.

इन सुंदरियों में पायल बाँधती नृत्यांगना की मूर्तियों की अपनी विशेषता है (रेखाचित्र २७)। कभी-कभी कोई लघु आकृति किसी बड़ी आकृति के अनुकरण पर उसके पैरों के पास बनायी गयी है (चित्र २९९ क) या कहीं कोई माता अपने शिशु को भारत में प्रचलित ढंग के अनुसार गोद में लिये दिखाई गयी है (चित्र २९९ ख)। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकतर सभी मूर्तियाँ रंगी हुई थीं और कुछ पर तो अब भी रंग के चिह्न बच रहे हैं। यद्यपि इनका निर्माण विभिन्न मण्डपों के अंगों के रूप में हुआ था तथापि ये वृत्ताकार में बनायी गयीं। उनके पृष्ठ-भाग पर वह चिक्कणता नहीं है जो इनके अग्रभाग पर लायी गयी।
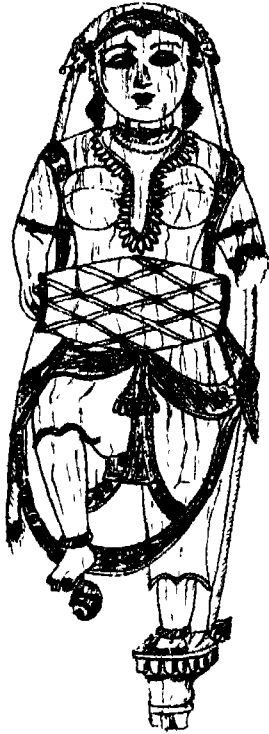
रेखाचित्र 26. गुजरात : काष्ठ-शिल्प, नारी-संगीतकार

रेखाचित्र 27. गुजरात : काष्ठ-शिल्प, पायल बाँधती नृत्यांगना

काष्ठ-निर्मित मंदिरों के अंगों के रूप में बनायी गयीं एवं अब उनसे पृथक् हो गयीं आयताकार पट्टियाँ और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनसे समकालीन जीवन की झाँकी मिलती है। ऐसी ही एक पट्टी पर जैन साधुओं (उनके मुँह पर मुँहपट्टी बँधी दिखाई गयी है) का विविध वस्तुएँ भेंट करते हुए ग्रमीणों द्वारा किया जाता सम्मान दिखाया गया है (चित्र ३०० क)। उस पट्टी के नीचे दायें कोण पर एक अश्वारोही इस अनुष्ठान को देखता हुआ अंकित है और बहुत से अन्य भक्त हाथ जोड़कर साधुओं की भक्ति करते हुए दिखाये गये हैं। एक व्यक्ति माला धारण किये है तो

दूसरा उसके पार्श्व में खड़ा पूर्ण-कुंभ और जप-माला लिये है, नीचे के दायें कोण पर दो कुत्तों के अंकन से इस समूचे दृश्य में स्वाभाविकता का संचार हो गया है ।

यह उल्लेखनीय है कि काष्ठ-निर्मित जैन पट्टियों में जन-समूह के साथ बैलगाड़ियाँ[1] प्रायः दिखाई जाती हैं (चित्र ३०० ख) । ये बैलगाड़ियाँ सदा पूरी सावधानी से उत्कीर्ण की गयी होती हैं और बैल चलते हुए दिखाये जाते हैं और उनके आगे-पीछे चलती हुई कुछ आकृतियाँ भी अंकित होती हैं । प्राचीन काल में यात्रा का एक और साधन था—पालकी, जो विशेष रूप से राजपरिवार के सदस्यों द्वारा उपयोग में लायी जाती थी, इन पट्टियों पर उसका भी अंकन हुआ है । यहाँ जिस पट्टी का चित्र दिया गया है (चित्र ३०० ग) उसमें एक राज-दंपति को पालकी में बैठा दिखाया गया है । उसके आगे गजारोही और पीछे अश्वारोही चल रहे हैं जिससे प्रकट होता है कि उक्त दंपति वास्तव में राजा और रानी हैं । अपना भार संतुलित बनाये रखने के लिए राजा ने किसी वस्तु को जोर से पकड़ रखा है । इस चित्रण से शिल्पकार की सूक्ष्म दृष्टि की अभिव्यक्ति होती है । पालकी ले जाने वालों के अंकन में भी स्वाभाविकता का इतना ध्यान रखा गया है जितना अन्य में नहीं रखा जाता ।

कुछ दिन पूर्व, बबई के एक प्रसिद्ध कलापारखी श्री हरिदास के० स्वाली ने एक अत्यंत उल्लेखनीय पट्टी प्राप्त की है जिसमें नेमिनाथ की वर-यात्रा का चित्रण हुआ है । यह २.२८ मीटर लंबी और २५ सेण्टीमीटर ऊँची है और उसपर के रंग की एक मोटी परत अब भी बच रही है । बायें से दायें उसपर दो अश्वारोही और एक बैलगाड़ी, तुरही और ढोल बजाने वाले, दोनों हाथों में मालाएँ धारण किये और नारी-आकृतियों से घिरा राजपरिवार का एक सदस्य, विवाह-मण्डप, आवास-गृह का दृश्य, पशु और विवाह-भोज के लिए मिष्ठान्न पकाये जाने के दृश्य अंकित हैं । विवाह-मण्डप में एक-के-ऊपर एक रखे मंगल-घट, बंदनवार और हवन की अग्नि का दृश्य अत्यंत रोचक बन पड़ा है और उससे पाटन (गुजरात) की सोलहवीं-सत्रहवीं शती की एक झाँकी मिलती है, जब और जहाँ इस पट्टी का निर्माण हुआ होगा । खाद्य-पदार्थों की तैयारी का एक अन्य दृश्य भी बहुत मनोरंजक है । आग पर रखी कड़ाही में किसी वस्तु को टालने में दो व्यक्ति व्यस्त हैं जब कि एक और व्यक्ति पास में रखी आलमारी से चुपचाप मिष्ठान्न चुराता हुआ दिखाया गया है ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त चर्चा से ज्ञात होता है कि जैन काष्ठ-शिल्प का क्षेत्र और उसकी विविधता कितनी व्यापक है । उससे हमें उस काल के सामाजिक इतिहास के पुनर्निर्धारण में ही सहायता नहीं मिलती वरन् कला के इतिहास में रह गयी कमी की पूर्ति भी होती है । इन सभी शिल्पांकनों से आकार में लघु

---

1 शाह, वही, पृ 5, 8.

होने पर भी, उनका निर्माण कराने वाले जैन धनिकों की अभिरुचि का आभास मिलता है जो अपने घर-देरासरों या मंदिरों में उपलब्ध तिल-तिल स्थान का अलंकरण हुआ देखना चाहते थे। एक माध्यम के रूप में काष्ठ ने शिल्पी को उच्च कोटि के दृश्यांकनों का अवसर प्रदान किया और इस प्रकार मानवता के लिए उच्च कोटि की विरासत को संभाल कर रखा। अधिकतर धार्मिक होते हुए भी ये शिल्प हमें तत्कालीन समाज की विशेष अभिरुचियों से परिचित कराते हैं। काष्ठ-शिल्प में जैनों ने अपने सहगामी हिंदुओं और बौद्धों का नेतृत्व किया।

विनोद प्रकाश द्विवेदी

भाग 8

पुरालेखीय एवं मुद्राशास्त्रीय स्रोत

अध्याय 33

अभिलेखीय सामग्री

जैन धर्म के उद्भव-क्षेत्र पूर्वी भारत में इस धर्म के इतिहास में प्राचीनतम उत्कीर्ण अभिलेख भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि पहाड़ी पर हाथीगुंफा का गुफा-अभिलेख है[1] जिसमें अन्य वृत्तांतों के साथ यह भी लिखा है कि चेदिराज खारवेल (द्वितीय या प्रथम शती ई० पू०) कलिंग-तीर्थंकर की वह मूर्ति अपनी राजधानी में पुनः ले आया जिसे नंदराज मगध ले गया था। उसी पहाड़ी पर उत्कीर्ण अन्य अभिलेखों में वृत्तांत है कि खारवेल के परिवार के शासकीय और राजकीय स्तर के व्यक्तियों ने उस पहाड़ी पर जैन मुनियों के आवास के लिए गुफाएँ बनवायीं[2]। इलाहाबाद जिले के पभोसा में प्राप्त उसी काल के दो अभिलेखों[3] में कहा गया है कि काश्यपीय अरहंतों (अर्थात् वे जैन साधु जो काश्यप या वर्धमान के अनुयायी थे) के आवास के लिए आषाढ सेन ने एक गुफा बनवायी[4]।

ईसवी सन् के आरंभ में जैन धर्म का एक केंद्र उत्तर प्रदेश में मथुरा था[5]। वास्तव में इस नगर के कंकाली-टीला नामक क्षेत्र में मूलतः अनेक जैन भवन थे जिनमें एक स्तूप भी था। इस क्षेत्र में प्राप्त अनेक मूर्तियों और भवनों के शिलाखण्डों पर अभिलेख उत्कीर्ण हैं। इनमें एक महत्त्वपूर्ण आयाग-पट है, जिसपर दो नारियों से परिवृत एक महिला का अंकन है, इसपर (चित्र ३०१ क) उत्कीर्ण है कि महाक्षत्रप शोडास के बहत्तरवें वर्ष में किसी आमोहिनी ने इस आयाग-पट का दान किया[6]। यदि यह बहत्तरवाँ वर्ष विक्रम संवत् माना जाये तो इस आयाग-पट का काल १५ ई० माना जायेगा। आयाग-पट पर अंकित महिला वर्धमान तीर्थंकर की माता रानी त्रिशला मानी गयी है।[7] शक संवत् ५४ अर्थात् १३२ ई० के अभिलेख-सहित एक और सुंदर मूर्ति है, यह सरस्वती

1 सरकार (दिनेशचंद्र) सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस बियरिंग ऑन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइज़ेशन, 1. 1965. कलकत्ता. पृ 213 तथा परवर्ती.

2 [देखिये प्रथम भाग मे अध्याय 7.--संपादक.]

3 एपिग्राफिया इण्डिका, 2, 1893-94, पृ 242-243.

4 [देखिए प्रथम भाग में पृ 11, पाद टि० 4. --संपादक.]

5 [देखिए, प्रथम भाग में अध्याय 6—संपादक.]

6 ल्यूडर्स (एच). लिस्ट ऑफ़ ब्राह्मी इंस्क्रिप्शंस. 1912. क्रमांक 59.

7 अग्रवाल (वासुदेव शरण). ए शॉर्ट गाइड-बुक टु दि आर्क्यॉलॉजिकल सेक्शन ऑफ़ द प्रॉविंसियल म्यूज़ियम, लखनऊ. 1940. इलाहाबाद. पृ 5.

की कदाचित् सर्वप्रथम मूर्ति है[1] । स्तूप के समीपवर्ती क्षेत्र में तीर्थंकरों और विशेषतः वर्धमान की अनेक मूर्तियाँ[2] प्राप्त हुईं जिनपर विभिन्न शक संवतों के अभिलेख उत्कीर्ण हैं । मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से उन सब में एकरूपता है और सबके पादपीठ पर धर्मचक्र का अंकन है । इन अवशेषों में एक वर्ग आयाग-पटों अर्थात् पूजा के लिए प्रयोग में आने वाले शिलापटों का है, इनमें भी कुछ पर अभिलेख हैं[3]।

गुप्त काल में जैन धर्म को भारत के उत्तरी, पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भागों में बहुत प्रोत्साहन नहीं मिला । तो भी इन क्षेत्रों की जनता में उसके अनुयायी निरंतर होते रहे । विदिशा के समीप दुर्जनपुर में कुछ समय पूर्व प्राप्त तीर्थंकरों की तीन पाषाण-मूर्तियों पर उत्कीर्ण अभिलेखों[4] में लिखा है कि उनका निर्माण महाराजाधिराज रामगुप्त ने कराया था जिससे न केवल इस आरंभिक गुप्त-शासक की ऐतिहासिकता संपुष्ट होती है, प्रत्युत यह भी सिद्ध होता है कि इस क्षेत्र में इस धर्म को राजकीय संरक्षण प्राप्त था । चंद्रप्रभ, पुष्पदंत और पद्मप्रभ की ये तीर्थंकर-मूर्तियाँ गुप्त कला की रूढ़ शैली में निर्मित हैं और चौथी शती के अंत में प्रचलित इस कला के रूप का ये अच्छा प्रतिनिधित्व करती हैं ।[5]

इस युग की जैन कला-कृतियों पर प्रकाश डालने वाला एक अन्य महत्त्वपूर्ण अभिलेख[6] विदिशा के समीप उदयगिरि पहाड़ी पर गुफा-२० में उत्कीर्ण है । उसमें कुमारगुप्त के शासनकाल का गुप्त संवत् १०६ (४२५-२६ ई०) अंकित है और लिखा है कि उस गुफा के अग्र-भाग पर पार्श्वनाथ की फणावलि-मण्डित मूर्ति (जो अब अप्राप्य है) स्थापित की गयी (जिनवर-पार्श्व-संज्ञिकां जिनाकृतिम्) । उक्त शासनकाल में ही गुप्त संवत् ११३ (?) से अंकित एक और अभिलेख[7] एक जैन मूर्ति पर उत्कीर्ण है जो मथुरा से प्राप्त हुई थी और अब लखनऊ सग्रहालय में सुरक्षित है । गोरखपुर जिले के कहाऊँ नामक स्थान पर एक भूरे बलुआ पाषाण का स्तंभ मिला है जिसपर पाँच तीर्थंकरों, कदाचित् आदिनाथ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की सुंदर मूर्तियाँ हैं । उसपर स्कंदगुप्त के शासनकाल का गुप्त संवत् १४१ (४६०-६१ ई०) का अभिलेख है ।[8] उसमे लिखा है कि किसी मद्र ने आदि-कर्ताओं या तीर्थंकरों की पाँच पाषाण-मूर्तियाँ स्थापित करायीं जो स्पष्ट रूप से वे ही हैं जो इस स्तभ पर अंकित पाँच देवकोष्ठिकाओं में उत्कीर्ण हैं । राजशाही जिला (बांग्ला देश) के

---

1 ल्यूडर्स, वही, क्रमांक 54, [देखिए प्रथम भाग में पृ 70, चित्र 20. —सपादक.]

2 वही, क्रमांक 16, 17, 18, 28 और 74.

3 [देखिए प्रथम भाग मे चित्र 1, 2 ब, 14, 15 और 16.—संपादक.]

4 गइ (जी एस) **एपिग्राफिया इण्डिका**, 28, भाग 1, जनवरी, 1969, पृ 46-49.

5 [देखिए प्रथम भाग में अध्याय 12. —संपादक.]

6 फ़्लीट (जे एफ़) **इंस्क्रिप्शंस ऑफ दि अर्ली गुप्त किंग्स, कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम् 3**, 1888, कलकत्ता. पृ 258.

7 भण्डारकर, (देवदत्त रामकृष्ण) **लिस्ट ऑफ नॉर्थ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस**, क्रमांक 1268.

8 फ्लीट, पूर्वोक्त, पृ 66-67.

पहाड़पुर से प्राप्त गुप्त संवत् १५९ (४७९ ई०) की तिथि से अंकित एक ताम्र-पट-अभिलेख[1] में वृत्तांत है कि वट-गोहाली में एक जैन चैत्यवास था जिसमें स्थापित देव-अर्हतों की पूजा के लिए एक ब्राह्मण ने भूमि का दान किया था और जिसके प्रमुख काशी (वाराणसी) के पंच-स्तूप-निकाय के श्रमणाचार्य गुहानंदी थे।

झाँसी जिले के देवगढ़ में जैन कला का जो विशाल भण्डार है उसमें अनेक कृतियाँ अभिलिखित हैं। यहाँ लगभग चालीस जैन मंदिर[2] और नौवीं शती तथा उसके बाद की तिथियों से अंकित लगभग चार सौ अभिलेख हैं[3]। इनमें प्रतीहार राजा भोज के शासनकाल का विक्रम संवत् ९१९ और शक संवत् ७८४ (८६२ ई०) का एक तिथ्यंकित स्तंभ-अभिलेख है जिसमें लुअच्छगिर (आधुनिक देवगढ़) में शांतिनाथ-मंदिर के समक्ष इस स्तंभ के निर्माण और स्थापना का वृत्तांत है। इस स्थान के अन्य अभिलेखों से हमें ज्ञात होता है कि यहाँ के मंदिरों में द्वार, स्तंभ, शाला और मण्डप बनाये जाते थे। वहाँ विभिन्न व्यक्तियों द्वारा स्थापित तीर्थंकरों और आचार्यों की पादुकाएँ (चरण-चिह्न) भी हैं। जैन मंदिरों के समक्ष मान-स्तंभ या पूजार्थ स्तंभ स्थापित किये जाते थे जिनपर तीर्थंकरों की और अन्य जैन देवताओं की लघु आकृतियाँ उत्कीर्ण की जाती थीं।

देवगढ़ के अधिकांश अभिलेख मूर्तियों के पादपीठों पर अंकित हैं। बहुत-सी तीर्थंकर-मूर्तियों की पहचान उनपर उत्कीर्ण लांछनों या परिचायक-चिह्नों से हो जाती है, जैसे शांतिनाथ की हिरण से, मल्लिनाथ की कलश से, संभवनाथ की अश्व से, पद्मप्रभ की कमल से, आदिनाथ की वृषभ से, आदि। कई बार अभिलेखों में ही तीर्थंकरों के नाम ऋषभ, पार्श्व, चंद्रप्रभ आदि उल्लिखित होते हैं। एक सर्वतोभद्र-प्रतिमा पर 'चतुर्मुख-सर्व-देव-संघ' का शीर्षक उत्कीर्ण है। शीर्षकों-सहित उल्लेखनीय मूर्तियाँ पुरुदेव, गोम्मट, चक्रेश्वरी, पद्मावती देवी, सरस्वती और मालिनी की हैं।

जैन शास्त्रों में प्रत्येक तीर्थंकर के यक्ष और यक्षी का विधान है, जिनका यहाँ नामोल्लेख हुआ है[4]। देवगढ़ के मुख्य मंदिर (क्रमांक १२) की भित्तियों पर जो तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं उनके साथ उनकी यक्षियों की मूर्तियाँ और शीर्षक भी उत्कीर्ण हैं। यद्यपि यह उल्लेखनीय है कि यक्षियों के ये नाम न तो दिगंबर-परंपरा के अनुरूप हैं न श्वेतांबर-परंपरा के। इस विशेषता का एक उपयोग यह अवश्य है कि इससे मूर्ति-विज्ञान के अध्ययन में सहायता मिलती है, क्योंकि इनमें से एक शीर्षक के साथ तिथि, विक्रम संवत् ११२६ (१०६९-७० ई०) भी अंकित है। यक्षियों के उत्कीर्ण नाम ये हैं :

---

1 दीक्षित (के एन). **एपिग्राफिया इण्डिका**, 20, 1929-30. पृ 59-64.

2 [देखिए प्रथम भाग में अध्याय 14. —संपादक.]

3 **एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी, 1955-56 से 1959-60 एवं 1970-71,** (अप्रकाशित); **एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट, आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नॉर्दर्न सर्कल,** 1915, 1916, 1918.

4 [दिगंबर और श्वेतांबर परंपराओं के अनुसार इनकी नामावली के लिए देखिए प्रथम भाग में पृ 15-17. —संपादक.]

भगवती सरस्वती (अभिनंदन); सुलोचना (पद्मप्रभ); मयूरवाहिनी (सुपार्श्वनाथ); सुमालिनी (चंद्रप्रभ); बहुरूपी (पुष्पदंत); श्रीयादेवी (शीतल); वह्नी (श्रेयांस); अभंगरतिन (आभोग-रत्ना ?), (वासुपूज्य); सुलक्षणा (विमल); अनंतवीर्या (अनंत); सुरक्षिता (धर्म); श्रीयादेवी (शांति); आर्द्रकरब्बि (कुंथु); तारादेवी (अर); हिमावती (मल्लि); सिद्धइ (मुनिसुव्रत); हयवई (नमि); और अपराजिता (वर्धमान)। इसके साथ ही, यक्षियों के उत्कीर्ण नाम ऐसे भी हैं जो यथाशास्त्र हैं।

जैन धर्म किसी सीमा तक ग्वालियर के कच्छपघात वंश के राज्यकाल में भी चलता रहा। इसकी संपुष्टि एक अभिलेख से होती है[1] जो विक्रम संवत् १०३४ (६७७ ई०) में राजा वज्रदामन् के राज्यकाल में ग्वालियर में निर्मित एक मूर्ति के पादपीठ पर उत्कीर्ण है। भरतपुर जिले के बयाना का एक जैन मंदिर अब मसजिद के रूप में विद्यमान है जिसके एक स्तंभ पर विक्रम संवत् ११०० (१०४४ ई०) का राजा विजयाधिराज (विजयपाल ?) के शासनकाल का एक अभिलेख[2] उत्कीर्ण है। मोरेना जिले मे दूबकुण्ड के एक ध्वस्त मंदिर में विक्रम संवत् ११४५ (१०८८ ई०) का एक अभिलेख है[3]। कच्छपघात राजवंश के अंतिम राजकुमार विक्रमसिंह के समय के इस अभिलेख में लिखा है कि यह मंदिर अत्यंत उत्तुंग था और गाढ़े चूने से पुता हुआ था (वरसुधा-सान्द्र-द्रवापाण्डुरम्)। उसमें चंद्र-चिह्नांकित तीर्थंकर चंद्रप्रभ और पंकजवासिनी अर्थात् कमल पर आसीन श्रुतदेवता अर्थात् विद्या की देवी श्वेत-पद्मासना (ब्राह्मण सरस्वती से उसकी तुलना की जा सकती है) का भी उल्लेख है।

कलचुरियों के राज्यकाल में जैनों के अपने मंदिर और मूर्तियाँ थीं, यह तथ्य जबलपुर जिले के बहुरीबंद में स्थित शांतिनाथ की विशाल खड्गासन-प्रतिमा से प्रमाणित होता है। बारहवीं शती के पूर्वार्ध के शासक गयाकर्ण के समय उत्कीर्ण किये गये उस मूर्ति के अभिलेख में वृत्तांत है कि शांतिनाथ का एक सुंदर मंदिर बनवाया गया और एक अतिसुंदर तथा अतिधवल (महाश्वेत) छत (वितान) का निर्माण किया गया जो स्पष्टतः मूर्ति के ऊपर रही होगी[4]।

खजुराहो के पार्श्वनाथ-मंदिर में चंदेल शासक धंग के काल में उत्कीर्ण अभिलेख[5] से प्रस्तुत अध्ययन के लिए कोई विशेष विवरण प्राप्त नहीं होता; किन्तु उसमें स्थापित एक मूर्ति पर उत्कीर्ण

---

1 जनरल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 31. 1882. पृ 393.

2 इण्डियन एण्टिक्वेरी, 14, 1885, पृ 10.

3 एपिग्राफ़िया इण्डिका, 2. पृ 237 तथा परवर्ती.

4 मिराशी (वासुदेव विष्णु). इंस्क्रिप्शंस ऑफ़ द कलचुरि चेदि ऐरा, कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, 4. 1955. उटकमण्ड पृ 310-11.

5 एपिग्राफिया इण्डिका, 1, 1892. पृ 135-36.

अभिलेख से स्पष्ट होता है कि वह तीर्थंकर संभवनाथ की है। मध्य प्रदेश के विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध अनेक उत्तर-मध्यकालीन मूर्तियों के पादपीठों पर तिथि-सहित अभिलेख उत्कीर्ण हैं। इन अभिलेखों में विभिन्न तीर्थंकरों की मूर्तियों की प्रतिष्ठा के वृत्तांत होते हैं। उदाहरण के लिए, शिवपुरी जिले के गूदर में प्राप्त विक्रम संवत् १२०६ (११४६ ई०) के एक अभिलेख में[1] शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ की मूर्तियों की प्रतिष्ठा का उल्लेख है। मोरेना जिले के बनैचा में ऐसी अनेक मूर्तियाँ हैं जिनके पादपीठ पर उनकी प्रतिष्ठा की तिथि अंकित है[2], जैसे—विक्रम संवत् १३९० (१३३३ ई०) चैत्र शुक्ल १५, गुरुवार। ग्वालियर के उत्तरकालीन तोमरवंश के राज्यकाल में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ा। इसका प्रमाण ग्वालियर की मूर्तियों के पादपीठों पर अंकित उन अभिलेखों से मिलता है जिनमें से एक राजा डूंगरसिंह के शासनकाल में विक्रम संवत् १५१० (१४५३ ई०)[3] में और कुछ कीर्तिसिंह के शासनकाल में विक्रम संवत् १५२५ (१४६८ ई०)[4] आदि में उत्कीर्ण किये गये।

कांगड़ा जिले के कीरग्राम के शिव-वैद्यनाथ-मंदिर में प्राप्त एक खण्डित जैन मूर्ति के पादपीठ पर उत्कीर्ण एक अभिलेख में विक्रम संवत् १२९६ (१२४० ई०) की तिथि अंकित है[5] और उसमें लिखा है कि मूलबिंब के रूप में यह प्रतिमा कीरग्राम में ही महावीर-मंदिर में प्रतिष्ठित की गयी। यह पादपीठ अब एक शिव-मंदिर में है, अतः हो सकता है कि यह अपने मूल मंदिर से लाया गया हो जो अब नष्ट हो चुका हो।

गुजरात और राजस्थान भी जैन धर्म के महान् केंद्र थे, इस क्षेत्र में जैन कृतियों के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। स्वस्तिक, भद्रासन, मीन-युगल[6] आदि विशेष जैन प्रतीकों से अंकित एक जैन गुफा में उत्कीर्ण रुद्रसिंह के द्वितीय शताब्दी के जूनागढ़ अभिलेख से[7] और ऋषभ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि[8] तीर्थंकरों की मूर्तियों सहित ढाँक की सातवीं शती की जैन गुफाओं से संकेत मिलता है कि गुजरात-क्षेत्र में जैन धर्म पहले से प्रचलित था। प्रतीहार राजा कुक्कुक ने विक्रम संवत् ९१८ (८६१ ई०)[9] में जोधपुर के समीप घटियाला में एक जैन मंदिर बनवाया था। तथापि मुख्यतः

1 द्विवेदी (एच वी). **ग्वालियर राज्य के अभिलेख**. 1947. ग्वालियर. क्रमांक 72.
2 वही, क्रमांक 196-210.
3 वही, पृ 276-277.
4 वही, पृ 291-302.
5 **एपिग्राफिया इण्डिका**, 1. पृ 97 तथा परवर्ती, 119.
6 [देखिए प्रथम भाग में अध्याय 8—संपादक.]
7 **दि एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी**, संपादक—मजूमदार रमेशचंद्र और पुसालकर (ए डी), 1960. बंबई, पृ 418 में धाटगी (ए एम).
8 धाटगी, वही. [देखिए प्रथम भाग में अध्याय 13. —संपादक.]
9 **जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी**, 1895. पृ 516.

चालुक्य शासकों और उनके अधिकारियों के प्रश्रय के माध्यम से जैन धर्म उन क्षेत्रों में अपना प्रभाव केवल ग्यारहवीं शती के आरंभ से ही बद्धमूल कर सका। और उसके बाद सौ शतियों तक उस विस्तृत क्षेत्र में दिलवाड़ा, अचलगढ़, शत्रुंजय, सरोत्रा, तारंगा, गिरनार, जालोर, उदयपुर, जयपुर पालीताना, पाली, नाडलई, राणकपुर आदि जैसे कला-वैभव के लिए विख्यात स्थानों पर अनेक महत्त्वपूर्ण जैन प्रतिष्ठानों का प्रादुर्भाव हुआ। जैन स्मारकों से समृद्ध इन तथा अन्य स्थानों पर ग्यारहवीं से अठारहवीं शती तक की विभिन्न तिथियों से अंकित अनेक अभिलेख उत्कीर्ण किये गये जिनके व्यवस्थित अध्ययन से गुजरात और राजस्थान के जैन स्मारकों के इतिहास का एक समूचा चित्र सामने आता है।

उक्त कथन की संपुष्टि के लिए अनुपम उदाहरण है वह प्रसिद्ध जैन मंदिर-समूह जो आबू में स्थित है, जिसका अपने सार्थक नाम दिलवाड़ा (देव-कुल-वाटक) के रूप में प्रसिद्ध होना तर्कसंगत है। विमल-वसति, लूणा-वसति, पित्तलहर-मंदिर, चतुर्मुख या खरतर-वसति और महावीर स्वामी-मंदिर नामक पाँच प्रसिद्ध श्वेतांबर-मंदिरों में अनेक ऐसे अभिलेख हैं जिनसे इन मंदिरों के निर्माण, नवीनीकरण, संवर्धन और उनमें मूर्तियों की स्थापना और प्रतिष्ठा के विषय में विस्तृत और तिथि-सहित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार, यहाँ के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विमल-वसहिका का निर्माण और आदिनाथ के लिए उसकी प्रतिष्ठा विक्रम संवत् १०८८ (१०३१-३२ ई०) में हुई थी[1]। इस मंदिर की हस्तिशाला में आदिनाथ के समवसरण की स्थापना विक्रम संवत् १२१२ (११५५-५६ ई०)[2] में हुई थी, इस वसहिका का नवीनीकरण तीन बार में अर्थात् विक्रम संवत् १२०६ (११४९ ई०), विक्रम संवत् १३०८ (१२५१-५२) और विक्रम संवत् १३७८ (१३२१-२२ ई०)[3] में हुआ था (चित्र ३४१ख) और अनेक लघु गर्भालयों अथा देवकोष्ठों का निर्माण और मूर्तियों की (पृथक्-पृथक् और सामूहिक या मूर्ति-पट्टों के रूप में) स्थापना इस मंदिर के विभिन्न भागों में शतियों तक होती रही।

लूणा-वसहिका के एक अभिलेख में[4] विक्रम संवत् १२८७ (१२३०-३१) में उसकी प्रतिष्ठा का वृत्तांत है और इस मंदिर का विवरण इन शब्दों में है :

तेजःपाल इति क्षितीन्द्र-सचिवः शंखोज्ज्वलाभिः शिला—
श्रेणीभिः स्फुरदिन्दु-कुन्द-रुचिरं नेमिप्रभोर्मन्दिरम्।
उच्चैर्मण्डपमग्रतो जिनवरावास-द्विपंचाशतम्
तत्पार्श्वेषु बलानकं च पुरतो निष्पादयामासिवान्॥

---

1 श्री-अर्बुद-प्राचीन-जैन-लेख संदोह, 2. क्रमांक 1.
2 वही, क्रमांक 229.
3 वही, क्रमांक 72, 184, 36.
4 वही, क्रमांक 250.

(क) मथुरा शोडास के राज्यकाल का एक अभिलेख, वर्ष 72
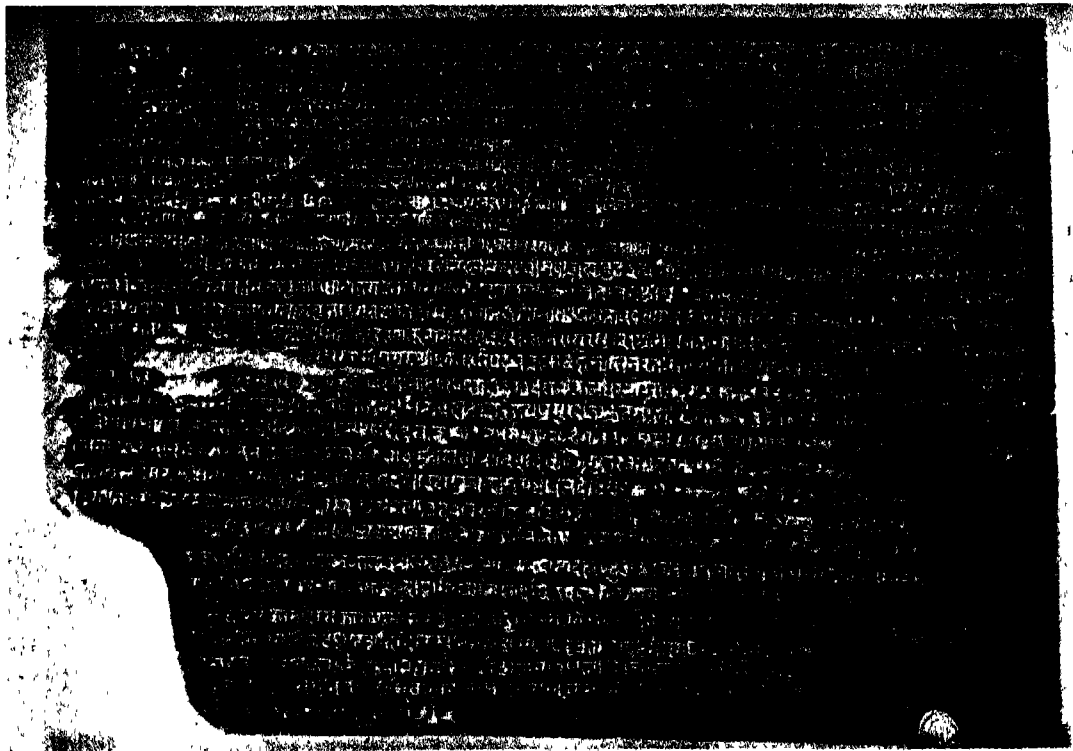
(ख) माउण्ट आबू : विमल-वसहि-मंदिर का एक अभिलेख, विक्रम संवत् 1378

चित्र 301

कुटिकयाल : शैलोत्कीर्ण चक्रेश्वरी और उसके नीचे अभिलेख

चित्र 302
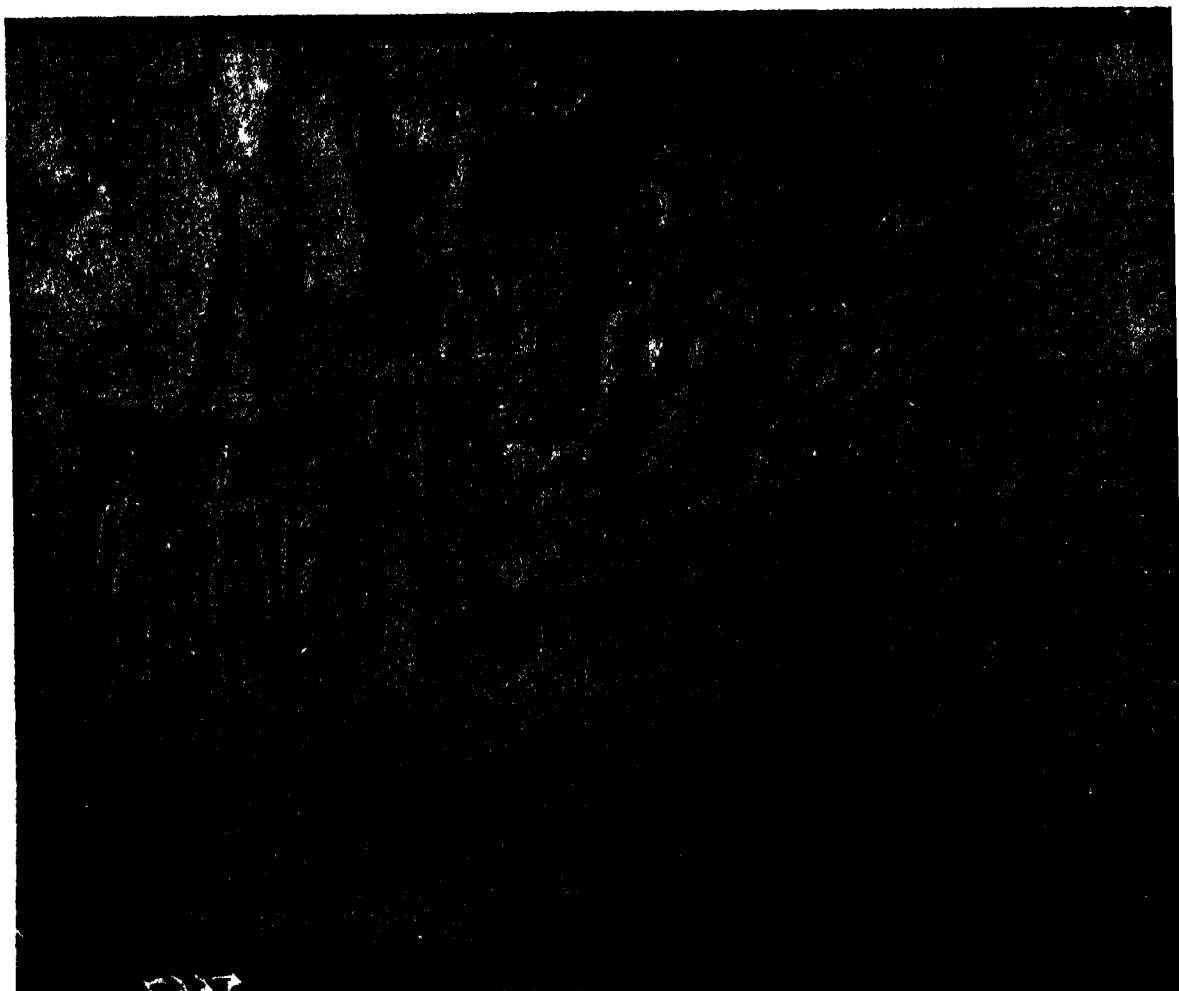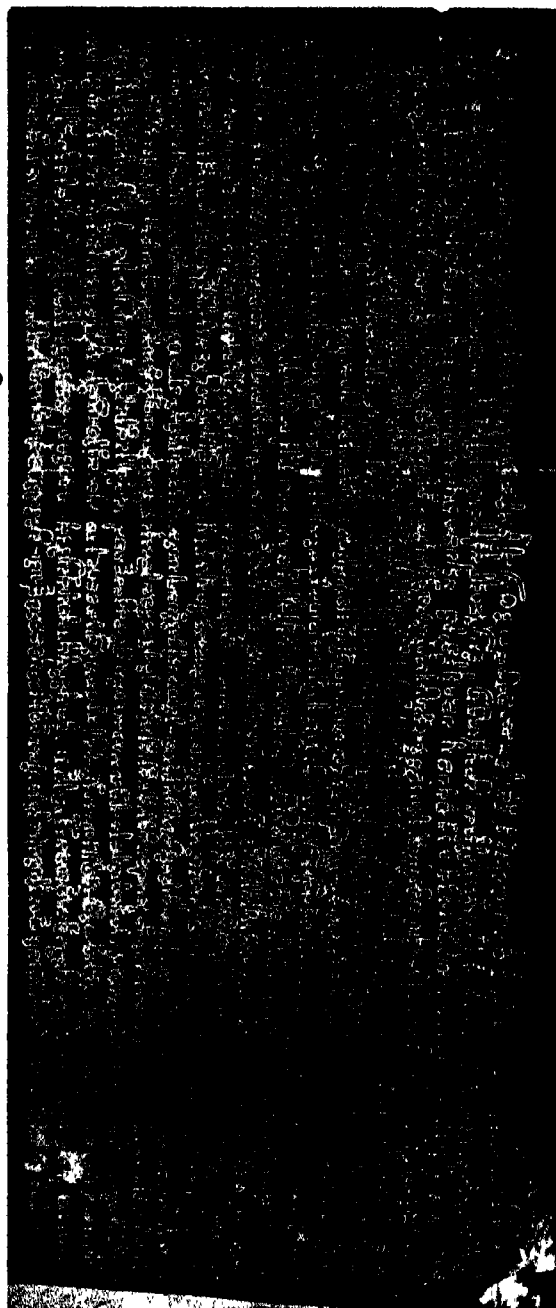
ऐहोल · मेगुटी-मंदिर का अभिलेख, शक संवत् 556

चित्र 303
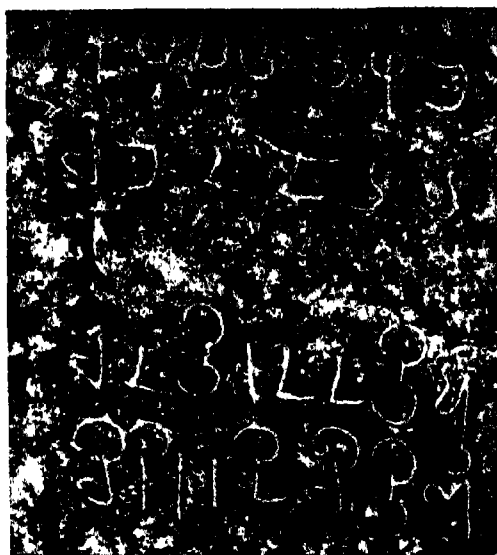
(क) तिरुनाथारकुण्रु : वट्टेजुत्तु लिपि में अभिलेख
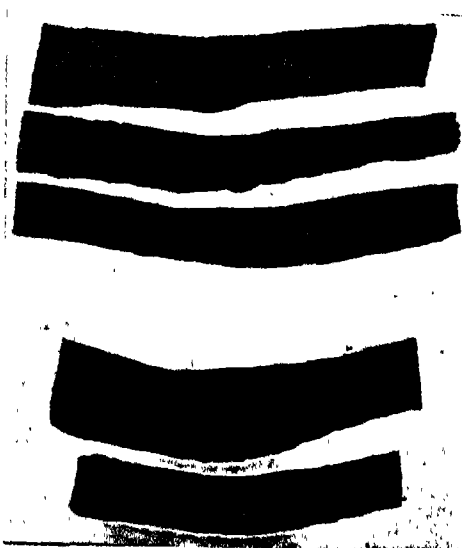
(ख) श्रवणबेलगोला . गोम्मटेश्वर की मूर्ति के पार्श्वों में उत्कीर्ण अभिलेख

चित्र 304

एक अन्य अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि इस मंदिर-समूह के नेमिनाथ-महातीर्थ का निर्माण मंत्री तेजपाल ने विक्रम संवत् १२५७ (१२००-१२०१ ई०) में कराया था, अन्य अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसी ने उस मंदिर में अनेक उप-गर्भालयों तथा देवकुलिकाओं का भी निर्माण कराया था। एक तीसरे अभिलेख[2] के अनुसार विक्रम संवत् १२९३ (१२३६-३७ ई०) में लूणा-वसहिका में बहुत से उप-गर्भालयों तथा देवकुलिकाओं का निर्माण हुआ तथा और भी मूर्तियाँ स्थापित की गयीं। इसी अभिलेख में लिखा है कि शत्रुंजय, जावालिपुर, तारणगढ़, अणहिल्लपुर, बीजापुर लाटापल्ली, प्रह्लादनपुर, नागपुर और स्वयं अर्बुदाचल के जैन मंदिरों में भी इसी प्रकार के संवर्धन किये गये।

इसके अतिरिक्त, जालोर के एक अभिलेख[3] से सूचित होता है कि चालुक्य कुमारपाल के द्वारा विक्रम सवत् १२२१ (११६४ ई०) में निर्मित कूवर-विहार का नवीनीकरण विक्रम संवत् १२४२ (११८५ ई०) में चाहमान समरसिंह ने कराया, विक्रम संवत् १२५६ (११९९ ई०) में उसके मूल शिखर पर स्वर्णमय ध्वज-दण्ड लगाया गया, और विक्रम संवत् १२६२ (१२०५ ई०) में मध्य-मण्डप पर एक स्वर्णमय कलश की स्थापना की गयी।

इन अभिलेखों में मंदिर शब्द के लिए पर्यायवाची रूप में चैत्य, वसति, हर्म्य, मंदिर, वेश्म, विहार, भुवन, प्रासाद, और स्थान शब्दों का प्रयोग हुआ है; इसके साथ, इन अधिकतर तिथ्यंकित अभिलेखों से मंदिरों या उप-गर्भालयों के पृथक्-पृथक् (देवकुलिका, चतुर्मुख-देवकुलिका, आलय-रूप देवकुलिका, महातीर्थ, तीर्थ, देहरी) या सामूहिक (देवकुलिका-द्वयम्, देवकुलिका-त्रयम् आदि) के निर्माण और नवीनीकरण के विषय में उपयोगी और विश्वसनीय तथ्य प्राप्त होते हैं और कभी-कभी तो उनसे स्थापत्य-संबंधी विशेषताओं (बिम्ब-दण्ड-कलशादि-सहिता देवकुलिका) पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनमें से कई अभिलेखों से इन मंदिरों के समूचे या आंशिक जीर्णोद्धार, (विहार-जीर्णोद्धार, तीर्थ-समुद्धार, तीर्थोद्धार, चैत्य-जीर्णोद्धार, आदि) के विषय में भी सूचनाएं मिलती हैं। इन अनेक अभिलेखों में सैकड़ों पृथक्-पृथक् (खत्तक) या सामूहिक (खत्तक-द्वयम् आदि) देवकोष्ठों के निर्माण के वृत्तांत भी आये हैं। इनमें से अधिकतर अभिलेखों में मूर्तियों के निर्माण, स्थापना और प्रतिष्ठा के उल्लेख हैं, कभी पृथक्-पृथक् (प्रतिमा, मूर्ति, बिम्ब) और कभी सामूहिक रूप में (जिन-युगलम्, जिन-युगल-द्वयम्, जिन-युग्मम्, मूर्ति-युग्मम्, त्रि-तीर्थिका, पंच-तीर्थिका, चतुर्विंशति-पट्ट, चौबीसी-पट्ट, द्वासप्तति-जिन-पट्टिका, द्विसप्तति—तीर्थंकर-पट्ट, ९६-जिन-पट्टिका आदि)। बहुत से अभिलेखों में इन मूर्तियों के परिकार (अष्ट-महाप्रतिहार्य आदि) से विशिष्ट होने का उल्लेख मिलता है। कुछ थोड़े से अभिलेखों में मूर्तियों की वस्तु और आकार का निर्देश भी किया गया है (जैसे १०८-मान-प्रमाणं सपरिकरं प्रथम-जिन-बिम्बम्, पित्तलमय-४१-अंगुल-प्रमाण-प्रथम-जिन-मूल-नायक-परिकरे श्रीशीतलनाथ-बिम्बम्,

1 वही, क्रमांक 260.
2 वही, क्रमांक 352.
3 जैन इंस्क्रिप्शंस. संकलन और संपादन : पूरनचंद नाहर, भाग 1. 1918. कलकत्ता. पृ 239

नव-फण-पार्श्वनाथ-बिम्बम् आदि)।[1] अभिलेखों में महात्माओं की चरण-पादुकाओं के निर्माण का भी उल्लेख हुआ है (पादुका, पादुका-स्तूपः, स्तूप-सहिताः पादुकाः[2], सिद्धचक्र[3] आदि)।

कुछ थोड़े-से अभिलेखों में मंदिरों का निर्माण करने वाले स्थपतियों और मूर्तियाँ गढ़ने वाले मूर्तिकारों के नामों का भी उल्लेख हुआ। उदाहरण के लिए, एक अभिलेख में[4] वृत्तांत है कि राणकपुर में विक्रम संवत् १४९६ (१४३९ ई०) में निर्मित त्रैलोक्य-दीपक-चतुर्मुख-विहार सूत्रधार देपाक की कृति है। पित्तलहर-मंदिर की प्रसिद्ध ऋषभनाथ-मूर्ति सूत्रधार मण्डन के पुत्र सूत्रधार देव की कृति है[5]। अचलगढ़ के चतुर्मुख मंदिर की आदिनाथ की विशाल कांस्य-मूर्ति विक्रम संवत् १५६६ (१५०९ ई०) में सूत्रधार अर्बुद के पुत्र सूत्रधार हरदास ने बनायी।[6]

संक्षेप में, यह निर्विवाद निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विशेषतः ग्यारहवीं शती के आरंभ की पश्चिमी भारत की जैन कला और स्थापत्य के इतिहास को समुचित रूप से समझने में समूचे गुजरात और राजस्थान में उपलब्ध सैकड़ों अभिलेख अनिवार्य सहायता देते हैं।

दक्षिण की ओर, आंध्र प्रदेश में जैन धर्म को फलने-फूलने के अनुकूल धरातल न मिल सका। यद्यपि इस क्षेत्र के विभिन्न भागों में कुछ जैन मंदिरों के खण्डहर और विशेषतः तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं[7], पर वे कला या मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से सुंदर नहीं हैं। इनमें से जो स्मारक और मूर्तियाँ अभिलिखित हैं उनकी संख्या और भी थोड़ी है। तथापि, कम-से-कम सातवीं शती से इस धर्म के अनुयायी इस क्षेत्र में रहे हैं जिन्होंने अर्हंतों के मंदिर बनवाये। उदाहरणार्थ, पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन-तृतीय के शासनकाल के एक कांस्य-पट्टिका-अभिलेख में[8] वृत्तांत है कि मुनिसिकोण्डा ग्राम के उस दान का नवीनीकरण किया गया जो विजयवाडा के नडुम्ब-बसदि नामक जैन मंदिर को पूर्वी चालुक्य राजवंश के संस्थापक कुब्ज विष्णुवर्धन की रानी अय्यन-महादेवी ने मूल रूप में किया था।

कुडप्पा जिले का दानवुलपडु एक जैन केंद्र था, वहाँ के जैन मंदिर और मूर्तियाँ अपनी उत्कृष्ट कलाकारी के लिए उल्लेखनीय थीं। यहाँ से प्राप्त कुछ मूर्तियाँ और स्थापत्य-संबंधी शिलाखण्ड अब

---

1 **श्री-अर्बुद-प्राचीन-जैन-लेख-संदोह**, 2. क्रमांक 408, 410, 449, 454, 455.
2 **अर्बुदाचल-प्रदक्षिणा-जैन-लेख-संदोह**, आबू. 5, क्रमांक 258 तथा परवर्ती.
3 **एपिग्राफ़िया इण्डिका**, 2, पृ 77.
4 नाहर, वही, पृ 165-166.
5 **श्री-अर्बुद-प्राचीन-लेख-संदोह**, 2. क्रमांक 408.
6 वही, क्रमांक 473.
7 गोपालकृष्णमूर्ति (एस). **जैन वेस्टिजेज इन आंध्र**, आंध्र प्रदेश गवर्नमेण्ट आर्क्यॉलॉजिकल सीरिज़, हैदराबाद.
8 **एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी, 1916-17.** कांस्य-पट्टी 9.

शासकीय संग्रहालय, मद्रास में प्रदर्शित हैं। दो स्तंभ और एक जल-प्रणालिका और कुछ निषीधिका के शिलाखण्ड अभिलिखित हैं। राष्ट्रकूट राजा इंद्र-तृतीय के शासनकाल के अभिलेखों[1] में से एक में वृत्तांत है कि उस राजा ने शांतिनाथ के प्रक्षाल के लिए एक जल-प्रणालिका बनवायी। इस जल-प्रणालिका के बाहरी किनारे पर एक पंक्ति में मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं जिनमें गतिमान् मनुष्यों और पशुओं की सुंदर प्रस्तुति प्रभावित करती है, वे किसी तत्कालीन घटना से संबद्ध हैं।

करीमनगर जिले के कुरिक्यल नामक स्थान से दसवीं शती के लगभग मध्य की, राष्ट्रकूटों के वेमुलवाड़ु चालुक्य सामंतों के समय की कुछ जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। उनमें से एक आदिनाथ की शासनदेवी यक्षी चक्रेश्वरी की है। इस मूर्ति के नीचे प्रसिद्ध कन्नड़ कवि पम्प (लगभग ९५० ई०) के भ्राता जिनवल्लभ का अभिलेख है[2] जिसमें लिखा है कि इन मूर्तियों का निर्माण इन्हीं जिनवल्लभ (चित्र ३०२) ने कराया था।

पूर्वी चालुक्य अम्म-द्वितीय के शासनकाल में जैन मंदिरों के निर्माण में विशेष प्रगति हुई। धर्मवरम् में दुर्गराज ने इसी काल में कटकाभरण-जिनालय नामक एक जैन मंदिर बनवाया और उसमें पूजा चलती रखने के लिए उसने एक ग्राम का दान किया। यह वृत्तांत एक कांस्य-पट्टी-अभिलेख में[3] आया है। इस राजा के शासनकाल की एक अन्य दान-संबंधी कांस्य-पट्टी में[4] उल्लेख है कि विजयवाड़ा के दो जैन मंदिरों के लिए कुछ दान किया गया था। इस राजा के शासनकाल में एक महिला के प्रयत्नों से सर्वलोकाश्रय-जिन-भवन नामक जैन मंदिर का निर्माण हुआ था।[5] महबूबनगर जिले के उज्जल में एक अभिलेख है[6] जिसमें लिखा है कि उज्जिलि के किले में स्थित बड्डी-जिनालय के चेन्न-पार्श्वदेव को दान किये गये। कदाचित् ईंटों से बना यह मंदिर वही है जिसका उपयोग अब वीर शैवों द्वारा किया जा रहा है।[7]

विजयनगर साम्राज्य के इतिहास के प्रारंभिक काल में जैन धर्म लोकप्रिय था। इस समय तीर्थंकरों के बहुत से जैन मंदिरों और सुंदर मान-स्तंभों का निर्माण हुआ। इस साम्राज्य की राजधानी हम्पी (प्राचीन विजयनगर) में ही कुछ जैन मंदिर हैं। इनमें से एक मंदिर वही हो सकता है जिसका उल्लेख शक संवत् १२८९ (१३६७ ई०) के बुक्क-प्रथम के राज्यकाल के एक अभिलेख में[8]

---

1 वही, 1905, क्रमांक 331.
2 प्रबुद्ध कर्णाटक (कन्नड़ भाषा में), 53, 4; पृ 73-83.
3 एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी, 1906-1607, कांस्य-पट्टी 7.
4 वही, 1908-1909, कांस्य-पट्टी 8 /एपिग्राफिया इण्डिका, 24; 1937-38; पृ 268.
5 एपिग्राफिया इण्डिका, 7. 1902-1903. पृ 177.
6 तेलंगाना इंस्क्रिप्शंस, हैदराबाद, 2. क्रमांक 35.
7 गोपालकृष्णमूर्ति, वही, पृ 61.
8 एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी, 1918. पृ 66.

इरुगपवोडेय के नाम से हुआ है। कदाचित् उसी व्यक्ति ने एक और चैत्यालय या मंदिर बनवाया, ऐसा शक संवत् १३०७ (१३८५ ई०) में उत्कीर्ण हरिहर-द्वितीय के शासनकाल के एक अभिलेख में वृत्तांत है।[1] उसी शासक के मंत्री और इरुगप के भ्राता इम्मडि-बुक्क ने कुर्नूल में १३९५ में[2] कुंथुनाथ तीर्थंकर की मूर्तिसहित एक मंदिर का निर्माण कराया। उल्लेख है कि स्वयं देवराय-द्वितीय ने शक संवत् १३४८ (१४२६ ई०) में विजयनगर में पार्श्वनाथ का एक चैत्यागार बनवाया था। इन मंदिरों की विशेषता यह है कि इनके शिखरभाग का आकार सोपान-युक्त पिरामिड के समान होता है। इसके अतिरिक्त, इनके प्रवेश के द्वारपक्षों पर नीचे एक-एक तुंदिल यक्ष बना होता है। उनके प्रवेश-द्वारों के सरदलों पर ललाट-बिम्ब के रूप में साधारणतः गजलक्ष्मी की मूर्ति बनी होती है। इन मंदिरों की भित्तियों पर मूर्तियाँ या उनकी पक्तियाँ बिलकुल नहीं होती।

तमिलनाडु मे प्राचीनतम जैन स्मारक अधिकतर दक्षिणी जिलों की उन अनेक दुर्गम प्राकृतिक गुफाओं और कंदराओं के रूप में हैं जिनमें ऊपर से बाहर की ओर निकली एक चट्टान के नीचे शय्याएँ बनी होती हैं जिनका एक भाग तकिया की भाँति ऊँचा रखा जाता है या फिर वे समतल किन्तु अलंकृत होती हैं।[3] इन शय्याओं पर और कुछ गुफाओं के बाहर ऊपर तमिल भाषा और ब्राह्मी लिपि में अभिलेख उत्कीर्ण हैं। इनमें पाली, अदिट्टानम् आदि का उल्लेख है, और ये तीसरी शती ई० पू० से तीसरी शती ई० तक के हैं।[4] इस काल का कोई जैन अवशेष केरल में नहीं मिलता। किसी भी जैन स्मारक का संदर्भ देने वाला दूसरा अभिलेख[5] तिरुनाथरकुण्रू (दक्षिण अर्काट जिला) का है जिसकी तिथि लगभग छठी शती की है (चित्र ३०४ क)। उसमें लिखा है कि यह स्मारक चंद्रनंदि-आशीरियर (आचार्य) की निषीधिका है जिनका संलेखना-मरण सत्तावन दिन के उपवास के अनंतर हुआ। इस स्थान पर शिला को ऊपरी भाग पर काटकर आसीन-मुद्रा में चौबीस जैन मूर्तियाँ बनायी गयी है जो कदाचित् तीर्थंकरों की हैं।

अंतराल में जैन धर्म को कलभ्र शासकों और बाद में उनके राजनीतिक उत्तराधिकारी पल्लव और पाण्ड्य शासकों का प्रश्रय मिला। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और कदाचित् प्राचीनतम सुरक्षित स्मारक प्रसिद्ध नगर कांची में है जो एक ऐसे केंद्र के रूप में विख्यात रहा है जहाँ सभी धर्मों ने उन्नति की। यह स्मारक वर्धमान को समर्पित एक मंदिर है जिसके लिए उस जिले की जनता ने सिंहविष्णु के पिता पल्लव सिंहवर्मा (छठी शती का पूर्वार्ध) के शासनकाल में भूमि का दान किया

---

1 वही, 1936. पृ 32.

2 वही, 1889. फरवरी 3.

3 [देखिए प्रथम भाग में अध्याय 9. --संपादक]

4 महादेवन् (आई). कॉर्पस ऑफ़ तमिल ब्राह्मी इंस्क्रिप्शंस, सेमिनार ऑन इंस्क्रिप्शंस, 1966. मद्रास.

5 साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस. 17, 1. मुखचित्र.

था।[1] मध्यवर्ती गर्भालय के निर्माण की तिथि का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु इस मंदिर के शेष विभिन्न भागों का उल्लेख उत्तरकालीन अभिलेखों[2] में हुआ है।

इसी काल के सबसे प्राचीन और पूर्णतया सुरक्षित स्मारकों में से एक का उल्लेख उत्तर अर्काट जिले के वंदिवाश तालुक में[3] कीळसातमंगलम् से प्राप्त अभिलेख में हुआ है। एक अन्य मंदिर यद्यपि अब सुरक्षित नहीं रह सका है किन्तु वह नंदिवर्मा पल्लवमल्ल के चौदहवें वर्ष अर्थात् ७४३-४४ ई० में सुरक्षित था। उसी स्थान का एक अन्य अभिलेख पल्लव कम्पवर्मा (नौवीं शती का उत्तरार्ध) के समय का है। इसमें उल्लेख आये हैं कि एक पल्लि और एक पालि का नवीनीकरण किया गया, पल्लि के अग्रभाग पर एक मुख-मण्डप का निर्माण किया गया, इयक्किपडारि (यक्षी भटारि) के लिए एक मंदिर बनवाया गया और पल्लि के लिए एक विशाल कूप का दान किया गया, यह सब कार्य पल्लव राजा के सामंत काडकदियरैयर की पत्नी मादेवी ने कराया। यहाँ पल्लि और पालि शब्दों में जो अंतर किया गया है वह ध्यान देने योग्य है। पल्लि का अर्थ है पूरा मंदिर-समूह और पालि ब्राह्मी अभिलेखों में आये प्राचीन शब्द पालि का स्पष्टतया रूपांतर है जिसका अर्थ होता है साधुओं का विश्रामस्थल अर्थात् चैत्यवास। इससे सूचित होता है कि जैनों ने दूर एकांत में स्थित निराडंबर गुफाओं को सुविधासंपन्न स्थानों के रूप में कैसे बदला। इसी स्थान से प्राप्त हुए चोल राजराज-प्रथम के एक अभिलेख में उक्त पल्लि का नाम विमलश्री-आर्य-तीर्थ पल्लि दिया गया है। दक्षिण अर्काट जिले के तिरुनरुन्गोण्डै के जैन अप्पाण्डनाथ-मंदिर में भी एक ऐसा ही उदाहरण मिलता है। यह स्मारक अब बच नहीं रहा है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इसके मुख-मण्डप का या इयक्कि (यक्षी) के मंदिर (कोयिल) का स्वरूप कैसा था। तिरुप्पमलै (उत्तर अर्काट जिले के वलजा तालुक में पचपाण्डवमलै) के एक अभिलेख में नंदिवर्मा पल्लवमल्ल के पचासवें वर्ष (७८० ई०) में एक शिला को काटकर पोण्णियक्कियार (संस्कृत में हेमा यक्षी) की मूर्ति (पडिमम्) के निर्माण का जो उल्लेख है उससे ज्ञात होता है कि यक्षी-पूजा के लिए स्वतंत्र मंदिर का प्रावधान भी किया जाता था।[4] यह मूर्ति शैलोत्कीर्ण है, किन्तु कीळसातमंगलम् का मंदिर निर्माण करके बनाया गया है। उत्तर अर्काट जिले में पोलूर तालुक की तिरुमलै नामक पहाड़ी पर एक यक्षी-मूर्ति की स्थापना का उल्लेख उक्त उल्लेख से भी पहले का है। वहाँ के एक अभिलेख में वृत्तांत है कि अदिगैमाण् एलिनि ने एक यक्षी-मूर्ति की स्थापना की और उसके उत्तराधिकारी ने बारहवीं शती में उसका नवीनीकरण किया।[5] क्योंकि एलिनि के समय का ज्ञान नहीं हो सका अतः मूल स्थापना की तिथि भी अज्ञात ही है।

---

1 **ट्रांजेक्शंस ऑफ दि आर्क्यॉलॉजिकल सोसायटी ऑफ साउथ इण्डिया,** 1958-59. पृ 41 तथा परवर्ती. /**एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी. 1958-59,** परिशिष्ट क. क्रमांक 10.

2 **साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस,** 4. क्रमांक 363 और 368. /**एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी** 1923. क्रमांक 98.

3 **एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी.** 1968-69. क्रमांक ख, 219-225.

4 **एपिग्राफिया इण्डिका,** 4, 1896-97, पृ 136-37.

5 **साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस,** 1, क्रमांक 66-67.

नौवीं शती में जैन आचार्य अज्जनंदी के प्रकाश में आने पर जैनों की गतिविधियों में समूचे तमिलनाडु में एक सुखद क्रांति हुई। उन्होंने इस क्षेत्र को इस छोर से उस छोर तक नाप डाला; इसकी पुष्टि उन अभिलेखों से होती है जिनके अनुसार उन्होंने करूंगलक्कुडि (जिला मदुरै), तिरुवयिरै (मदुरै), अनाइमलै (मदुरै), कुरण्डि (रामनाथपुरम्) अजगरमलै (मदुरै) और वल्लिमलै (उत्तर अर्काट) में अनेक तीर्थंकर-मूर्तियों का निर्माण कराया।[1] वल्लिमलै की शैलोत्कीर्ण गुफा में उत्कीर्ण राचमल्ल (८२० ई०) के शासनकाल के पश्चिमी गंग शासकों के अभिलेखों[2] में वृत्तांत है कि अज्जनंदी ने अपने आचार्यों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण करायीं। ये उत्तम कलासंपन्न मूर्तियाँ इन अभिलेखों में उल्लिखित शिला पर ही उत्कीर्ण हैं। इन गुफाओं में भित्ति-चित्र भी हैं जो या तो इन्हीं अभिलेखों के समकालीन है या दसवीं शती के माने जा सकते हैं। शिल्पांकनों में तीर्थंकर-मूर्तियाँ यद्यपि शांत मुद्रा में अलकरण के बिना ही उत्कीर्ण की गयी हैं, (उत्तर अर्काट जिले के पोलूर तालुक में ओदलवदि के अर्हत्-मंदिर में स्थापित तीर्थंकर-मूर्ति को अणियाद अलगियार नाम दिया गया है), किन्तु यक्षों, यक्षियों और चमरधारियों की मूर्तियाँ अलंकृत हैं। क्योंकि इन सब पर अभिलेख भी उत्कीर्ण है अतः मूर्तियों के विविध अलंकरणों के आधार पर मूर्तिकला के विकास का अध्ययन सरलता से किया जा सकता है। इस अध्ययन से उन कांस्य-मूर्तियों पर भी प्रकाश पड़ सकता है जो विभिन्न ग्रामों के जैन मंदिरों में रखी हैं। कांस्य-मूर्तियों में से भी कुछ पर अभिलेख हैं; उदाहरण के लिए दक्षिण अर्काट जिले के तिदिवनम् तालुक के किदंगिल से प्राप्त और अब शासकीय संग्रहालय, मद्रास में संगृहीत एक महावीर-मूर्ति पर तमिल लिपि में लगभग बारहवी शती का अभिलेख है।

एक ही पट्ट पर अंकित या अलग-अलग निर्मित चौबीसों तीर्थंकरों की मूर्तियों की दाताओं द्वारा स्थापना का वृत्तांत ग्रंथलिपि में उत्कीर्ण उस अभिलेख में है जिसमें दाता वासुदेव-सिद्धांत-भटारर को 'चतुर्विंशति-स्थापक' की उपाधि दी गयी है। यह अभिलेख चिंगलपट जिले में[3] मधुरांतकम् तालुक के वेरल्लूर ग्राम की नागमलै नामक पहाड़ी की एक चट्टान पर उत्कीर्ण एक ऐसी देवकोष्ठिका के पास अंकित है जिसमें जिनालय की लघु आकृति के मध्य सुपार्श्वनाथ की मूर्ति उत्कीर्ण है। तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख कम ही अभिलेखों में हुआ है, उदाहरणार्थ तिरुप्परुत्तिक्कुणरम् के अभिलेख में वर्धमान का, कीजसातमंगलम् के अभिलेख में विमल-श्री-आर्य-तीर्थ (विमलनाथ) का, ऐवरमलै और पोन्नूर के अभिलेखों में पार्श्वनाथ का, करण्डै के अभिलेख में कुंथुनाथ का और पोन्नूर के एक अभिलेख में आदीश्वर का।

---

1 **एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी**, 1911, क्रमांक 562./**साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस**, 14 क्रमांक 22, 107-19./वही 99-106./**एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी**, 1910. क्रमांक 61-69./**एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी**, 1954-55, क्रमांक 396./**एपिग्राफिया इण्डिका**, 4, पृ 140 तथा परवर्ती.

2 **एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी**, 1895. क्रमांक 10.

3 **एनुअल रिपोर्ट ऑन इण्डियन एपिग्राफी**, 1973-74. वेरलूर के अन्तर्गत (प्रकाशनाधीन).

तिरुच्चिरापल्ली जिले में[1] सित्तन्नवासल की एक गुफा की दायीं ओर की एक शिला पर उत्कीर्ण पाण्ड्य राजा श्रीमार श्रीवल्लभ (नौवीं शती) के काल के अभिलेख में वृत्तांत है कि इस गुफा में नया मुख-मण्डप बनाया गया, उसके भीतरी भाग का नवीनीकरण किया गया और उस चित्रकारी पर कदाचित् एक लेप और किया गया जिसे तकनीक, आकार-प्रकार, रंग-योजना और मनुष्यों, पशुओं तथा वनस्पति के चित्रांकन की दृष्टि से कला का एक उल्लेखनीय निदर्शन माना जाता है।[2]

यक्षी, यक्ष आदि के जैन मूर्ति-विज्ञान में सहचर देवताओं के रूप में प्रवेश का परिणाम यह हुआ कि तीर्थंकरों की अपेक्षा उनकी पूजा को प्रधानता मिलने में जो बाधा थी वह भी समाप्त हो गयी। इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण कन्याकुमारी जिले के[3] विलवंगोडे तालुक के चित्राल नामक ग्राम में तिरुच्चारणत्तुमलै स्थान पर निर्मित भगवती-मंदिर है। ऐसा अभिलेख एक ही है जिसमें किसी देवी का उल्लेख हुआ है, वह आय राजा विक्रमादित्य वरगुण (नौवीं शती के अंतिम चरण)[4] के शासनकाल का है। उसमें भटारि की पूजा के लिए किये गये दान का वृत्तांत है जिसमें निश्चित रूप से यह उल्लेख है कि पार्श्वनाथ के पार्श्व में पद्मावती देवी की और एक अन्य तीर्थंकर के पार्श्व में अंबिका (सिंह-सहित) की मूर्ति बनायी गयी। इसी प्रकार की इससे भी अधिक प्रभावशाली एक घटना नागरकोयिल के विषय में है जहाँ मूल जैन मंदिर की तीर्थंकर-मूर्तियों के नागफण के प्रतीक को केवल इसीलिए प्रमुखता दी गयी जिससे उसे अनंताड्वार के रूप में हिंदू देव-प्रतीकों में समाहित किया जा सके।[5] तथापि ऐसे उदाहरण हैं कि कांचीपुरम् और तिरुमलै के तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् नामक मंदिर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रहे।

पालघाट जिले के गोदापुरम् (अलतुर) में महावीर और पार्श्वनाथ की एक द्विमूर्तिका पर तमिल भाषा में वट्टेजुत्तु लिपि में अंकित लगभग दसवीं शती के एक अभिलेख में एक विशाल चैत्यवास और मंदिर के अस्तित्व का संकेत है, कदाचित् उसी मंदिर में यह द्विमूर्तिका थी।[6]

कर्नाटक प्रदेश को जैन धर्म का दूसरा मूलस्थान कहा जा सकता है। इस तथ्य की पुष्टि न केवल श्रवणबेलगोला, मूडबिदुरे (मूडबिद्री), कार्कल और भटकल जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण जैन केंद्रों से होती है जहाँ कला की अनेक मनोरम कृतियाँ विद्यमान हैं, वरन् इस राज्य के विभिन्न भागों में उत्कीर्ण किये गये अभिलेखों से भी होती है। गंग राजाओं, कुछ कदंब शासकों, राष्ट्रकूट और

---

1 **मैनुअल ऑफ पुदुक्कोट्टै स्टेट**. 2, 2. पृ 1093 तथा परवर्ती.

2 [द्वितीय भाग में अध्याय 30 देखिए —संपादक.]

3 [द्वितीय भाग में अध्याय 19 देखिए —संपादक.]

4 **त्रावणकोर आर्क्यॉलॉजिकल सीरिज़**. 1 पृ 193 तथा परवर्ती.

5 वही, 6. पृ 159 तथा परवर्ती.

6 **जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री**, 44. 1966. पृ 537-43. /**जर्नल ऑफ केरल स्टडीज़**, 1, क्रमांक 1, 1973. पृ 27-32.

कलचुरि शासकों और होयसल राजाओं के शासनकाल में जैन धर्मराज धर्म के रूप में रहा। इस तरह पुन्नाट, सांतर, आरंभिक चंगाल्व, कोंगालव और आलुप के छोटे राज्यों के विषय में भी वह के अभिलेखों से यही सिद्ध होता है[1]। कम से कम पाँचवीं शती से इस धर्म के अनुयायियों ने अप मत के प्रचार के लिए कला का माध्यम अपनाना आरंभ किया। इसकी पुष्टि इससे होती है कि आरंभिक कदंब राजाओं ने कांस्य-पट्टियों पर उत्कीर्ण ऐसी तालिकाएँ प्रसारित कीं जिनपर मंदिर आदि जैन संस्थाओं के लिए दिये गये दान की प्रविष्टि की जाती थी। कदंब मृगेशवर्मन् (लगभ पाँचवीं शती) के राज्यकाल के आठवें वर्ष में प्रसारित एक तिथ्यंकित कांस्य-पट्टी-तालिका में प्रविष्टि है कि राजा ने अपने पिता की स्मृति में एक जैन मंदिर का निर्माण कराया।[2] द्रविड शैली में आरं में ही एक सुंदर मंदिर के निर्माण का श्रेय इस राज्य के जैनों को प्राप्त होता है। यह ऐहोल का मेगुटि मंदिर है।[3] इस मंदिर में चालुक्य राजा पुलकेशी-द्वितीय का सन् ६३४-३५ का (चित्र ३०३) ए तिथ्यंकित अभिलेख है।[4] इस अभिलेख का रचनाकार रविकीर्ति था और उसी ने इस मंदिर के निर्मा की व्यवस्था करायी थी। राष्ट्रकूटों के शासनकाल में अनेक जैन स्मारकों का निर्माण हुआ, यद्यपि अभिलेख उनमें से कुछ में ही हैं।

पश्चिमी गंग शासकों ने कुछ महत्त्वपूर्ण जैन कृतियों का निर्माण कराया। एक अभिलेख ज्ञात होता है कि श्रीपुरुष ने अपने समय तक बन चुके कुछ मंदिरों के लिए दान किया था श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश्वर-मूर्ति पर चार भिन्न-भिन्न लिपियों में एक शीर्षक (चित्र ३०४ ख उत्कीर्ण है। उसी स्थान पर कुछ और मंदिरों आदि में अभिलेख हैं।[6]

कर्नाटक के इतिहास में होयसल वंश का राज्यकाल स्थापत्य की उत्कृष्ट कृतियों के लि प्रशंसनीय है। ये मंदिर अधिकतर ब्राह्मण देवताओं को समर्पित हैं, फिर भी इस काल के जैन मंदि भी कला के आकर्षक उदाहरण है। उनमें से धारवाड़ जिले में गडग के पास लक्कुण्डी (प्राची लोक्कीगुण्डी) का जैन मंदिर भी एक है। यह मंदिर भी द्रविड शैली का है और उसमें शक संव १०९४ (११७२ ई०) का अभिलेख है।[7]

---

1 राइस (बी एल). **मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रॉम इंस्क्रिप्शंस.** 1909. लंदन. पृ 203

2 **इण्डियन एंटिक्वेरी,** 6. 1877. पृ 1 तथा परवर्ती.

3 [देखिए प्रथम भाग में अध्याय 18 --संपादक.]

4 **एपिग्राफिया इण्डिका.** 6. 1900-1901. पृ 1 तथा परवर्ती.

5 राइस, पूर्वोक्त, पृ 39.

6 **गाइड टू श्रवणबेलगोला,** पुरातत्त्व विभाग, 1957. मैसूर.

7 कजिन्स (एच). **चालुक्यन् आर्किटेक्चर, आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, न्यू इंपीरियल सीरिज.** 192 कलकत्ता. पृ 77 तथा परवर्ती.

मध्यकालीन मूर्ति-शिल्प के उदाहरण के रूप में ऐलोरा की विशाल शांतिनाथ-मूर्ति प्रस्तुत की जा सकती है। उसके पादपीठ पर उत्कीर्ण है कि १२३४-३५ ई० में चक्रेश्वर नामक एक व्यक्ति ने यह अभिलेख अंकित कराया।[1]

मृत महापुरुष की स्मृति में निषीधि अर्थात् स्तंभों के निर्माण का प्रचलन भी मध्यकालीन कर्नाटक में था। ऐसा एक स्तंभ बीजापुर जिले के चंदकावते में हैं, उसपर उत्कीर्ण है कि यह निषीधि-स्तंभ सूरस्त-गण के माघनंदि-भट्टारक की मृत्यु की स्मृति में स्थापित किया गया।[2]

जब इस क्षेत्र का विशेषतः दक्षिणी भाग विजयनगर-साम्राज्य के शासकों के प्रभाव में आया तब जैन धर्म की प्रगति निरंतर होती रही क्योंकि इस साम्राज्य के माण्डलिक सामंत जैन धर्म के प्रबल समर्थक थे। इसलिए इन माण्डलिक सामंतों के अधिकार-क्षेत्रों में स्वभावतः अनेकानेक जैन स्थापत्य-कृतियों का निर्माण हुआ। मूडबिदुरे की गुरुगल-बस्ती का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है जिसे किये गये दान का उल्लेख १३९० ई० के एक अभिलेख में हुआ है।[3] विजयनगर सम्राट् देवार्य-द्वितीय के शासनकाल में (१४३० ई०) मूडबिदुरे में त्रिभुवन-चूड़ामाणि-महा-चैत्य का निर्माण हुआ, इसमें एक मनोहारी और उल्लेखनीय स्तंभ-मण्डप (१४५१ ई०) है और इसे पश्चिम-तट की शैली में निर्मित स्थापत्य का एक सुंदर उदाहरण माना जाता है।[4] कार्कल के माण्डलिक सामंतों ने गोम्मटेश्वर की दो विशालाकार मूर्तियाँ बनवायीं और उनपर अभिलेख उत्कीर्ण कराये, एक कार्कल में १४३२ ई० में[5] और दूसरी वेणूर में १६०४ ई० में। कार्कल का चतुर्मुख-बस्ती नामक मंदिर और उसी ग्राम के हरियंगडि नामक स्थान पर स्थित मान-स्तंभ विजयनगर काल की जैन कला के दो और विशेष उदाहरण हैं।

जी. एस. गई
अन्य सहयोगी
पी. आर. श्रीनिवासन्, के. जी. कृष्णन्
एस. शंकरनारायणन्, के. वी. रमेश

---

1 देसाई (पी बी). **जैनिज्म इन साउथ इण्डिया**. 1957. शोलापुर. पृ 99.
2 **एनुअल रिपोर्ट ऑन साउथ इण्डियन एपिग्राफी**, 1936-1937. परिशिष्ट ई., क्रमांक 15.
3 **साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस**, 7, क्रमांक 299.
4 वही, क्रमांक 197.
5 **एपिग्राफिया इण्डिका**, 7. 1902-1903, पृ 109-110.

अध्याय 34

दक्षिण भारतीय मुद्राओं पर अंकित प्रतीक

दक्षिण भारतीय मुद्राओं पर जैन प्रभाव का प्रमाण आरंभिक पाण्ड्य शासकों की चतुष्कोण साँचे में ढली या ठप्पे की सहायता से बनायी गयी उन कांस्य-मुद्राओं से मिलने लगता है जो उन्होंने तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य प्रसारित की। विद्वान् सामान्य रूप में इस प्रभाव को समझने में असफल रहे, इसका कारण निश्चित रूप से यह रहा कि आरंभिक भारतीय मुद्राओं पर और विशेषत: आहत मुद्राओं पर जो प्रतीक अंकित किये गये उनपर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट रूप में विद्यमान है। इसलिए इस प्रकार की मुद्राओं के अध्ययन में बौद्ध प्रभाव और संबंध की ओर ध्यान जाना प्रासंगिक ही है। यह सत्य है कि आरंभिक आहत मुद्राओं पर दक्षिण में भी बौद्ध प्रतीकों का अंकन सामान्य रूप से हुआ, पर कई प्रकार की स्थानीय मुद्राएँ ऐसी भी उपलब्ध हैं जिनपर अंकित प्रतीकों के जैन होने में कोई संदेह नही।

ऐसी मुद्राओ के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। जैन प्रभाव आरभिक पाण्ड्य शासकों की कुछ चतुष्कोणीय कांस्य-मुद्राओं पर देखा जा सकता है जिनके पृष्ठ-भाग पर सात या आठ प्रतीकों का, अर्थात् अष्ट-मगल द्रव्यों का एक गज के साथ अकन प्रचलित था[1]। इन मुद्राओं के विषय मे टी० जी० अरवमुथन् ने लिखा है : 'इन मुद्राओं के पृष्ठ-भाग पर कुछ ऐसे प्रतीक अकित है जो धार्मिक मान्यताओं से सबद्ध प्रतीत होते हैं, जैसे सूर्य या चक्र, ऐसा कलश जिससे जलधारा निकल रही है, और अर्धचद्र, जिनकी गणना साधारणत: अष्ट-मंगल द्रव्यों में की जाती है[2]।' अरवमुथन् के अनुसार, गज के सम्मुख अंकित द्रव्य दीप हो सकता है जो मंगल-द्रव्यों की सूचियों में मिलता है। आरंभिक पाण्ड्य शासकों की एक अन्य प्रकार की मुद्राओं पर अंकित प्रतीकों में अश्व के ऊपर अकित मुक्कुडै अर्थात् छत्रत्रय भी एक प्रतीक है। छत्रत्रय निश्चित रूप से एक जैन प्रतीक है क्योंकि तीर्थंकर-

---

1 यहाँ उल्लिखित सभी कांस्य-मुद्राए पाण्ड्य शासकों द्वारा प्रसारित की गयी मानी जाती रही है क्योंकि उनके पृष्ठ-भाग पर उनका प्रतीक मत्स्य अंकित है, किन्तु इस विषय मे कोई और अनुश्रुति नहीं है. केवल प्रतीक ही है, अत: इस सभावना का निषेध नहीं किया जा सकता कि इन मुद्राओ का प्रसारण किन्ही ऐसे सार्थवाह-गणों ने किया हो जो जैन रहे हों.

2 'ए पाण्ड्यन इश्यू ऑफ़ पंच-मार्क्ड पुराणाज', **जर्नल ऑफ़ द न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ़ इण्डिया**, 6. 1944. पृ 3, टिप्पणी.

मूर्तियों के मस्तक पर उसकी प्रस्तुति सामान्य रूप से की जाती है। विद्वानों ने इस ओर तनिक भी गंभीरता से नहीं सोचा कि ये प्रतीक जैन हो सकते हैं, और सामान्य प्रवृत्ति अबतक यही रही कि तीसरी-चौथी शताब्दी की आहत तथा अन्य मुद्राओं पर अंकित जो भी प्रतीक दिखे उन्हें बौद्ध मान लिया गया, बल्कि उन प्रतीकों की प्रकृति, उनके अर्थ और उनके मूलस्थान के स्पष्टीकरण का प्रयत्न भी नहीं किया गया।

पाण्ड्य शासकों ने अपने ध्वज[1], मुद्राओं और मुहरों पर अंकन के लिए प्रतीक के रूप में एक या दो मछलियाँ (मीन-युग्म या मीन-युगल) स्वीकार कीं। संगम्-काल के तमिल साहित्य में उनका उल्लेख मीनवर के रूप में मिलता है। इस प्रतीक का वास्तविक तात्पर्य संतोषजनक रूप में अबतक नहीं समझाया गया, तथापि यह समाधान निकाला जा सकता है कि अष्ट-मंगल द्रव्यों में परिगणित जो मीन-युगल है उसी से पाण्ड्य शासकों को प्रेरणा मिली होगी जिससे उन्होंने न केवल अपनी आरंभिक मुद्राओं पर, प्रत्युत निरंतर सभी मुद्राओं और मुहरों पर अंकन के लिए प्रतीक के रूप में मीन-युगल को ही स्वीकार किया। यह उल्लेखनीय है कि मुद्राओं पर मीन-प्रतीक के अंकन जहाँ-जहाँ भी हुए हैं उन सब में पाण्ड्य मुद्राओं का मीन (तमिल में कयल) एक विशेष प्रकार से अंकित हुआ है।

दक्षिण भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का इतिहास बताता है कि बौद्ध धर्म लोकप्रियता के उस स्तर तक कभी नहीं पहुँच सका जिस तक तमिल देश में, विशेषत: ईसा की आरंभिक शतियों में, जैन धर्म पहुँचा। आरंभिक तमिल समाज, उसके विचार और संस्कृति पर जैन सिद्धांतों और आचार का अत्यंत व्यापक प्रभाव था, इसके प्रमाण आरंभिक तमिल ग्रंथों में मिलते हैं जो अधिकतर जैनों द्वारा लिखे गये।

दक्षिण भारत में, विशेषत: कर्नाटक क्षेत्र और तमिल देश में, जैन धर्म का प्रसार तीसरी शती ई० पू० से आरंभ हुआ। तमिल देश में जैन मुनियों और गृहस्थों के अस्तित्व के निर्विवाद प्रमाण उन प्राचीन ब्राह्मी अभिलेखों[2] से मिलते हैं जो दूसरी शती ई० पू० और तीसरी शती ई० के मध्य पाण्ड्य क्षेत्र में और संगम्-युगीन चेर देश में उत्कीर्ण कराये गये।

पाण्ड्यों की राजधानी मदुरै और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों में ईसा की आरंभिक शतियों में जैन जनसंख्या अपनी चरम सीमा पर थी। इस क्षेत्र में ग्यारहवीं शती तक अनेक जैन प्रतिष्ठान चलते रहे, यद्यपि जैन धर्म को सातवीं से नौवीं शती तक गंभीर आघात पहुँचे क्योंकि उस युग में एक ओर शैव और वैष्णव मतों में और दूसरी ओर जैन और बौद्ध धर्मों में संघर्ष चल रहे थे।

धार्मिक संघर्षों का यह युग पाण्ड्य देश में जैन धर्म के इतिहास में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण

1 सुब्रह्मण्यम् (एन). संगम् पॉलिटी. 1966. न्यूयार्क. पृ 77-78.

2 द्रष्टव्य: (आई) महादेवन्. कॉर्पस ऑफ़ तमिल ब्राह्मी इंस्क्रिप्शंस. 1966. मद्रास.

है क्योंकि शैव धार्मिक साहित्य के अनुसार[1] कूण पाण्ड्य (६७०-७१० ई०) या नेडुमारण नामक आरंभिक पाण्ड्य शासक मूलतः जैन था। उसे शैव साधु तिरुज्ञान संबंदर ने शैव बनाया था जिसके विषय में कहा जाता है कि उसने जैनों को धार्मिक विवादों में हराया था और अनेक चमत्कारों द्वारा शैव धर्म की 'श्रेष्ठता' सिद्ध की थी। पाण्ड्यों की राज्यसभा में जैनों को शैवों द्वारा आघात पहुँचाया गया, इतना होने पर भी इस क्षेत्र में अनेक जैन प्रतिष्ठान चलते रहे और कूण पाण्ड्य के श्रीमार श्रीवल्लभ (८१५-६२ ई०), वरगुण-द्वितीय आदि उत्तराधिकारी जैन मंदिरों, चैत्यवासों आदि प्रतिष्ठानों को संरक्षण देते रहे, जैसा कि उनके अभिलेखों में वृत्तांत है।

अतएव यह मान्यता तर्कसंगत होगी कि आरंभिक पाण्ड्य शासकों की पूर्वोक्त मुद्राओं पर अष्ट-मंगल द्रव्यों के अंकन का प्रत्यक्ष कारण यही है कि उस क्षेत्र पर जैन धर्म का प्रबल प्रभाव था। ये मुद्राएँ दो वर्गों में विभक्त होती हैं :

(१) गजांकित वर्ग

अग्रभाग : (क) दाहिनी ओर गज और उसके सम्मुख स्थानक-सहित दीपक।

(ख) गज के ऊपर अष्ट-मंगल द्रव्यों में से सात या आठों या और कम।

पृष्ठभाग : मीन।

(२) अश्वांकित वर्ग

अग्रभाग : (क) दाहिनी ओर अश्व। ऊपर छत्रत्रय।

(ख) वेदिका में वृक्ष, अन्य प्रतीक।

पृष्ठभाग : मीन।

जैनों में प्रचलित अष्ट-मंगल द्रव्य अर्थात् आठ शुभ वस्तुएँ स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त, (नंदिपद), वर्धमानक (चूर्णपात्र), भद्रासन (एक विशेष प्रकार का आसन या राज्यासन), कलश (पूर्णघट), दर्पण, मत्स्य या मत्स्य-युगल (दो मछलियाँ) हैं।[2] इनका अंकन प्रायः आलंकारिक अभिप्रायों के रूप में तोरणों और बलिपट्टों पर सामान्य रूप से हुआ है। ऐसे प्रतीक मथुरा से प्राप्त कुषाण-युग के कुछ आयाग-पटों पर भी अंकित हैं[3], यद्यपि अष्ट-मंगलों की सूची उस समय तक एक रूप न ले सकी थी। ये प्रतीक पाण्डुलिपियों के पत्रों और उनके किनारे की पट्टियों पर भी चित्रित किये गये।

---

1 **पेरिय पुराणम्**—स्टोरी ऑफ़ ज्ञान संबंदर।

2 द्रष्टव्य, (शाह) उमाकांत प्रेमानंद, **स्टडीज़ इन जैन आर्ट**. 1955. बनारस. पृ 109-12.

3 प्रथम भाग में पृ 67 तथा परवर्ती, चित्र 15.

1

2

3

4

5

पाण्ड्य मुद्राएं

चित्र 305

6

7
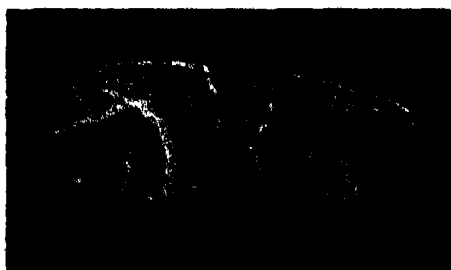
8
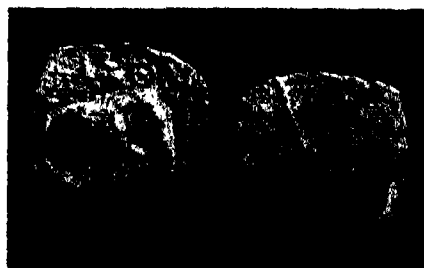
9
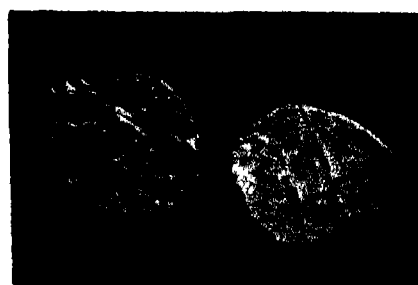
10

पाण्ड्य मुद्राएं

चित्र 306

पाण्ड्य शासकों की कांस्य-मुद्राएँ ही कदाचित् ऐसी मुद्राएँ हैं जिनपर अष्ट-मंगल द्रव्यों का अंकन है और इनकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि वे एक ही पंक्ति में उसी प्रकार अंकित हैं जिस प्रकार जूनागढ़ की बाबा प्यारा मठ नामक जैन गुफा-समूह में गुफा 'के' के प्रवेश-द्वार पर अंकित हैं।[1] इन प्रतीकों का तात्पर्यार्थ आचार-दिनकर में बताया गया है। कलश की पूजा तीर्थंकर के एक प्रतीक के रूप में की जाती है; दर्पण अपने स्वरूप के दर्शन का प्रेरक है; भद्रासन की पूजा यह मानकर की जाती है कि उसे मंगलमय भगवान् के चरण पवित्र करते हैं; तीर्थंकर के हृदय से केवलज्ञान के उद्भव का सूचक है श्रीवत्स लांछन, स्वस्तिक शांति का सूचक है; नौ कोणों सहित नंद्यावर्त नव-निधियों का सूचक है; और कामदेव के ध्वज पर भी अंकित होनेवाला मीन-युगल सूचित करता है कि तीर्थंकर से पराजित होकर कामदेव ने उनकी पूजा की।[2] अष्ट-मंगल द्रव्यों की सूचियाँ विभिन्न श्वेतांबर और दिगंबर ग्रंथों में दी गयी हैं। (पाण्ड्य शासकों की मुद्राओं पर जो-जो द्रव्य अंकित हैं उनकी भी गणना इन सूचियों में है।)

उनमें से कुछ का अकन जैन कला में हुआ है। तिरुप्परुत्तिकुण्रम् (जिनकांची) के जैन मदिरों का विवरण देते हुए टी० एन० रामचंद्रन् ने अष्ट-मंगल ये बताये हैं: स्वर्ण-कलश, घट, दर्पण, अलंकृत व्यजन, ध्वज, चमर, छत्र, पताका।[3] उन्होंने मंगल-द्रव्यों की एक सूची और भी दी है: छत्र, चमर, ध्वज, स्वस्तिक, दर्पण, कलश, चूर्ण-पात्र और भद्रासन।[4] अष्ट-मगलों की एक तीसरी सूची भी उन्होंने त्रिलोकसार से उद्धृत की है[5]।

कर्नाटक में जैन धर्म का स्वर्णयुग गंग शासकों के काल में था जिन्होंने जैन धर्म को अपना राजधर्म घोषित किया। छठीं से ग्यारहवीं शती तक उसे गग शासकों ने बहुत अधिक संरक्षण प्रदान किया। जैन आचार्य सिंहनंदी ने न केवल गंग राज्य की स्थापना में मौलिक सहयोग प्रदान किया प्रत्युत उन्होंने प्रथम गंग शासक कोंगणिवर्मन्-प्रथम के परामर्शक के रूप में भी कार्य किया। इन पश्चिमी गंग शासकों ने अपने अधिकार में आने वाले तमिलभाषी और कन्नड़भाषी जिलों में अनेक महत्त्वपूर्ण स्मारकों का निर्माण किया। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है श्रवणबेलगोल की विशाल गोम्मट-मूर्ति जिसका निर्माण होयसल शासकों के प्रसिद्ध गग सेनापति चामुण्डराय ने कराया (द्वितीय भाग में अध्याय १९)।

---

1 बर्जेस (जे). रिपोर्ट ऑफ़ दि एंटीक्विटीज ऑफ़ काठियावाड़ एण्ड कच्छ, आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया, न्यू इंपीरियल सीरिज़, 2. 1876, लंदन, प्रथम भाग में पृ. 93 रेखाचित्र 5.

2 शाह, वही, पृ 111. [तृतीय भाग में अध्याय 35 भी देखिए, संपादक]

3 रामचंद्रन् (टी एन). तिरुप्परुत्तिकुण्रम् एण्ड, इट्स टेम्पल्स, बुलेटिन ऑफ़ द मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूज़ियम, न्यू सीरिज़, जनरल सेक्शन, 1, 3, 1934. मद्रास.

4 वही, पृ 190.

5 त्रिलोकसार, 5. 989.

होयसल शासक प्रबुद्ध जैन धर्मावलंबी थे, उनके राज्य में कर्नाटक भी सम्मिलित था। इस राजवंश का प्रथम इतिहास-पुरुष विनयादित्य-द्वितीय (१०४७-११०० ई०) शांतिदेव नामक जैन साधु की सहायता से सत्ता में आया था। बिट्टिग विष्णुवर्धन की पत्नी शांतला देवी जैन गुरु प्रभाचंद्र की शिष्या थी। उसके कुछ मंत्रियों ने जैन धर्म का संवर्धन किया।[1] इसमें संदेह नहीं कि आरंभिक होयसल शासक तबतक जैन धर्मावलंबी होते रहे जबतक रामानुज ने बिट्टिग को वैष्णव धर्म में दीक्षित न कर लिया। धर्म-परिवर्तन से पूर्व तक बिट्टि एक कट्टर जैन रहा, वह इस राजवंश का सबसे महान् शासक था। उसके धर्म-परिवर्तन के बाद भी उसकी पत्नी शांतला देवी जैन बनी रही। बिट्टि प्रथम होयसल शासक था जिसने १११६ ई० में चोल राज्यपाल से तलकाड जीतने के बाद स्वर्ण-मुद्राओं का प्रसार किया था। उसकी मुद्राओं पर अंकित केसरी सिंह और सिंहासीन यक्षी अंबिका का आरंभ में असंगत अर्थ ले लिया गया था[2], संगत अर्थ यह है कि धर्म-परिवर्तन से पूर्व वह जैन धर्मावलंबी था। धर्म-परिवर्तन के बाद तो उसने अपनी मुद्राओं पर रामानुज की मूर्ति अंकित करायी।[3]

होयसल मुद्राएँ दो ठप्पों की सहायता से बनायी गयीं अत: चालुक्य मुद्राओं की अपेक्षा वे अधिक सुघड़ दिखती हैं। होयसल मुद्राओं के दो वर्ग सुपरिचित हैं, उन्हें विष्णुवर्धन ने तलकाड और नोलंबवाडी की विजय के उपलक्ष्य में स्वर्ण-मुद्राओं के रूप में प्रसारित किया था। तलकाडु-गण्ड वर्ग और नोलंबवाडी-गण्ड वर्ग की मुद्राएँ ये हैं :

तलकाडु-गण्ड-वर्ग[4]

अग्रभाग : एक रेखा-वृत्त में दाहिनी ओर बायाँ पैर उठाये और मुख पीछे की ओर घुमाये एक केसरी सिंह का अंकन। उसके ऊपर दाहिनी ओर ही एक और वैसा ही छोटा सिंह सूर्य और चंद्र के साथ अंकित है। यह सिंह एक स्तंभ की ओर घूमा हुआ है जिसके शीर्ष-भाग पर चक्र दिखाया गया है।

पृष्ठभाग : कन्नड़ में तीन पंक्तियों का लेख–(१) श्री-त–(२) लकाडु–(३) गण्ड।

नोलंबवाडी-गण्ड-वर्ग[5]

अग्रभाग : एक रेखावृत्त में दाहिनी ओर लघु बिंदुओं द्वारा अंकित एक केसरी सिंह; उसके पीछे एक देवी-मूर्ति है जिसके चार हाथों में से एक में खड्ग और दूसरे में चक्र है और उसकी एक ओर एक लघु आकृति अंकित है।

---

1 **बाम्बे गजेटियर**, 1. भाग 2, पृ 492.
2 **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ मैसूर**, एनुअल रिपोर्ट, 1929.
3 इलियट. **कॉइन्स ऑफ़ सदर्न इण्डिया**, 1886. लंदन, पृ 82.
4 वही, चित्र 3, 90; **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ मैसूर, एनुअल रिपोर्ट**, 1929, पृ 24, चित्र 9, 2.
5 इलियट, वही, चित्र 3,91. **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ मैसूर**, एनुअल रिपोर्ट, 1929, पृ 24, चित्र 9, 2.

पृष्ठभाग : कन्नड़ में तीन पंक्तियों का लेख—(१) श्री-नो—(२) नम्बवाडी—(३) गण्ड ।

अबतक यह माना जाता रहा कि इस मुद्रा के अग्रभाग पर अंकित आकृति चामुण्डा की है, किन्तु सूक्ष्म परीक्षण के पश्चात् सिद्ध हुआ कि यह आकृति और उसके आयुध अंबिका के हैं।[1] दिगंबर परंपरा में यह देवी धर्मदेवी के नाम से भी उल्लिखित है और कूष्माण्डिनी (तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी) के रूप में प्रसिद्ध है, इस मुद्रा में उसके बायें जो एक लघु आकृति है वह निश्चित रूप से उसके शिशु की है। जो सिंह अंकित है वह उसका वाहन है। दक्षिण भारतीय जैन कला में यक्षी अंबिका अत्यंत लोकप्रिय है और दुर्गा से उसकी अत्यधिक समानता अकारण नहीं हो सकती।

दक्षिण भारत की जैन प्रभाव सहित मुद्राओं का उपर्युक्त सर्वेक्षण किसी भी दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, इससे यह परिज्ञान होता है कि मुद्राओं के अध्ययन में जैन स्रोतों के उपयोग की कितनी अधिक संभावनाएँ हैं। इससे एक लाभ और होगा कि जिन ऐतिहासिक संदर्भों में इन मुद्राओं का प्रसार किया गया उन्हें और भी अधिक स्पष्टता से समझा जा सकेगा।

यहाँ जिनके चित्र दिये गये हैं उन पाण्ड्य मुद्राओं का विवरण निम्नलिखित है :

(१) अग्रभाग : दाहिनी ओर अश्व, अश्व के सम्मुख मुक्कुडै (छत्रत्रय), अश्व के ऊपर मण्डलावृत वृक्ष का प्रतीक जिसके अब कुछ चिह्न ही दिखते हैं। दायें कोण पर तीन तोरणों-सहित एक चैत्य।

पृष्ठभाग : रेखा-कोण—मीन।

चित्र ३०५,१।

(२) अग्रभाग : दाहिनी ओर अश्व, उसके सम्मुख छत्रत्रय। अश्व के ऊपर मण्डलावृत वृक्ष का प्रतीक।

पृष्ठभाग : 'मीन' के अंकन के चिह्न।

चित्र ३०५,२।

(३) अग्रभाग : दाहिनी ओर गज, उसके सम्मुख एक दीपक। ऊपर सात प्रतीक। मण्डलावृत वृक्ष, नंदिपद (बैल का खुर), कुंभ (कलश), अर्धचंद्र, श्रीवत्स, दर्पण और चक्र।

पृष्ठभाग : रेखा-कोण—मीन।

चित्र ३०५,३।

(४) अग्रभाग : दाहिनी ओर गज और उसके सम्मुख दीपक और अंकुश। ऊपर दिखते छह प्रतीक—नंदिपद, कुंभ, अर्धचंद्र, श्रीवत्स, दर्पण और चक्र।

---

1 द्रष्टव्य: रामचंद्रन्, वही, पृ 209, इस यक्षी की मूर्तियों के मूर्तिशास्त्रीय लक्षणों के लिए.

पृष्ठभाग : मीन के अंकन के चिह्न ।

चित्र ३०५,४ ।

(५) अग्रभाग : दाहिनी ओर गज और उसके सम्मुख दीपक तथा एक अन्य प्रतीक जो अब अस्पष्ट हो गया है ।

पृष्ठभाग : रिक्त ।

चित्र ३०५, ५ ।

(६) अग्रभाग : दाहिनी ओर गज और उसके सम्मुख दीपक और अंकुश । ऊपर कुंभ, अर्धचंद्र, श्रीवत्स, दर्पण और चक्र ।

पृष्ठभाग : रेखा-कोण—मीन ।

चित्र ३०६,१ ।

(७) अग्रभाग : दाहिनी ओर गज और उसके ऊपर नंदिपद, दर्पण और चक्र । गज के सम्मुख स्थानक-सहित दीपक ।

पृष्ठभाग : मीन, अंकन अस्पष्ट हो गया है ।

चित्र ३०६,२ ।

(८) अग्रभाग : दाहिनी ओर गज और उसके सम्मुख दीपक (स्थानक-सहित) । ऊपर नंदिपद (?) और चक्र ।

पृष्ठभाग : मीन ।

चित्र ३०६,३ ।

(९) अग्रभाग : गज और उसके सम्मुख दीपक । ऊपर मण्डल में स्वस्तिक, दर्पण, नंदिपद और मीन ।

पृष्ठभाग : मीन ।

चित्र ३०६,४ ।

(१०) अग्रभाग : दाहिनी ओर गज और उसके सम्मुख दीपक । ऊपर स्वस्तिक, कुंभ, नंदिपद और चक्र ।

पृष्ठभाग : मत्स्य के अंकन के चिह्न ।

चित्र ३०६,५ ।

रंगाचारी वनजा

भाग 9

सिद्धांत एवं प्रतीकार्थ

अध्याय 35

मूर्तिशास्त्र

सिद्धांत

जैन मूर्तिशास्त्र के अध्ययन के साहित्यिक स्रोत प्राचीनतम जैन शास्त्रों अर्थात् उपलब्ध अंगों और उपांगों (उनकी उत्तरकालीन टीकाएँ नहीं) के रूप में प्रसिद्ध जैन आगम साहित्य से आरंभ होते हैं। किन्तु जैन मूर्ति-मान या मूर्तिशास्त्र पर कोई स्वतंत्र आगम नहीं लिखा गया। इतना अवश्य है कि सिद्धायतनों के समूचे विवरणों में जैन मूर्तियों और मंदिरों के विषय में उल्लेख मिलते हैं। इन विवरणों में स्तूप, मान-स्तंभ आदि अन्य जैन पूज्य कृतियों का भी समावेश है। यह कहना कठिन है कि भगवती, उवासग-दसाओ, नायाधम्म-कहाओ में जो अर्हंतों की मूर्तियों और मंदिरों के विषय में थोड़े से उल्लेख मिलते हैं वे महावीर या उनके तत्काल पश्चात् के उत्तराधिकारियों के समय के हैं।[1] ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता कि महावीर या उनके गणधरों ने किसी जैन मंदिर के दर्शन किये। इसलिए यह मान्यता संभव नहीं कि तीर्थंकर की मूर्तियों और मंदिरों के संबंध में कोई भी संदर्भ उतना प्राचीन है जितना उन आगमों का आरंभिक काल जिनका पुनःसंपादन चौथी शती ई० में मथुरा और वलभी की दो संगीतियों में और फिर वलभी की ही ४७० ई० की संगीति में हुआ था। तथापि, प्राचीन पाटलिपुत्र के एक उपनगर लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन पॉलिश-युक्त तीर्थंकर-मूर्ति[2], जिसके अब धड़ और पैर ही बच रहे हैं, से स्पष्ट है कि कम-से-कम अशोक के पौत्र

---

1 ये उल्लेख उद्धृत करने योग्य हैं। (क) णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंत-चेइयानि वा भावियप्पणो सीसाए उड्ढं उप्पयति जाव सोहंमो कप्पो··· (**भगवतीसूत्र**, 3, 2, सूत्र 145. पृ 175), (ख) त एणं आणंदे गाहावई···एवं वयासी। नो खलु मे भंते कप्पइ अज्जप्पभिंयि अन्न-उत्थिए वा अन्न-उत्थिय-देवयाणि वा अन्न-उत्थिय-परिग्गहियाणि अरिहंत-चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा··· (**उवासगदसाओ**, भावनगर संस्करण, पृ 14)। इसकी टीका में अभयदेव-सूरि ने लिखा है : अन्य-यूथिक-दैवतानि वा हरि-हरादीनि। अन्य-यूथिक-परिगृहीतानि वा अर्हच्चैत्यानि। अर्हत्प्रतिमा-लक्षणानि यथाभौत-परिगृहीतानि महाकाल-लक्षणानि. पूर्वोक्त, पृ 15. यह ध्यान देने योग्य है कि **उवासगदसाओ** का यह उद्धरण जैन इतिहास के एक उत्तर कालीन चरण का है जब जैन मंदिरों को अन्य मतों ने अपनाना आरंभ कर दिया। (ग) **नायाधम्म-कहाओ** में उल्लेख है कि द्रौपदी ने अपने गृह-चैत्य में जिन-मूर्तियों की पूजा की। किन्तु इस ग्रंथ का आज जो रूप विद्यमान है वह उस समय के बाद का है, जब ग्रंथों का श्वेतांबर और दिगंबर के रूप में विभाजन हो चुका था.

2 [देखिए प्रथम भाग में पृ 74. चित्र 21—संपादक.]

सम्प्रति के समय तीर्थंकर-मूर्ति की पूजा का प्रचलन हो चुका था। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार सम्प्रति को जैन धर्म में आर्य सुहस्ती ने दीक्षित किया था। भाष्यों और चूर्णियों में और वसुदेव-हिण्डी में सम्प्रति जैन धर्म का एक महान् संरक्षक बताया गया है। यह दीक्षा विदिशा या उज्जैन में, संभव तो यही है कि विदिशा में, जीवंतस्वामी की मूर्ति की रथयात्रा के समारोह में संपन्न हुई। कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यानमग्न खड़े और धोती, मुकुट तथा अन्य अलंकार धारण किये महावीर की यह मूर्ति जीवंत-स्वामी की मूर्ति इसलिए कहलाती है क्योंकि काष्ठ-मूर्ति के रूप में वह उस समय गढ़ी गयी थी जब महावीर वैराग्य से पूर्व अपने महल में ध्यान-साधना किया करते थे।[1] इससे कम-से-कम इतना प्रतीत होता है कि महावीर के जीवन-काल में एक तदाकार मूर्ति गढ़ी गयी और मौर्य सम्राट् अशोक के पौत्र सम्प्रति के समय तक उसकी पूजा भी न केवल कुछ लोगों द्वारा वरन् समस्त संघ द्वारा भी की जाने लगी थी। संभव है, इस मूर्ति ने उत्तरकालीन महावीर-मूर्तियों के लिए एक आदर्श का कार्य किया हो। किन्तु, पूजा के हेतु निर्मित सभी जैन मूर्तियों का स्वरूप एक-जैसा होता है, चाहे वह किसी भी तीर्थंकर की हो (केवल पार्श्व और सुपार्श्व की मूर्तियों के मस्तक पर सर्प की फणावली होती है)। पूज्य-मूर्ति के निर्माण का सर्वप्रथम विधान अधिक-से-अधिक ईसवी सन् के आरंभ में हुआ हो सकता है जिसका संकेत मथुरा के ककाली-टीला से प्राप्त अनेक जैन मूर्तियों (आसीन और खड़ी) तथा बिहार में बक्सर के निकट स्थित चौसा से प्राप्त जैन कांस्य-मूर्तियों के एक समूह से मिलता है।[2]

तीर्थंकर-मूर्तियों के मान का विधान जिन ग्रथों में देखने में आया है उनमें वराह मिहिर की बृहत्-सहिता (५८, ४५) सबसे प्राचीन है : 'मूर्ति में अर्हंतों को तरुण, रूपवान्, प्रशांत व्यक्तित्व से संपन्न और वक्षस्थल पर श्रीवत्स-लांछन से युक्त दिखाया जाना चाहिए। आजानु-लंब भुजाओं वाला उनका शरीर दिगंबर (अर्थात् निग्रंथ या निर्वस्त्र) दिखाया जाना चाहिए।'[3]

यह विधान स्पष्टतः दिगंबर जैन मूर्तियों के लिए है। धोती के अंकन सहित मूर्ति की पूजा वराह मिहिर के समय तक या तो आरंभ ही नहीं हुई थी या उस समय तक वह बहुत प्रचलित नहीं हुई थी (अर्थात् वह कदाचित् उसके बाद में आरंभ हुई)। स्पष्ट है कि मथुरा और चौसा से प्राप्त कोई भी कुषाणकालीन तीर्थंकर-मूर्ति सवस्त्र नहीं बनी।[4]

---

1 सप्रति के तथा जीवतस्वामी की मान्यता और मूर्तियों के संबध में सभी सदर्भों के लिए देखिए उमाकांत प्रेमानंद शाह का लेख 'ए यूनिक इमेज ऑफ़ जीवंतस्वामी', **जर्नल ऑफ़ दि ओरियेण्टल इंस्टीट्यूट** 1, 1951-52. पृ 72-79.

2 [प्रथम भाग मे अध्याय 6 और 7 देखिए. —संपादक.]

3 [इसका मूलपाठ प्रथम भाग के पृ 39 पर पाद-टिप्पणी में उद्धृत किया जा चुका है—संपादक.]

4 इस विषय पर सविस्तार चर्चा के लिए देखिए उमाकांत प्रेमानंद शाह का लेख 'दि एज ऑफ़ डिफ़रेन्शिएशन ऑफ़ श्वेतांबर एण्ड दिगबर इमेजेज' **बुलेटिन ऑफ़ द प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूज़ियम**, बंबई 1. 1950-51. पृ 30 तथा परवर्ती.

छठी शती ई० में कभी लिखे गये वास्तुशास्त्र मानसार (५५, ७१-६५) में जैन मूर्तिशास्त्र के संबंध में कुछ और विवरण हैं । जिन-मूर्ति के विषय में उसमें लिखा है कि इसके 'दो हाथ, और दो नेत्र हों, मुख पर श्मश्रु न दिखाये जायें और मस्तक पर जटाजूट दिखाया जाये ।' साथ ही, 'जिन-मूर्ति में शरीर आकर्षक (सुरूप) दिखाया जाये और उसके किसी भी भाग पर न कोई आभूषण दिखाया जाये और न कोई वस्त्र । वक्षस्थल पर श्रीवत्स लांछन स्वर्ण-खचित हो ।'

मानसार में और भी लिखा है कि जिन-मूर्ति आसीन बनायी जाये चाहे खड़ी, पर वह सम-चतुरस्र हो । दोनों पैरों में समरूपता हो और दोनों हाथ लंबे हों और एक ही मुद्रा में भी हों । आसीन-मुद्रा में पैर कमलासन पर दिखाये जायें । समूची मूर्ति दृढ़ता की मुद्रा में हो और परमात्म-स्वरूप में तन्मयता की अभिव्यक्ति करती हो । दायें और बायें हाथों के करतल ऊपर की ओर हों । मूर्ति को आसन पर दिखाया जाये चाहे वह आसीन हो चाहे खड़ी मुद्रा में । उसके ऊपर (पीछे ?) एक शिखराकृति और एक मकर-तोरण होना चाहिए । उसके ऊपर कल्पवृक्ष और उसके साथ गजराज तथा अन्य मूर्तियाँ होनी चाहिए ।

मानसार के ही अनुसार जिन-मूर्ति के परिकर में नारद तथा अन्य ऋषि और प्रार्थना की मुद्रा में देव-देवियों का समूह भी दिखाया जाये । यक्ष, विद्याधर तथा अन्य देव और चक्रवर्तियों के अतिरिक्त राजवर्ग भी उसी मुद्रा में प्रस्तुत किये जायें । नागेंद्र, दिक्पाल और यक्ष उनकी पूजा करते हुए अंकित किये जायें । एक ओर यक्ष और दूसरी ओर यक्षेश्वर को चमर डुलाते हुए दिखाया जाये ।

जैन मूर्तियों के अवयवों का प्रमाण दश-ताल अर्थात् सबसे बड़े मान-दण्ड के अनुसार हो । मानसार के अनुसार तीर्थंकर-मूर्तियाँ भी इसी मान-दण्ड के अनुसार हों ।

मानसार (५५, ७१-६५) में दिगंबर मूर्तियों का वर्णन है, परंतु नग्नता के अतिरिक्त शेष सभी लक्षण श्वेतांबर और दिगंबर दोनों प्रकार की मूर्तियों के एक-समान हैं । किसी भी जिन-मूर्ति के परिकर में किसी भी अनुचर देव का, विशेषत: नारद का अंकन अबतक देखने में नहीं आया, किन्तु चमरधारी यक्ष या नाग या गजारोही, दुंदुभि-वादक, विद्याधर-युगल आदि का अंकन जिन-मूर्ति के साथ उस समय पर्याप्त हुआ जब वह अपने परिकर के साथ विकसित हुई । जिन-मूर्ति के मुख्य लक्षण वही हैं अर्थात् लंबी भुजाएँ, रूपवान् और तरुण आकृति, ध्यानमग्न नासाग्र दृष्टि और वक्षस्थल पर श्रीवत्स-लांछन ।[1]

आशाधर (१२२८ ई०) के प्रतिष्ठा-सारोद्धार (१, ६१-६२) नामक एक दिगंबर ग्रंथ में

---

1 सातवीं शती के प्रसिद्ध श्वेतांबर ग्रंथकार हरिभद्र-सूरि ने जिन-देव की उपासना अपने इस प्रचलित पद्य में की है : प्रशम-रस-निमग्नं दृष्टि-युग्मं, प्रसन्नं वदन-कमलम्, अंक: कामिनी-संग-शून्य: । करयुगम् अपि यत् ते शस्त्र-संबंध-वंध्यं, तद् असि जगति देवो वीतरागस् त्वम् एव ॥

लिखा है कि जिन-मूर्ति में दृष्टि नासाग्र तथा मुद्रा अभयंकर होनी चाहिए। उसके परिकर में अष्ट-प्रातिहार्य और यक्षों का समावेश भी होना चाहिए।

वसुनंदी सैद्धांतिक ने अपने प्रतिष्ठासार-सग्रह में तीर्थंकर-मूर्ति का ताल-मान दिया है, उनका उल्लेख आशाधर ने किया है, वे बारहवीं शती (या इससे पहले) के हो सकते हैं। उन्होंने तीर्थंकर के मस्तक पर के उष्णीष का ताल-मान दिया है। यह विधान उन्होंने भी किया है कि तीर्थंकर-मूर्ति में शरीर और मुख पर केश नहीं होना चाहिए और वक्षस्थल पर श्रीवत्स लांछन होना चाहिए; भुजाएँ आजानु-लंब हों; पद-तलों पर शंख, चक्र, अंकुश, कमल, यव, छत्र आदि का अंकन होना चाहिए। तीर्थंकरों की मूर्तियाँ या तो खड़ी (कायोत्सर्ग) हों या आसीन (पर्यंकासन या पद्मासन)। जिन-मूर्तियों के साथ अष्ट-प्रातिहार्य भी दिखाये जाने का विधान है।[1]

तीर्थंकर-मूर्तियाँ अबतक केवल दो मुद्राओं में देखने में आयी हैं, या तो खड़ी या आसीन। आसीन मूर्तियों में दक्षिण भारत की अधिकांश अर्ध-पर्यंकासन में और उत्तर भारत की पालथी-सहित पूर्ण-पद्मासन में है; परंतु विभिन्न तीर्थंकरों की मुद्राएँ भी विभिन्न बनाने का विधान नहीं है; सभी तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उक्त दोनों में से किसी भी मुद्रा में बनायी गयीं। तथापि, जैन ग्रंथों में विभिन्न तीर्थंकरों की उन मुद्राओं के उल्लेख हैं जो उन्होंने अपने निर्वाण-काल में धारण की। इक्कीस तीर्थंकरों ने (और दिगंबर परंपरा के अनुसार भरत और बाहुबली ने भी) कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यान-मग्न रहते हुए और तीन तीर्थंकरों ऋषभ, नेमि और महावीर ने ध्यान-मुद्रा में आसीन रहते हुए निर्वाण प्राप्त किया।[2] इन तीर्थंकरों की मूर्तियों की मुद्राएँ भी ये ही हों, ऐसा विधान व्यवहार में स्वीकार्य न हो सका, यद्यपि आवश्यक निर्युक्ति (गाथा ९६९) जैसे प्राचीन ग्रंथ में भी वह विधान किया गया कि तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उसी मुद्रा में बनायी जानी चाहिए जिसमें उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया हो।

इस कल्पकाल की अवसर्पिणी के भरत-क्षेत्र के तीर्थंकरों के वर्ण दोनों संप्रदायों में उल्लिखित हैं।[3] दिगंबर संप्रदाय के अनुसार सोलह तीर्थंकरों का वर्ण स्वर्णिम था, केवल चंद्रप्रभ और पुष्पदंत का श्वेत, सुपार्श्व और पार्श्व का हरा, मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का गहरा नीला और पद्मप्रभ और

---

1 प्रतिष्ठासार-संग्रह (पाण्डुलिपि), अध्याय 4; श्लोक 1, 2, 4, 64, 69. वसुबिंदु (जयसेन) का 'प्रतिष्ठा-पाठ', श्लोक 70 भी देखिए।

2 देखिए चेइय-वंदण महाभास (की संस्कृत छाया), गाथा 80-81, पृ 15./तिलोय-पण्णत्ती, 4, 1210. पृ 302, /और जटासिंह नंदी (लगभग छठी शती) वरांग-चरित 2, 7, 90. पृ 272 के अनुसार केवल ऋषभ, वासुपूज्य और नेमि ने आसीन-मुद्रा में निर्वाण प्राप्त किया, शेष ने खड़ी हुई मुद्रा में.

3 तिलोय-पण्णत्ती, 4, 588, पृ 217./प्रतिष्ठा-सारोद्धार, 1, 80-81./पद्म-पुराण, पर्व 20, श्लोक 63-66.

वासुपूज्य का प्रवाल या कमल की भाँति लाल था। यही कथन श्वेतांबर आवश्यक निर्युक्ति[1] में भी किया गया है, और इसी कारण इस अनुमान में कोई बाधा नहीं कि वर्ण-संबंधी यह मान्यता कम-से-कम उस काल से पूर्व की है जब दोनों संप्रदायों के मूर्ति-पूजा से संबद्ध ग्रंथों के विभाजन को अंतिम रूप मिला।

विभिन्न तीर्थंकर-मूर्तियों की पहचान उनके आसनों के ऊपर या नीचे अंकित लांछनों से होती है। दोनों संप्रदायों में इन प्रतीकात्मक चिह्नों का विधान है। पर यह विधान किसी भी प्राचीन ग्रंथ में नहीं मिलता। इन चिह्नों की सूची न तो किसी आगम ग्रंथ में है, न कल्पसूत्र में जिसमें तीर्थंकरों के जीवन-चरित्रों का वर्णन है, न निर्युक्तियों में और न चूर्णियों में। वसुदेव-हिण्डी (लगभग ५०० ई० या इससे भी कुछ पूर्व) में कई तीर्थंकरों की चर्चा है पर उसमें भी इन चिह्नों का संकेत नहीं हुआ। दिगंबर ग्रंथों में वरांग-चरित (छठी शती), जिनसेन के आदि-पुराण (लगभग ७५०-८३० ई०), गुणभद्र (८४० ई०) के उत्तर-पुराण, रविषेण (६७६ ई०) के पद्मचरित आदि प्राचीन ग्रंथों में भी इनका उल्लेख नहीं मिलता। अवश्य ही तिलोय-पण्णत्ती में यह सूची है, किन्तु इसका जो पाठ आज उपलब्ध है वह उत्तरकलीन लेखकों द्वारा विकृत किया गया प्रतीत होता है।[2]

दोनों संप्रदायों की सूचियों की तुलना से ज्ञात होगा कि कुछ तीर्थंकरों के लांछनों में मतभेद है : (१) चौदहवें तीर्थंकर अनंत का चिह्न हेमचंद्र के अनुसार बाज पक्षी है जबकि दिगंबरों के अनुसार वह रीछ है, (२) दसवें शीतल का श्रीवत्स (हेमचंद्र) माना गया है और दिगंबरों के अनुसार स्वस्तिक (तिलोय-पण्णत्ती) या श्रीवृक्ष (प्रतिष्ठा-सारोद्धार) है, और (३) अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ का चिह्न दिगंबरों के अनुसार मछली है[3] किन्तु श्वेतांबरों के अनुसार नंद्यावर्त है। स्वयं दिगंबर ग्रंथकारों में कुछ मतभेद हैं, जैसे सातवें तीर्थंकर का चिह्न तिलोय-पण्णत्ती के अनुसार नंद्या-

---

1 **आवश्यक-निर्युक्ति**, गाथा 376-77. **अभिधान-चिंतामणि**, 1, 49. कुछ अंतर है, श्वेतांबर संप्रदाय के अनुसार मुनिसुव्रत और नेमिनाथ का वर्ण गहरा और सुपार्श्व और पार्श्व का गहरा नीला है, किंतु मेरे विचार से यह कोई विशेष अंतर नहीं है क्योंकि चित्रांकन के समय रंगों के चुनाव में इतना अंतर पड़ सकता था कि आवश्यक-निर्युक्ति में उल्लिखित गहरा नीला दिगंबरों में हरा हो गया हो, या फिर गहरे रंग का अर्थ गहरा नीला कर लिया गया हो सकता है। जैसाकि मैंने अपने लेख 'वृषाकपि इन दि ऋग्वेद', **जर्नल ऑफ़ दि ओरियंटल इंस्टीट्यूट**, 7, 1958-59, में लिखा है कि हरित शब्द का प्रयोग कई प्रकार के रंगों के लिए होता था और बहुत-से हलके रंगों के लिए तो तब कोई शब्द भी रूढ़ न हुए थे.

2 एक स्थान पर बालचंद्र सैद्धांतिक का नाम भी इसमें आया है, इसलिए भी मेरी यह धारणा बनी.

3 **तिलोय-पण्णत्ती**, 4, 605 के अनुसार तगर-कुसुमा और **प्रतिष्ठा सारोद्धार** के अनुसार तगर। **तिलोय-पण्णत्ती** के संपादकों ने तगर-कुसुमा का अर्थ किया है 'मछली' जिसका समर्थन कन्नड़ के दिगंबर स्रोतों से भी होता है, टी. एन. रामचंद्रन्. **तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् एण्ड इट्स टेम्पल्स, बुलेटिन ऑफ़ द मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूज़ियम**, न्यू सीरिज़, जनरल सेक्शन, 1, 3, 1934. मद्रास. पृ 192-94.

वर्त है किन्तु प्रतिष्ठा-सारोद्धार के अनुसार वह स्वस्तिक है (जो हेमचंद्र की श्वेतांबर परंपरा के अनुरूप है)। दसवें तीर्थंकर का चिह्न तिलोय-पण्णत्ती के अनुसार स्वस्तिक है जबकि प्रतिष्ठा-सारोद्धार के अनुसार श्रीवृक्ष है।

लांछनों के संबंध में जो प्राचीनतम उल्लेख दिगंबर या श्वेतांबर शास्त्रों में मिलता है वह इन दोनों संप्रदायों के विभाजन के बाद का है। अतएव विभिन्न लांछनों के आरंभ और विकास के अध्ययन के लिए पुरातात्त्विक साक्ष्य लिये जा सकते हैं। बहुत विस्तार में गये बिना इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि कुषाणकाल की किसी भी जिन-मूर्ति पर लांछन अंकित नहीं है। जिनपर लांछन भी अंकित हो और जिनका निर्माणकाल भी ज्ञात हो सका हो ऐसी मूर्तियों में जो प्राचीनतम है ऐसी नेमिनाथ की राजगिर से प्राप्त एक अंशतः खण्डित मूर्ति पर लांछन अंकित है; और चंद्रगुप्त के उल्लेख-सहित एक गुप्तकालीन अभिलेख भी उसपर उत्कीर्ण है। पादपीठ के मध्य में खड़े चक्रपुरुष की एक सुंदर आकृति बनी है, उसके पीछे चक्र है और चक्र के दोनों ओर एक-एक शंख है जो नेमिनाथ का चिह्न है।[1]

लांछन का अंकन आशाधर[2] (तथा अन्य जैन ग्रंथकारों) के अनुसार पादपीठ पर नीचे मध्य में होना चाहिए, जबकि यक्ष और यक्षी के अंकन क्रमशः (पादपीठ के) दायें और बायें होना चाहिए।

जैन मूर्तिशास्त्र की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि चौबीसों तीर्थंकरों के नामों के विषय में दोनों संप्रदाय पूर्णतया एकमत हैं। तीर्थंकरों की नामावली आगमों में आयी है, जैसे कल्पसूत्र में, आवश्यक सूत्र के लोगस्ससुत्त में, भगवतीसूत्र (१६, ५) में। आचारांगसूत्र (सूत्र १२६) और उसकी निर्युक्ति में भूत, वर्तमान और भविष्य काल के तीर्थंकरों का उल्लेख है। स्थानांगसूत्र (सूत्र २,४,१०८) में उनके वर्णों का उल्लेख है। दिगंबर संप्रदाय के अनुसार उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ पुरुष थे किन्तु श्वेतांबरों का विश्वास है कि मल्लि स्त्री थी। मतभेद का कारण यह है कि दिगंबरों के अनुसार स्त्री पर्याय से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। यह मान्यता कदाचित् इसलिए सबल होती गयी होगी क्योंकि स्त्रियाँ निर्वस्त्र नहीं हो सकतीं और वे त्याग की पराकाष्ठा अर्थात् जिन-कल्प का पालन नहीं कर सकतीं। इस प्रकार, उन्नीसवें तीर्थंकर के पुरुष या स्त्री माने जाने का प्रश्न मुख्यतः श्वेतांबर-दिगंबर मतभेद अर्थात् अचेलकत्व पर निर्भर है।[3]

---

1 इसका प्रथम बार प्रकाशन रामप्रसाद चंदा ने किया था, **आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, एनुअल रिपोर्ट**, 1925-26. 1928, कलकत्ता, चित्र 56 ख; / उमाकांत प्रेमानंद शाह, **स्टडीज इन जैन आर्ट**, 1955, बनारस रेखाचित्र 18. [प्रथम भाग में पृष्ठ 128, चित्र 53 भी देखिए—संपादक.]

2 **प्रतिष्ठा-सारोद्धार**, 1, 77. स्थिरेतरार्चयोः पादपीठस्याधो यथायथम् । लांछनं दक्षिणे पार्श्वे यक्षं यक्षीं च वामके ।।

3 जैसाकि इस लेखक ने अन्यत्र लिखा है, यह मतभेद अपने वास्तविक और अंतिम रूप में पाँचवीं शती के उत्तरार्ध में प्रकट हुआ क्योंकि उसी समय आगम ग्रंथों का पुनः संपादन किया गया और उन्हें संप्रदायों की अपनी-अपनी अपेक्षा के अनुरूप ढाला भी गया। जैन मुनिचर्या के इतिहास में विभिन्न तीर्थंकरों की आर्यिकाओं (साध्वियों) की गणिनियों की नामावलियों को दोनों संप्रदायों ने सुरक्षित रखा, और मथुरा के कंकाली-टीला से प्राप्त तीर्थंकर-मूर्तियों के पादपीठों पर मुनियों और आर्यिकाओं का अंकन हुआ है, इन दो कारणों से अनुमान होता है कि आरंभ में नारी-मुक्ति पर इस प्रकार का प्रतिबंध कदाचित् नहीं था. जहाँ तक वस्त्र-त्याग का प्रश्न था सो वह तो मुनियों तक के लिए वैकल्पिक था.

तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मणियों, धातुओं, पाषाणों, काष्ठ और मिट्टी से बनायी जाती थीं। इन द्रव्यों के चुनाव के संबंध में आचार-दिनकर में कुछ नियमों का विधान है। इस ग्रंथ के अनुसार मूर्ति स्वर्ण, रजत या ताम्र की बनानी चाहिए, पर कांस्य, सीसा या टिन की कभी नहीं बनानी चाहिए। कभी-कभी मूर्तियों को ढालने में पीतल (रेती) का उपयोग कर लिया जाता है, यद्यपि साधारण नियम यही है कि मिश्रित धातु का प्रयोग नहीं किया जाये। मूर्ति यदि काष्ठ की बनानी हो तो केवल श्रीपर्णी (खँभारी), चंदन, बिल्व, कदंब, लाल चंदन, पियाल, उदंबर (ऊमर) और कभी-कभी शीशम का ही प्रयोग किया जाना चाहिए, किसी अन्य वृक्ष के काष्ठ का कभी नहीं। पाषाण भी सब प्रकार के दोषों से रहित हो। वह श्वेत, हलके हरे, लाल, काले या हरे रंग का हो सकता है। मिट्टी की मूर्ति के लिए गोबर ऐसा होना चाहिए जो धरती पर गिरने से पहले ही हाथ पर ले लिया गया हो, और उसमें जो मिट्टी मिलायी जाये वह भी स्वच्छ स्थान से लायी जानी चाहिए। लेप्य (चीनी मिट्टी) की मूर्ति बनाते समय उसमें कई प्रकार के रंग मिलाये जाते हैं। फिर यह विधान भी है कि अपने कल्याण का इच्छुक गृहस्थ आवास-गृह में लोहे, पाषाण, काष्ठ, मिट्टी, गजदंत या गोबर से बनायी गयी या चित्रांकित मूर्ति की पूजा न करें।[1]

वसुनंदि-श्रावकाचार में लिखा है कि जिनों तथा अन्यों (सिद्धों, आचार्यों आदि) की मूर्तियाँ प्रतिमा-लक्षण की विधि[2] से मणि, स्वर्ण, रत्न, रजत, पीतल, मोती, पाषाण आदि से बनायी जानी चाहिए।[3] वसुबिन्दु-प्रतिष्ठापाठ में इसके अतिरिक्त स्फटिक का भी विधान है और लिखा है कि ऐसी मूर्तियाँ यदि बड़े कमलासन पर विराजमान की जायें तो वे सज्जनों की प्रशंसा अर्जित करती हैं।

ऐसी मूर्तियाँ स्थापित नहीं की जानी चाहिए जो सदोष हों, टूट या फूट जाने से जिन्हें जोड़ा गया हो, या फिर जो अत्यंत जीर्ण-शीर्ण हो गयी हों। आवास-गृह में स्थापित मूर्ति एक बितस्ति (बेतिया) से कुछ बड़ी होनी चाहिए।[4] आचार-दिनकर में लिखा है कि सार्वजनिक मंदिर में बारह अंगुल से छोटी मूर्ति नहीं होनी चाहिए जबकि आवास-गृह में वह बारह अंगुल से बड़ी नहीं होनी चाहिए, यदि

---

1 आचार-दिनकर, भाग 2, पृ 143, श्लोक 4-11.

2 प्रतिमालक्षण-विधि नामक एक ग्रंथ का उल्लेख तो मिलता है पर उसकी कोई पाण्डुलिपि अबतक नहीं मिली, यहाँ भी इसी ग्रंथ का उल्लेख हुआ प्रतीत होता है.

3 वसुनंदि-श्रावकाचार श्लोक 390, देखिए वसुबिंदु प्रतिष्ठापाठ, श्लोक 69, पृ 17; और भी देखिए जिन यज्ञकल्प जो जैन सिद्धांत-भास्कर (2. पृ 12, में उद्धृत हुआ है : सौवर्णं राजतं चापि पैत्तलं कांस्यजं तथा। प्रावालं मौक्तिकं चैव वैडूर्यादि सुरत्नजम्। चित्रजं क्वचिच्चंदनजम्...।

4 प्रतिष्ठा-सारोद्धार 1, 83, पृ 9, इस ग्रंथ के संपादक पण्डित मनोहर लाल ने एक पाद-टिप्पणी में लिखा है : अथातः संप्रवक्ष्यामि गृहबिंबस्य लक्षणम्। एकांगुलं भवेच्छ्रेष्ठं द्व्यंगुलं धन-नाशनम्।। त्र्यंगुले जायते वृद्धिः पीडा स्याच्चतुरंगुले। पंचांगुले तु वृद्धिः स्यादुद्वेगस्तु षडंगुले।। सप्तांगुले गवां वृद्धिर्हानिरष्टांगुले मता। नवांगुले पुत्रवृद्धिर्धननाशो दशांगुले।। एकादशांगुलं बिंबं सर्वकामार्थसाधकम्। एतत् प्रमाणमाख्यातमत ऊर्ध्वं न कारयेत्।। इति ग्रंथांतरेप्युक्तम्।

गृहस्थ अपना हित चाहता हो ।[1] धातु से ढली हुई या चीनी मिट्टी से बनी हुई मूर्तियाँ टूटने-फूटने पर जोड़कर रखी जा सकती हैं और उनकी पूजा की जाती रह सकती है, किन्तु काष्ठ या पाषाण की मूर्ति को टूटने-फूटने पर जोड़कर पूजा के लिए नहीं रखा जाना चाहिए। किन्तु यदि वे एक सौ वर्ष से अधिक प्राचीन हों या उनकी प्रतिष्ठा किसी महान् व्यक्ति ने करायी हो तो उनकी पूजा की जाती रह सकती है, चाहे वे खण्डित ही क्यों न हों, पर उन्हें सार्वजनिक मंदिरों में ही स्थापित करना चाहिए, गृह-चैत्यों में नहीं ।[2]

यद्यपि तीर्थंकरों के मंदिरों के उल्लेख जैन आगमों में अत्यंत कम हुए हैं और उनकी वास्तविकता पर जब-तब प्रश्न-चिह्न लगते रहे है, इतना ही नही, आगम-ग्रंथों में किसी भी तीर्थंकर की एक भी मूर्ति के इस भूमण्डल में होने का उल्लेख नहीं है, तथापि शाश्वत तीर्थंकर-प्रतिमाओं के अनेक विवरणों से जैन मूर्ति की पर्याप्त प्राचीन मान्यता का परिज्ञान होता है। दोनों संप्रदायों में सिद्धायतनों (सिद्धों के मंदिर जिन्हें शाश्वत चैत्य भी कहते हैं) की मान्यता है जिनमें शाश्वत 'जिन' अर्थात् तीर्थंकर-मूर्तियाँ विराजमान होती हैं। ये मूर्तियाँ चार तीर्थंकरों अर्थात् चंद्रानन, वारिषेण, ऋषभ और वर्धमान की होती है ।[3] ये तीर्थंकर शाश्वत जिन कहलाते हैं क्योंकि प्रत्येक उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी काल में ये चारों नाम अवश्य ही किन्हीं तीर्थंकरों के होते हैं ।[4] कई आगमों में यह भी लिखा है कि विभिन्न स्वर्ग-विमानों और पर्वत-शिखरों पर सिद्धायतन या शाश्वत-जिन प्रतिमाएँ होती हैं ।[5] आगे लिखा है कि अत्यंत मनोरम सिद्धायतन के मध्य में विशाल मणिपीठक पर एक देवच्छंदक की रचना होती है। इस देवालय में एक सौ आठ तीर्थंकर-मूर्तियाँ स्थापित होती हैं। काव्यमय भाषा में यह भी लिखा है कि उन मूर्तियों के विभिन्न अंगोपांग कैसे होते हैं। फिर बताया गया कि इन जिन-मूर्तियों के पीछे आकर्षक ढंग से छत्र धारण किये और पुष्पहार तथा कोरण्ट (कटसरैया) के फूलों की मालाएँ लिये खड़े सेवक होते हैं ; पुष्प रजत, चंद्रमा आदि की भाँति अत्यंत धवल और उज्ज्वल होते है। तीर्थंकर-मूर्ति की दोनों ओर दो-दो चमरधारी होते हैं ; तीर्थंकर-मूर्ति के सामने भगवान् के चरणों में नतमस्तक प्रणाम करते नाग-युगल (दोनों ओर एक-एक) यक्ष-युगल, भूत और कुण्डधर (कलशधारियों का) युगल होता है। भगवान् की मूर्तियों के समक्ष घण्टियाँ, चंदन-कलश (जो या तो मंगल-कलश रहे होंगे या चंदन-द्रव से आपूरित घट रहे हो सकते

1 आचार-दिनकर, 2. पृ 142.

2 पूर्वोक्त, पृ 142, श्लोक 4-7, तथा सदोष मूर्तियों के विभिन्न दुष्फलों के विवरण के लिए श्लोक 13-27.

3 **स्थानांगसूत्र**, 4, सूत्र 307 /**प्रवचन-सारोद्धार**, 491, पृ 117/एक बहुत प्राचीन नामावली **जीवाजीवाभिगम-सूत्र**, सूत्र 137, पृ 235 पर भी है। दिगबर परपरा के अनुसार विभिन्न स्थानो के सिद्धायतनो के लिए देखिए जिनसेन का **हरिवंशपुराण**, पर्व 5-6, पृ 70-140.

4 पद्रह कर्मभूमियों में से किसी मे भी.

5 जैन लोकविद्या के अनुसार जो नंदीश्वर-द्वीप है उसमें ऐसे बावन शाश्वत जिनालय है। सिद्धायतनों के लिए देखिए **जीवाजीवाभिगम-सूत्र**, सूत्र 139. पृ 232-33.

हैं ?), भृंगार (एक विशेष प्रकार का घट), दर्पण, थालियाँ, घट, आसन, रंग-विरंगे आभूषणों की मंजूषाएँ, अश्वों, गजों, मनुष्यों, किन्नरों, किंपुरुषों, महोरगों, गंधर्वों और वृषभों के शीर्ष, पुष्पों और मालाओं की चंगेरियाँ (अमलबेंत से बनी टोकरियाँ) तथा वासचूर्णों और अंगरागों आदि की डिब्बियाँ, मयूर के पंखों से बनी पिच्छियाँ, फूलों की टोकरियाँ (पटलक), एक सौ आठ सिंहासन, छत्र, चमर, तैल-कूपिकाएँ (तेल की कुप्पियाँ), भाण्डकोष्ठ (कुठियाएँ), चोयक, तगर, हरिताल, हिंगुलक, मनःशिला, अंजन तथा एक सौ आठ ध्वज स्थापित होते हैं।[1]

अंगोपांगों के उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि ये तीर्थंकर-मूर्तियाँ कदाचित् खड्गासनस्थ रही होंगी। श्वेतांबरों और दिगंबरों के मध्यकालीन प्रतिष्ठापाठों में और शिल्पशास्त्रों में तीर्थंकर-मूर्ति के साथ जिन आठ महा-प्रतिहार्यों का विधान किया गया है उनकी नामावली उपर्युक्त विवरण में नहीं है, तथापि जिन-मूर्ति के परिकर के अंतर्गत मान्य इन आठ प्रातिहार्यों में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो उपर्युक्त विवरण में स्पष्ट दीख पड़ते हैं। इस विवरण में जिन-मूर्तियों का कवित्व और अतिरंजना से मिश्रित वर्णन तो है ही, उस जैन पूजा-पद्धति का समावेश भी है जो इन विवरणों के लेखक या लेखकों की दृष्टि में रही होगी। इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री से तुलना करने पर, उपर्युक्त विवरण का लेखनकाल ईसा की आरंभिक शताब्दियों से पूर्व का नहीं प्रतीत होता। इस काल की जो तीर्थंकर-मूर्तियाँ मथुरा से प्राप्त हुई हैं उनपर तीर्थंकर के दोनों ओर एक-एक चमर-धारी सेवक या एक करबद्ध नाग और कभी-कभी मूर्ति के ऊपर दोनों ओर एक-एक मालाधर और तीर्थंकर के मस्तक पर छत्र अवश्य होते हैं। कुण्डधर, टीकाकारों के अनुसार, वे साधारण देव होते हैं जो आदेशों का (इंद्र के ?) पालन करते हैं, किन्तु यदि कुण्ड शब्द का अर्थ जलघट-जैसी कोई वस्तु लिया जाये तो हम मथुरा की उन मूर्तियों को इनकी समानांतर मान सकेंगे जो कभी-कभी जल-पात्र लिये होती हैं।

उपर्युक्त विवरण में न तीर्थंकरों के लांछनों का कोई उल्लेख है, न ही शासन-देवताओं (अर्थात् वे सेवक, यक्ष और यक्षी जो शासन या जैन संघ का संरक्षण करते हैं) की मूर्तियों का। ये अभिप्राय मथुरा में भी कुषाणकाल की कृतियों में अनुपस्थित हैं। विशेष रूप से ध्यान देने योग्य वह श्रीवत्स-चिह्न है जिसका उल्लेख लक्षण-ग्रंथों में आता है और जो मथुरा की कुषाणकालीन तीर्थंकर-मूर्तियों पर अवश्य उत्कीर्ण किया गया, किन्तु यह चिह्न न तो लोहानीपुर से प्राप्त पॉलिशदार (मौर्यकालीन) धड़ पर है और न प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूजियम की उस प्राचीन कायोत्सर्ग पार्श्वनाथ-कांस्य-मूर्ति पर जिसे मैंने ईसा से भी पूर्व की सिद्ध किया है (देखिए प्रथम भाग में पृ० ९०-९१, चित्र ३७)।

प्रतीत होता है कि पदतलों और करतलों पर उत्कीर्ण किये जाने वाले चिह्न और वक्षस्थल पर उत्कीर्ण किया जाने वाला श्रीवत्स-चिह्न लिये तो गये महापुरुषों के लक्षणों की प्रचलित परंपरा

1 इस श्वेतांबर मान्यता की तुलना दिगंबर हरिवंशपुराण (पर्व 5, श्लोक 361-65) के उस संक्षिप्त विवरण से की जा सकती है जिसमें अकृत्रिम सिद्धों के परिवार अर्थात् सिद्धायतन में विराजमान शाश्वत प्रतिमाओं का उल्लेख है.

से, किन्तु उन्हें तीर्थंकर-मूर्ति की मुख्य विशेषताओं में स्थान दे दिया गया। शाश्वत तीर्थंकरों का वर्णन जिन ग्रंथों में है उनमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं कि तीर्थंकरों के शरीर पर वस्त्र भी होता था। किसी भी प्राचीन जैन ग्रंथ में महापुरुषों के लक्षणों का निर्देश नहीं है जबकि बौद्ध संकर संस्कृत ग्रंथों तथा अन्य बौद्ध ग्रंथों में उनका निर्देश सामान्य रूप से हुआ है। तथापि, औपपातिक-सूत्र नामक एक उपांग आगम ग्रंथ में जो महावीर के शरीर का समूचा वर्णन (वर्णक) आया है और जो अन्य सभी आगमों में उसी रूप में मिलता है उसमें महावीर के शरीर की एक अत्यंत उल्लेखनीय विशेषता ऐसी भी बतायी गयी है जो प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में वर्णित महापुरुष-लक्षणों से मिलती-जुलती है और कहीं-कहीं तो उनकी शब्दावली भी एक-सी है।[1]

महावीर के शरीर का औपपातिक-सूत्र में जो वर्णन आया है[2] उसके अनुसार महावीर के शरीर की ऊँचाई सात हाथ थी, उनके शरीर का संहनन वज्र के समान सुदृढ़ था, उनकी श्वास कमल की भाँति सुगंधित थी और उनका रूप सुदर्शन था। शरीर स्वेद तथा ऐसे ही अन्य दोषों से मुक्त था। उनके मस्तक का अग्रभाग सुदृढ़ था और कूटाकार[3] अर्थात् पर्वत-शिखर की भाँति उन्नत था और मस्तक पर गहरे काले और सघन केश ऐसे घुंघराले थे मानों काढ़ दिये गये हों (प्रदक्षिणावर्त)। दाडिम-पुष्पों के गुच्छ के आकार का भगवान् का कपाल स्वर्ण की भाँति निर्मल और कांतिमान् था; उनका मस्तक छत्राकार था; उनका समानुपात ललाट चंद्रमा की भाँति निष्कलंक और प्रभामय था; पूर्ण चंद्र-सा चमत्कृत मुख-मण्डल सदा प्रसन्न, आनुपातिक और उत्कृष्ट था, कपोल हृष्ट-पुष्ट थे। उनके नेत्र-रोम बारीक, गहरे काले और चिकने थे और उत्तान धनुष की भाँति दिखते थे; उनके नेत्र पूर्ण विकसित श्वेत कमल की भाँति थे जिनके रोम भी श्वेत वर्ण के थे; उनकी नासिका लंबी, पतली और गरुड़ की नासिका-सी उन्नत थी; उनका अधरोष्ठ प्रवाल या चेरी या बिंब-फल की भाँति मोहक और रक्ताभ था; चंद्रमा, शख, दुग्ध आदि की भाँति धवल उनकी दंतावलि परिपूर्ण, अखण्डित, एकरूप और समतल थी; उनका तालु और जिह्वा तप्त स्वर्ण के समान उज्ज्वल थी; संभाली हुई उनकी दाढ़ी-मूंछें उनकी अवस्था के अनुसार बढ़ी हुई थीं, उनकी दाढ़ी सिंह की-सी सुगठित और सुविकसित थी। चार अगुल लंबी उनकी ग्रीवा शंख के समान (कम्बु-ग्रीवा) थी। उनके कंधे वृषभ, सिंह, शूकर या गज के कंधे की भाँति विशाल और प्रतिपूर्ण थे; उनकी गोल, सुगठित और मांसल भुजाओं के जोड़ सुदृढ़ थे और वे नगर-द्वार की अर्गला की भाँति लंबी थीं; उनके लंबे और सबल हाथ उन्नत-फण भुजग-से दिखते थे; उनके कोमल मांसल और रक्ताभ करतलों पर मंगल-चिह्न

---

1 जैन और बौद्ध वर्णनों के विश्लेषण मे लिखा गया एक लेख इस लेखक ने इण्टरनेशनल कांग्रेस ऑफ़ ओरियण्टलिस्ट्स के नई दिल्ली में 1964 मे हुए अधिवेशन में पढ़ा था और उसे वोगल कम्मेमोरेशन वॉल्यूम में प्रकाशनार्थ भेजा था जो दुर्भाग्य से अबतक प्रकाशित नहीं हो पाया है, इसलिए यहाँ औपपातिक-सूत्र का वर्णन ही उन्मुक्त अनुवाद के रूप में दिया जा रहा है क्योंकि यहाँ उसकी उपयोगिता स्पष्ट है.

2 औपपातिक-सूत्र, सूत्र 10, और अभयदेव की टीका, पृ 26-42.

3 ऐसा तो नहीं कि उष्णीष का प्रचलन इसी से हुआ हो ?

विद्यमान थे और अँगुलियाँ परस्पर संपृक्त (अच्छिद्र-जाल-पाणि) थीं। यह एक ऐसा लक्षण है जो गुप्त-कालीन बुद्ध-मूर्तियों में मिलता है पर कुषाणकाल की एक भी मूर्ति में नहीं मिलता; अँगुलियाँ पुष्ट भी थीं और कोमल भी और रक्तिम नख ताँबे की भाँति कांतिमान् थे। उनके करतलों पर चंद्र, सूर्य, शंख, चक्र, स्वस्तिक आदि के चिह्न विद्यमान थे। उनके स्वर्ण-पटल की भाँति चमकते हुए सुगठित और सुस्पर्श वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न विद्यमान था; उनकी सुदृढ़ पीठ की अस्थियाँ मांस-पेशियों से अदृश्य थीं। स्वर्ण-दण्ड-सा देदीप्यमान उनका शरीर सौम्य और पुष्ट था।

उनकी बगलें सुबद्ध, सुंदर और समरूप थीं; उनके शरीर के रोम निर्मल, कोमल, सरल, सरस, सुस्पर्श और मोहक थे। उनका उदर मत्स्य या पक्षी के उदर की भाँति सबल और पीन था और उनकी कोख मत्स्य की कोख के समान थी; उनके शरीर के सभी अवयव निर्मल और निर्दोष थे; नव-विकसित कमल-के-से आकार की उनकी गहरी नाभि गंगा की तरंग की भाँति भीतर-ही-भीतर प्रदक्षिणावर्त थी। ऊपर-नीचे स्थूल और मध्य में कृश उनका धड़ या शरीर का मध्य भाग तिपाई या मूसल या दर्पण या वज्र की भाँति था; उनके नितंब ऐसे थे जैसे उत्कृष्ट कोटि के अश्व या सिंह के होते हैं, अश्व के गुप्तांगों के समान उनके भी गुप्तांग निर्दोष और सुगठित थे। सर्वोत्तम गज की चाल के समान उनकी चाल थी। उनकी जंघाएँ गज की सूंढ़ जैसी थीं; उनकी गुल्फ-संधियाँ अदृश्य थीं मानो ढक्कनदार पेटी में छिपी हों; उनकी पिण्डलियाँ मृग की पिण्डलियों के समान थीं, उनके सुगठित घुटने मांस-पेशियों में लुप्तप्राय थे, कच्छप के चरणों की भाँति उनके सुरम्य और सुगठित चरणों में अँगुलियाँ संपृक्त थीं और उनके नख ताम्र-वर्ण थे। कमल-दल की भाँति उनके सुकोमल और रक्तिम पदतलों पर पर्वत, नगर, कच्छप, समुद्र, चक्र आदि के चिह्न विद्यमान थे। प्रदीप्त अग्नि या प्रकाश-पुंज या उदीयमान सूर्य की भाँति तेजस्वी महावीर में वे एक हजार आठ लक्षण विद्यमान थे जो किसी भी महामानव में होना चाहिए।

तीर्थंकर या बुद्ध की सभी मूर्तियाँ महापुरुष-लक्षणों की मूल अवधारणा पर आधारित हैं। परोक्ष रूप से प्रतीत होता है कि जैन अवधारणा में उष्णीष तो था पर ऊर्णा नहीं। अबतक ज्ञात या प्रकाशित तीर्थंकर-मूर्तियों में आधा दर्जन ही अधिक-से-अधिक ऐसी होंगी जिनमें ऊर्णा का अंकन है। उष्णीष का अंकन प्रायः सभी मूर्तियों में निरंतर हुआ, परंतु मथुरा और अन्य स्थानों में ऐसी मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनमें वह नहीं है। ललाट पर गोल तिलक का अंकन बहुत कम हुआ; इसका एक उदाहरण मथुरा में मिला है (प्रथम खण्ड में पृ० ११४ रेखाचित्र ६ में वाराणसी से प्राप्त मूर्ति—संपादक)।

यह जैन विवरण स्थिरमति के ग्रंथ रत्न-गोत्र-विभाग में आयी बुद्ध-मूर्ति की अवधारणा के अत्यंत अनुरूप है।[1] तीर्थंकर के शरीर का एक आदर्श किन्तु संक्षिप्त विवरण वसुदेव-हिण्डी में भी है जो गुप्त काल का ही ग्रंथ है।

---

1 जर्नल ऑफ़ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, 36, पृ 1-119 और अध्याय 3, श्लोक 17-25. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'थर्टी-टू मार्क्स ऑफ़ बुद्ध-बॉडी', जर्नल ऑफ़ दि ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1. अंक 1. पृ 20-22.

जैन परंपराओं के अनुसार तीर्थंकर की कुछ असाधारण विशेषताएँ (अतिशय) होती हैं ।[1] परंतु समवायांगसूत्र आदि प्राचीन ग्रंथों में वर्णित अतिशयों की नामावलि से अष्ट-महाप्रातिहार्यों को पृथक् नहीं रखा गया है जो तीर्थंकर-मूर्ति के परिकर के रूप में सर्वत्र अंकित किये जाते हैं । महा-प्रातिहार्यों के रूप में अंकित आठ अतिशयों का प्रचलन तब आरंभ हुआ जब दोनों आम्नायों की मूर्तियों में एक सर्वांग-पूर्ण परिकर की अनिवार्यता मान ली गयी । यह प्रक्रिया क्रमिक थी, इसकी पुष्टि तब होती है जब कुषाण और गुप्त कालों की मूर्तियों की तुलना उत्तर-गुप्त और मध्य कालों की मूर्तियों से की जाती है ।

मूर्तिशास्त्र तथा अवशिष्ट कलाकृतियों से सिद्ध होता है कि जैन धर्म में देव-देवियों की मान्यता गुप्त काल के अनंतर अतितीव्र गति से विकसित हुई । तांत्रिक प्रभाव बौद्ध और हिन्दू धर्मों पर मध्य काल के आरंभ से ही पड रहा था । इस प्रवाह से जैन धर्म बच न सका जिसके फलस्वरूप इंद्रनंदी ने ज्वालामालिनीकल्प, मल्लिषेण ने भैरवपद्मावतीकल्प और शुभचंद्र ने अंबिकाकल्प नामक ग्रंथ लिखे । जैन विधि-विधानों पर हिन्दू कर्मकाण्ड का दुर्दम प्रभाव पडा जिसका प्रमाण है आशाधर (दिगंबर) का प्रतिष्ठासारोद्धार, पादलिप्त की निर्वाणकलिका और वर्धमान-सूरि (श्वेतांबर) का आचार-दिनकर । जैनेतर तत्त्वो से आपूर्ण तांत्रिक प्रभाव इतना व्यापक हुआ कि वह मतिसागर के ग्रंथ विद्यानुशासन (लगभग सोलहवीं शताब्दी) में प्रकट हुआ जो अब भी अप्रकाशित है । इन ग्रंथों और दोनों आम्नायों के अनेक प्रतिष्ठा-ग्रंथों में जैन मूर्तिशास्त्र की अपार सामग्री विद्यमान है ।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड, तमिल आदि के जैन पुराण जैन मूर्तिशास्त्र के अध्ययन के समृद्ध स्रोत हैं । स्तोत्र-ग्रंथों और साथ-साथ आख्यान-ग्रंथों में भी इस विषय की सामग्री विद्यमान है । आरंभिक ग्रंथ मानसार के अतिरिक्त अपराजितपृच्छा, देवतामूर्तिप्रकरण, रूपमण्डन, ठक्कुर फेरु का वास्तुसार आदि शिल्पग्रंथ भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें जैन मूर्तिशास्त्र के अध्ययन की सामग्री विद्यमान है ।

प्रतीक

जैन दर्शन में सृष्टिकर्ता ईश्वर का कोई विधान नहीं और मोक्ष-प्राप्ति के लिए सिद्धांत की दृष्टि से तो मूर्ति-पूजा तक नितांत अनावश्यक है । वास्तव में भाव-पूजा (मनोयोग) ही सार्थक है, न कि द्रव्य-पूजा (भौतिक-उपासना, मूर्ति-पूजा), जैसाकि कुंदकुंदाचार्य ने लिखा है । जैन दर्शन में, इसीलिए, पूजा का तात्पर्य किसी दिव्य पुरुष अथवा देव या देवी की नहीं बल्कि ऐसे मनुष्य की पूजा से है जो सब प्रकार के बंध से मुक्त होकर कृतकृत्य हो चुका हो । इसका तात्पर्य उस व्यक्ति-पूजा से

---

1 द्रष्टव्य : चम्पतराय जैन, **आउटलाइन ऑफ जैनिज्म**, पृ 129-30. /पुष्पदंत का **महापुराण**, 1, 18, 7-10, **समवायांग-सूत्र**, सूत्र 34, पृ 59-60. /**अभिधानचिन्तामणि**, हेमचंद्रकृत, 1, 57-64, **तिलोयपण्णत्ती**, 4, पृ 896 तथा परवर्ती, 915 तथा परवर्ती.

भी नहीं जो सामान्य अर्थ में प्रचलित है वरन् किसी भी कृतकृत्य मनुष्य अर्थात् मुक्त आत्मा की उस गुण-राशि की पूजा से है जिसका, तीर्थंकर-मूर्ति की पूजा के रूप में, कोई पूजक अनुस्मरण करता है, स्तवन करता है और अपने-आप में जिसकी अभिव्यक्ति करता है। अतः एक मूर्ति किसी तीर्थंकर या महापुरुष की अपेक्षा उक्त गुण-राशि की प्रतीक अधिक सिद्ध होती है। मुक्त आत्माएँ अर्थात् सिद्ध अर्थात् तीर्थंकर (वे सिद्ध जो श्रावकों, श्राविकाओं, साधुओं और साध्वियों के संघ के रूप में जैन तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं) ऐसी आत्माएँ हैं जो राग और द्वेष से मुक्त हो चुकी हैं, इसीलिए अपनी मूर्तियों के पूजकों पर वे न प्रसन्न होते हैं और न अप्रसन्न। ऐसी मूर्ति की पूजा के द्वारा भक्त 'जिन' की विशेषताओं या गुणों का स्मरण करता है और उन्हें स्वयं अपने जीवन-प्राण में अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है।

इस कारण से स्पष्ट है कि मूर्ति-पूजा का सूत्रपात और स्वीकृति जैन धर्म में केवल इसलिए हुई क्योंकि जन-साधारण या श्रावक-वर्ग उसके बिना रह नहीं सकता था और कदाचित् वह किसी-न-किसी प्रकार की मूर्ति-पूजा का अभ्यस्त रहा था। यक्षों, नागों, भूतों, मुकुंद, इंद्र, स्कंद, वासुदेव, वृक्षों, नदियों आदि की पूजा के उल्लेख जैन आगमों में प्रायः मिलते हैं। इन देव-देवियों की स्तुति वर की आशा से, संतान-प्राप्ति के लिए तथा ऐसी ही किसी अपेक्षा से की जाती थी। इसीलिए, स्वभावतः जैन धर्म में इस प्रकार की पूजा का समावेश तब हुआ जब उसमें आत्मिक साधना और आम्नाय-भेदों के विकास-क्रम के अनुसार तीर्थंकरों, सिद्धों और साधुओं की पूजा का सूत्रपात हुआ। जैनेतर प्रकृति और आम्नाय के तत्त्वों की पूजा को स्थानापन्न करने और उनके निराकरण या परिहार के प्रयास में भी कदाचित् यह सूत्रपात हुआ। यह अत्यंत स्वाभाविक था कि आरंभ में अर्हंतों (तीर्थंकरों), सिद्धों आचार्यों (किसी विशेष गण या गच्छ या कुल के साधुओं, साध्वियों और उनके अनुयायियों के प्रमुख), उपाध्यायों (वे साधु जो शास्त्रों का अध्ययन और व्याख्यान करते हैं) और साधुओं की ही मूर्तियों की पूजा का सूत्रपात हुआ और वह अनुमत हुई। इन्हें पाँच लोकोत्तम या पंच-परमेष्ठी कहा जाता है।

सर्वोत्कृष्ट और पूज्योत्तम स्तुति और मंत्र के रूप में प्रचलित जैन नवकार-मंत्र या नमस्कार-मंत्र में इन्हीं पाँच लोकोत्तमों, अर्हंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को, पृथक्-पृथक् सूत्रों में, नमस्कार किया गया है।

एक कमल-प्रतीक पर उसकी चार पँखुड़ियों पर (प्रत्येक दिशा में एक) चार की और मध्य में अर्हंत अर्थात् तीर्थंकर की प्रस्तुति की गयी। यद्यपि इस प्रकार की प्रस्तुति किसी प्राचीन कलाकृति पर दृष्टिगत नहीं होती तथापि प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में आरंभ से ही इन पाँचों लोकोत्तमों को जैन धर्म में पूजा का सर्वोत्कृष्ट पात्र माना गया।

कुछ समय पश्चात्, ऐसे कमल-प्रतीक पर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाओं की पंखुड़ियों के मध्य एक-एक पंखुड़ी और बनायी जाने लगी जिनपर चार अन्य द्रव्यों की प्रस्तुति की गयी।

ये चार द्रव्य श्वेतांबर आम्नाय के अनुसार सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र्य और सम्यक् तप हैं और दिगंबर आम्नाय के अनुसार चैत्य (जिन-मूर्ति), चैत्यालय (जिन-मूर्ति सहित मंदिर), श्रुत (शास्त्र) और धर्म-चक्र हैं। एक रेखाकृति के रूप में इनकी प्रस्तुति पाषाण या धातु के माध्यम से की गयी या उन्हें वस्त्र या कागज पर चित्रांकित किया गया। ऐसी श्वेतांबर रेखाकृति सिद्धचक्र (चित्र ३०७, पाषाण पर, नाडौल में प्राप्त; चित्र ३०६ क, कांस्य-निर्मित, बड़ौदा-संग्रहालय में) कहलाती है और दिगंबर रेखाकृति नवदेवता (चित्र ३०६ ख, कांस्य-निर्मित, तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् में प्राप्त[1])। इस रेखाकृति के चित्रांकन में पाँचों परमेष्ठी पृथक्-पृथक् रंगों में अंकित किये जाते हैं। अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु क्रमशः श्वेत, लाल, पीले, नीले और काले रंगों में अंकित होते हैं।[2]

श्वेतांबर नव-पद में शेष चार द्रव्यों का रंग, नव-पद-आराधना-विधि[3] नामक ग्रंथ के अनुसार, ध्यान के रंग के अनुरूप श्वेत होता है। पंच-परमेष्ठियों की एक दिगंबर रेखाकृति एक दक्षिण भारतीय कांस्य-फलक पर अंकित है जो समंतभद्र विद्यालय, दिल्ली के संग्रह में विद्यमान है (चित्र ३०८)। दिगंबर तंत्र में लघु-सिद्धचक्र और बृहत्-सिद्धचक्र[4] नामक दो रेखाकृतियाँ और भी हैं जो दिगंबर नव-देवता और श्वेतांबर सिद्धचक्र से बहुत भिन्न हैं।

हेमचंद्र ने लिखा है कि सिद्धचक्र की रेखाकृति के रूप में प्रस्तुति का विधान वज्रस्वामी ने विद्यानुप्रवाद-पूर्व नामक अंतिम आगम के आधार पर ईसा की आरंभिक शताब्दियों में किसी समय किया था।[5] अपने ग्रंथ शब्दानुशासन पर स्वोपज्ञ टीका बृहन्न्यास में हेमचंद्र ने सिद्धचक्र को एक समय-प्रसिद्ध (परंपरा से प्रचलित) रेखाकृति बताया। सिद्धचक्र की रेखाकृति की पूजा का इससे प्राचीनतर उल्लेख एक भी उपलब्ध नहीं है किंतु इंद्रनंदी की मानी जाने वाली (लगभग दसवीं शताब्दी) जिन-संहिता[6] के नित्य-संध्या क्रिया-विधि नामक विभाग में नव-देवताओं की स्तुति की गयी है। प्रतीत होता है कि आरंभिक काल से पंच-परमेष्ठियों की पूजा और स्तुति होती रही।

---

1 रामचंद्रन्, पूर्वोक्त, चित्र 36, 2.

2 और विस्तार के लिए द्रष्टव्य : शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 97-103.

3 **सिरि-सिरिवालकहा**, श्लोक 1185-91 के अनुसार भी.

4 **प्रतिष्ठा-सारोद्धार**, अध्याय 6. /**सिद्धप्रतिष्ठाविधि**, श्लोक 10-14. /एक संधि की **जिन-संहिता** (पाण्डुलिपि), अध्याय 9, श्लोक 88 तथा परवर्ती, /वादि-कुमुदचंद्र के **प्रतिष्ठाकल्पटिप्पणम्** (पाण्डुलिपि) का यंत्र-मंत्र-विधि नामक विभाग.

5 **योगशास्त्र**, 8, 74-75.

6 इस ग्रंथ की खण्डित पाण्डुलिपियाँ दिगंबर जैन शास्त्र-भण्डारों में विद्यमान हैं.
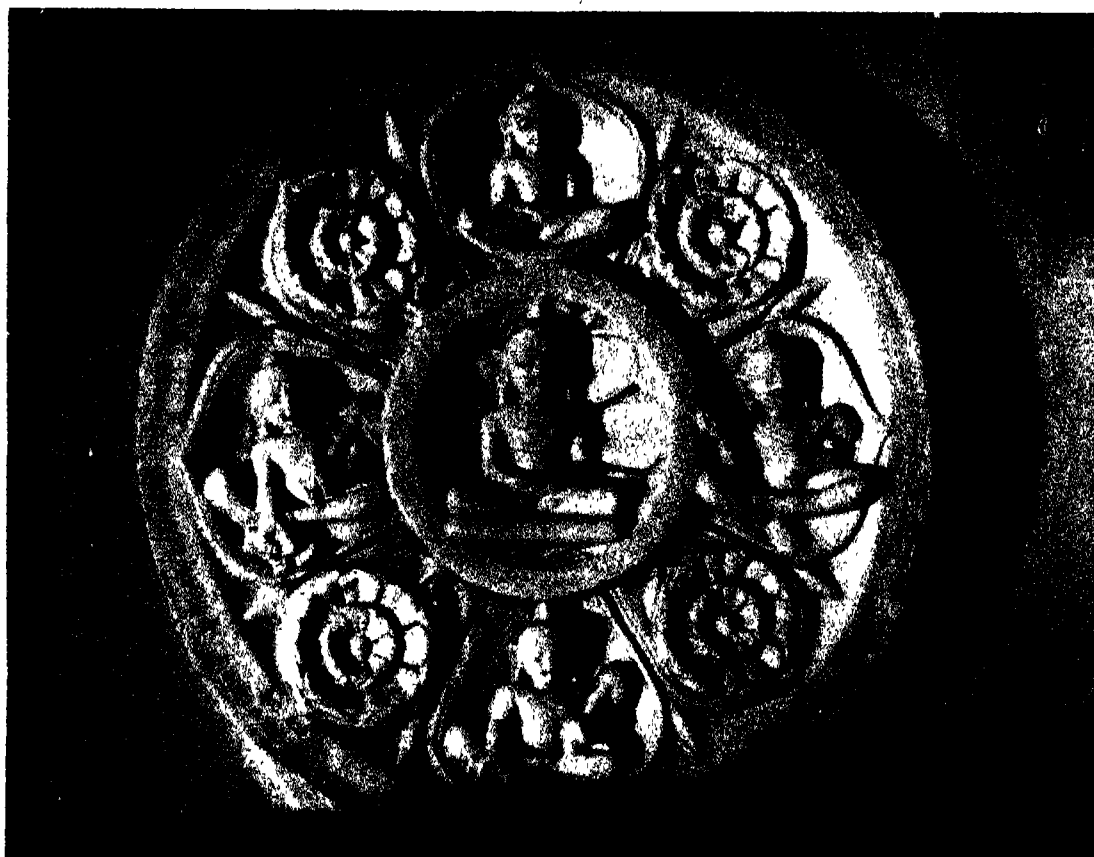
नाडोल : श्वेतांबर मंदिर में संगमरमर की पंच-परमेष्ठियों की मूर्ति

चित्र 307

दक्षिण भारत पंच-परमेष्ठियों की कांस्य-निर्मित दिगंबर मूर्ति (समंतभद्र विद्यालय, दिल्ली)

चित्र 308
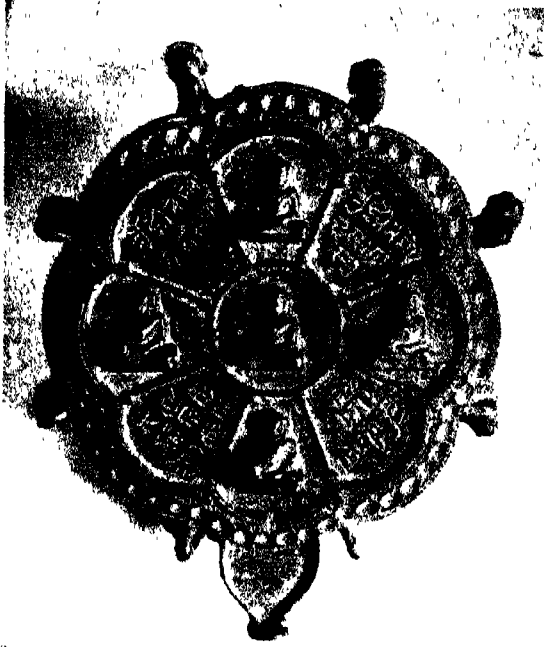
(क) बड़ौदा संग्रहालय : सिद्धचक्र, श्वेतांबर

(ख) तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् : त्रैलोक्यनाथ-मंदिर में नव-देवताओं की कांस्य-निर्मित मूर्ति

चित्र 309
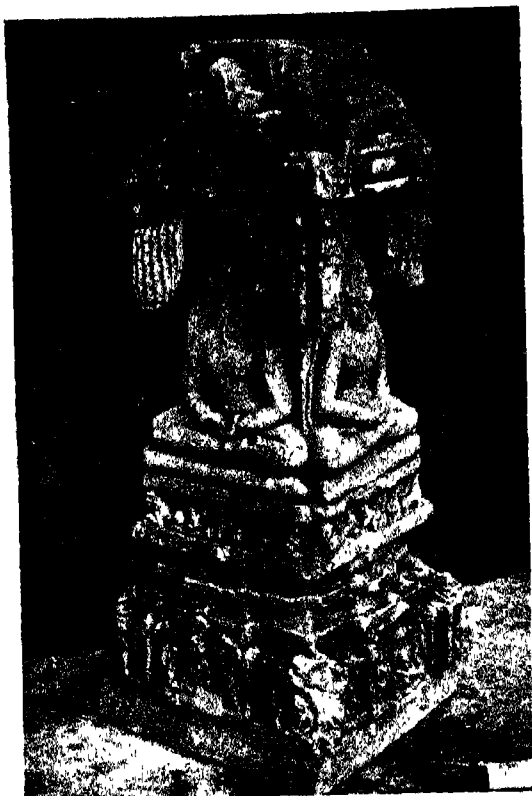
(क) ग्वालियर किला एक चौमुख
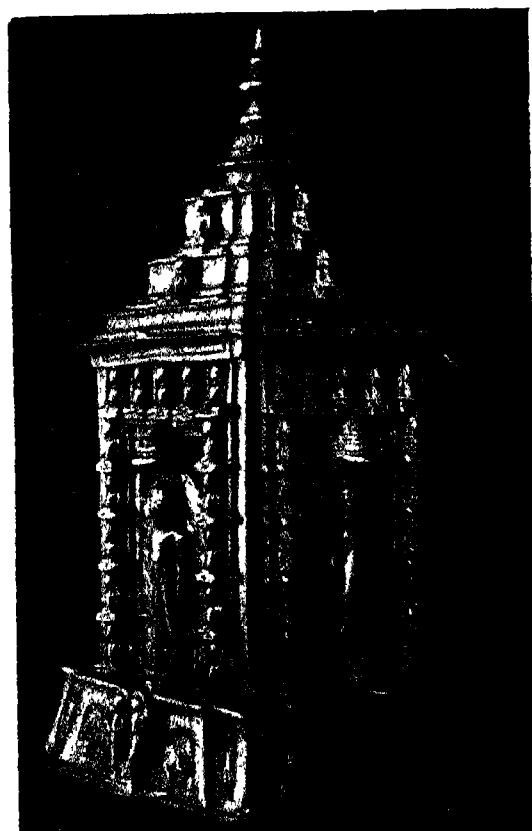
(ख) सूरत : दिगंबर मंदिर में बहत्तर तीर्थंकर-मूर्तियों में अंकित एक चौमुख

चित्र 310
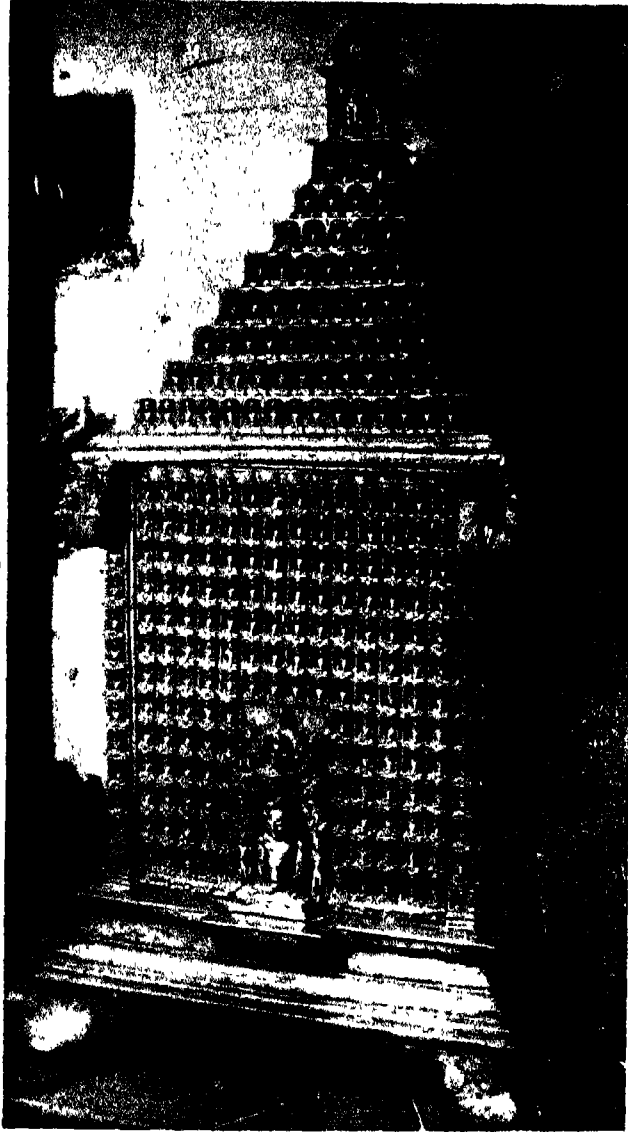
(क) कारंजा : बलात्कार-गण दिगंबर जैन मंदिर में कांस्य-निर्मित सहस्रकूट
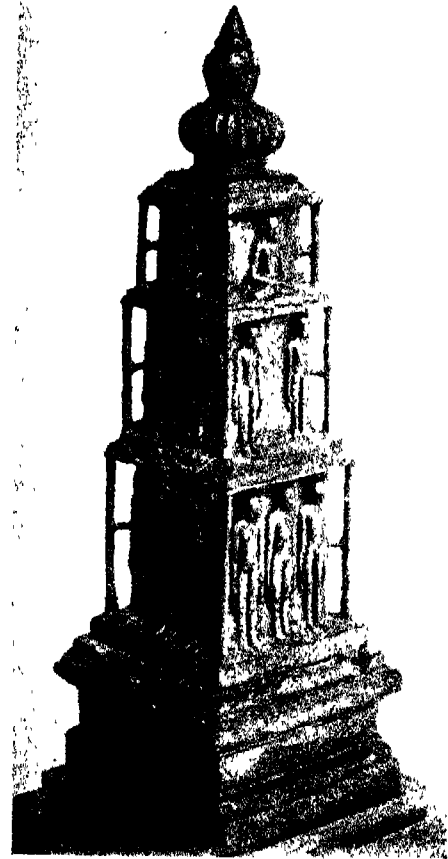
(ख) भारतीय संग्रहालय : चौबीस तीर्थंकर-मूर्तियों से अंकित कांस्य-मूर्ति

चित्र 311

(क) दक्षिण भारत : चैत्य-वृक्ष के नीचे तीर्थंकर (समतभद्र विद्यालय, दिल्ली)

(ख) बड़ौदा : श्वेतांबर मंदिर में पीतल की पट्टी पर अष्ट-मंगल

चित्र 312
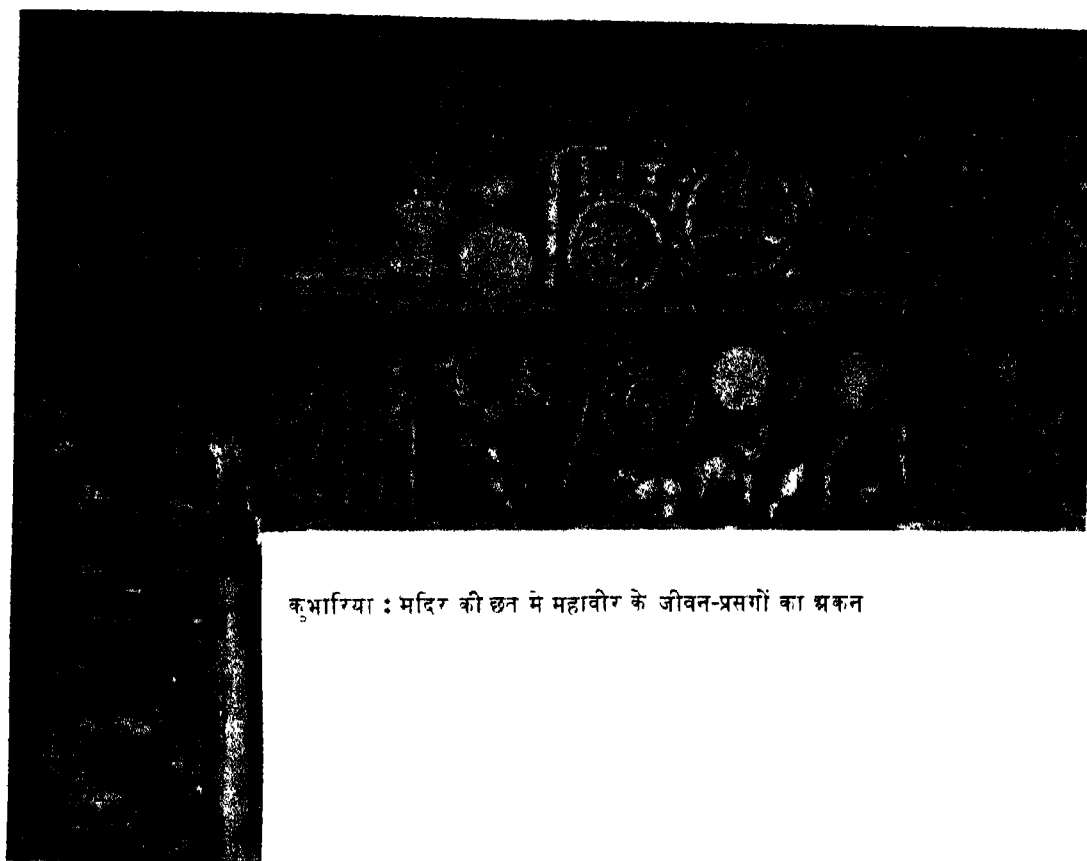
कुभारिया : मदिर की छत मे महावीर के जीवन-प्रसगों का अकन

चित्र 313

मूडबिद्री . कांस्य-निर्मित श्रुत-स्कंध-यंत्र

चित्र 314
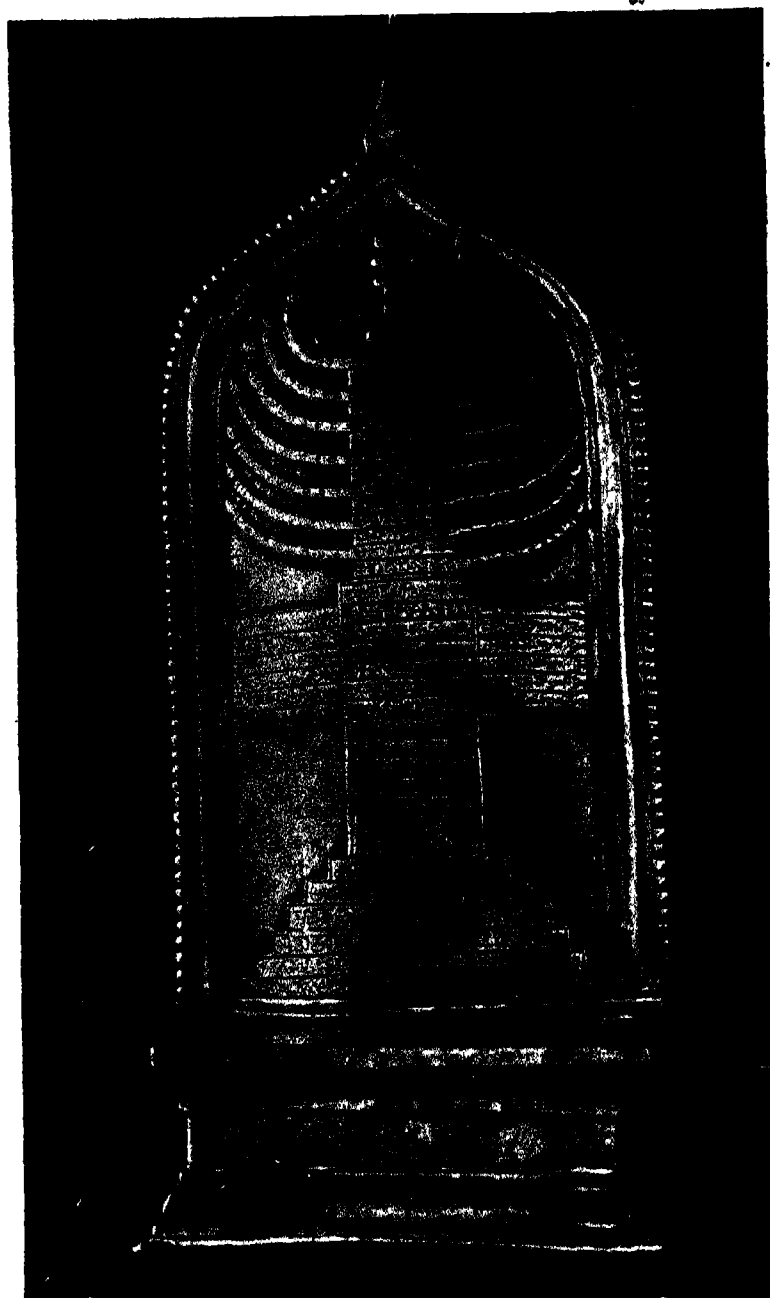
कंकाली-टीला के उत्खननों से प्राप्त कुषाणकालीन पुरावशेषों में सिद्धचक्र या नव-देवता की ऐसी कोई रेखाकृति नहीं है जिसमें पाँचों परमेष्ठियों की एक साथ प्रस्तुति हो, यद्यपि उनमें से तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय और साधु की पृथक्-पृथक् प्रस्तुतियाँ दृष्टिगत होती हैं। सिद्ध की पृथक् प्रस्तुति के विषय में इस निर्णय पर पहुँचना कठिन है कि जिन मूर्तियों पर किसी तीर्थंकर का चिह्न न हो उन्हें सिद्धों की मूर्तियाँ माना जाता था या नहीं। सिद्ध अशरीरी, अर्थात् मानव-शरीररूपी बंधन से भी मुक्त होते हैं, इसीलिए आरंभिक काल में उनकी मूर्ति की पूजा कदाचित् नहीं की गयी। अवश्य ही, दिगंबर मंदिरों में विद्यमान बहुत बाद की कांस्य-मूर्तियों में सिद्ध की प्रस्तुति धातु-फलक पर कटे स्टेंसिल के रूप में मिलती है, और सिद्धचक्र तथा नव-देवता की रेखाकृतियों की पाषाणों पर और चित्रांकनों में हुई मध्यकालीन प्रस्तुतियों में तो सिद्ध की भी प्रस्तुति हुई ही है।

परंतु मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन अवशेषों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि विकास के आरंभिकतम चरणों में चैत्य-स्तूप, चैत्य-वृक्ष और आयाग-पटों की पूजा की जाती थी। वृक्ष-पूजा न केवल भारत में प्रत्युत अन्य देशों में भी अतिप्राचीन काल में होती थी। क्रिस्मस-वृक्ष इसका एक उदाहरण है। अनेक मुद्राओं और ठप्पों पर विद्यमान प्रस्तुतियों से प्रमाणित है कि सिंधु-सभ्यता में भी वृक्ष-पूजा प्रचलित थी। चन्हू-दड़ो से प्राप्त एक मुद्रा पर पिप्पल वृक्ष की प्रस्तुति है।[1] हड़प्पा से प्राप्त कुछ ठप्पों पर वृक्षों को एक दीवार या वेदिका से घिरा हुआ प्रस्तुत किया गया है। 'अभी यह अनिश्चित है कि वृक्ष-पूजा का संबंध वृक्षों के प्राकृतिक रूप से था या उनकी अधिष्ठाता आत्माओं से[2]।' तैत्तिरीय ब्राह्मण (१,१,३) में सात पवित्र वृक्षों का उल्लेख है। ऋग्वेद के आप्री-सूक्तों में वनस्पतियों की स्तुति की गयी है।[3] ओषधियों को 'माताएँ' और 'देवियाँ' कहा गया है और उनकी स्तुति मुख्यतः जल और पर्वतों के साथ की गयी है।[4] चैत्य-वृक्षों का उल्लेख अथर्ववेद-परिशिष्ट, ७१ में मिलता है, उसमें बड़े वृक्षों को देवता कहा गया है; उनका संबंध मानव की जननी-शक्ति से जोड़ा गया है और उनपर रहने वाली अप्सराओं से अनुरोध किया गया है कि वे वहाँ से गुजरने वाली वरयात्राओं का मंगल करें।[5] आत्माओं या प्रेतों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे वृक्षों पर रहें

---

1 जॉन मार्शल. **मोहन-जो-दड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलाइजेशन**. 1931, 1. लंदन. पृ 312./ मजूमदार. (एन जी) **एक्सप्लोरेशंस इन सिंध**, मेमॉयर्स ऑफ़ दि आर्क्यॉलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, अंक 41, 1934, दिल्ली. चित्र 17.

2 **द वैदिक एज**, संपादक : रमेशचंद्र मजूमदार और पुसालकर, (ए डी) 1951, लंदन, पृ 188.

3 मेक्डॉनल (ए ए). **वैदिक माइथॉलॉजी**. 1897. स्ट्रासबर्ग. पृ 154.

4 वही, **ऋग्वेद-संहिता**, 10, 97, 4 जिसमें वैसा ही लिखा है जैसा **यजुर्वेद-संहिता**, 12,78 में और **तैत्तिरीय-संहिता** 4, 2, 6, 1 में।

5 आनंदकुमार कुमारस्वामी. **हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट**. 1927. लंदन. पृ 41.

ग्रौर उनपर बसेरा करें; उन्हें देवों की भाँति सम्मान दिया जाता था।[1] इन वृक्षवासी प्रेतों को पूजा अर्पित की जाती ग्रौर उन्हें प्रसन्न करने के लिए वृक्ष की डालियों पर मालाएँ चढ़ायी जातीं, उसके चारों ग्रोर दीप जलाये जाते ग्रौर उसके नीचे बलि दी जाती।[2] मनु ग्रौर याज्ञवल्क्य का स्नातकों के लिए विधान है कि वे मार्ग में मिलने वाले पवित्र वृक्षों (ग्रश्वत्थ ग्रादि) की प्रदक्षिणा किया करें।

महाभारत में ऐसे वृक्षों को काटने तक का निषेध किया गया है जिन्हें चैत्य माना जाता हो। काणे के अनुसार चैत्य 'ग्रश्वत्थ ग्रादि ऐसे वृक्ष हैं जिनके चारों ग्रोर एक चबूतरा (चैत्य)[3] बना हो'।[4] पत्थर से बना ऐसा चबूतरा या बैठका ग्रर्थात् पीठ यक्ष का रैनबसेरा (भवन) माना जाता, जैसा कि कुमारस्वामी ने लिखा है; वे यह भी लिखते हैं : 'बौद्ध ग्रौर जैन साहित्य में उल्लिखित ग्रधिकतर यक्ष-चेतिय पवित्र वृक्ष रहे होंगे।'[5] संघदास गणी की वसुदेव-हिण्डी (लगभग पाँचवीं शताब्दी) में लिखा है कि मगध जनपद के सालिग्गाम में एक मनोरमा नामक उद्यान था। उसमें जक्ख सुमनो था जिसका पत्थर का बैठका या चबूतरा (सिला-शिला) ग्रशोक-वृक्ष के नीचे था, शिला का नाम सुमना था। उसपर लोग उस यक्ष की पूजा करते थे।[6] सत्य नाम के किसी व्यक्ति ने इस यक्ष को प्रसन्न करने के लिए सुमना शिला पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में ध्यान लगाकर खड़े-खड़े रात बितायी। प्रतीत होता है कि शिला शब्द का प्रयोग यहाँ उस शिला या शिल्पखण्ड के लिए हुग्रा जो ग्रशोक-वृक्ष (चैत्य वृक्ष के रूप में ग्रादृत) के नीचे चबूतरे (सिला-पएस) पर स्थापित था ग्रौर जिसपर ध्यानमग्न सत्य खड़ा हो सका था।

इस प्रकार, पहले जिनके चारों ग्रोर एक लघु वेदिका (वैसी ही जैसी सिंधुघाटी की मुद्राग्रों ग्रौर मथुरा के ग्रायाग-पटों पर है)[7] ही बनी होती थी उन चैत्य वृक्षों के नीचे ग्रब, बुद्ध ग्रौर महावीर के समय तक, कदाचित् उससे भी कुछ पूर्व, उनके चारों ग्रोर पाषाण से (या ईंटों से) एक

---

1 छांदोग्य-उपनिषद्, 6, 11; /जातक, 4, पृ 154.

2 जातक 5, पृ 472, 474, 488; 4, 210, पृ 353; 3, पृ 23; 4, 153. साथ ही मनुस्मृति, 3, 88./ बृहद्-गौतम, जीवानंद विद्यासागर के संग्रह में, भाग 2, पृ 625.

3 चित्य ग्रौर चैत्य शब्दों के ग्रर्थ के उद्भव ग्रौर विकास के लिए ग्रौर जैन ग्रागम साहित्य में उल्लिखित तीन प्रकार के चैत्यों के लिए देखिए शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 43-45.

4 पाण्डुरंग वामन (काणे), हिस्ट्री ग्रॉफ़ धर्मशास्त्र, 2, 2, पृ 895.

5 कुमारस्वामी, पूर्वोक्त, पृ 7, टिप्पणी 4 ग्रौर 47.

6 वसुदेव-हिण्डी, पृ 85 ग्रौर 88.

7 स्मिथ, (वी ए). द जैन स्तूप एण्ड ग्रदर एण्टिक्विटीज ग्रॉफ़ मथुरा, ग्रार्क्यॉलॉजिकल सर्वे ग्रॉफ इण्डिया, न्यू इंपीरियल सीरिज, 20, 1901, इलाहाबाद, चित्र 9, पृ 16. इस शिला पर उत्कीर्ण ग्रभिलेख ग्रत्यंत छिन्न-भिन्न हो गया है, एपिग्राफिया इण्डिका, 2, चित्र 1 ख पृ 311-13.

चबूतरा बनाया जाने लगा और उसपर शिलापट स्थापित किया जाने लगा। ये शिलापट सभी वृक्षों के नीचे नहीं वरन् केवल उनके नीचे स्थापित किये जाते थे जिनकी प्रेतों के बसेरों के रूप में पूजा की जाती थी। कुछ चैत्य वृक्षों के नीचे कदाचित् चबूतरा तो होता पर शिलापट स्थापित न होता, और कुछ चैत्य वृक्ष वैसे ही केवल वेदिका के साथ रहे आये। परंतु भरहुत के शिल्पांकनों में शिला-पटों को चैत्य वृक्ष के पास आसनों (स्टूलों) पर स्थापित करके उनकी पूजा करते हुए भक्त दिखाये गये हैं।[1]

विकास के एक ऐसे चरण का अनुमान किया जा सकता है जब शिलापट के ऊपरी तल पर ही पूज्य वस्तु का उद्भृत उत्कीर्ण कर लिया जाता और उसपर नैवेद्य अर्पित किया जाता। मथुरा के कुछ आयाग-पटों पर मध्य में तीर्थंकर के उद्भृत उत्कीर्ण किये गये। आयाग-पट शब्द से प्रकट है कि उनपर या उनके पास नैवेद्य अर्पित किया जाता था।

जैन आगमों में एक चैत्य (जक्खायथण— टीकाकारों के अनुसार यक्ष-चैत्य) का असंक्षिप्त वर्णन (वर्णक) औपपातिक सूत्र के सूत्र २-५ में पूर्णभद्र चैत्य के वर्णन के रूप में किया गया है। वर्णन यह है कि चंपानगरी के उत्तर-पूर्व में स्थित आम्रशाल वन में पूर्णभद्र चैत्य इतने समय से विद्यमान रहा (चिरातीत) कि लोग उसे प्राचीन (पोराण) कहने लगे, वह प्रसिद्ध तो था ही। उसके चारों ओर एक विशाल वन-खण्ड था जिसके मध्य में स्थित उत्तुंग अशोक-वृक्ष के नीचे एक सिंहासन पर एक पृथ्वी-शिला-पट्ट था जो वृक्ष की ओर थोड़ा-सा झुका हुआ था। वह अंजन की भाँति काला, नीलोत्पल की भाँति गहरा नीला, दर्पण-तल (अयंसय-तलोवमे) के समान चमकता हुआ (प्रतिबिम्ब-ग्राही) था और उसका स्पर्श नवनीत, कपास आदि की तरह कोमल था। संयोगवश, जैसा मैंने पहले लिखा, यह वर्णन 'नार्दर्न ब्लैक-पॉलिश्ड वेयर' नाम से प्रसिद्ध उस मृत्पट्ट (पृथ्वी-शिला-पट्ट) का है जिसपर अत्यंत ओपदार पॉलिश है और जो छठी शताब्दी ई० पू० में विद्यमान था।[2]

इसी पृथ्वी-शिला-पट्ट से कंकाली-टीला के आयाग-पटों ने परंपरागत आकार-प्रकार प्राप्त किया। इस तथ्य की पुष्टि लोणशोभिका की पुत्री वसु के द्वारा स्थापित आयाग-पट के उस अभिलेख

---

1 (बरुआ), बेणी माधव. भरहुत 1937. कलकत्ता. खण्ड 3, रेखाचित्र 26, 28, 30, 31, 32. / कुमारस्वामी, पूर्वोक्त, रेखाचित्र 41, 46, 51.

2 घोषिताराम बिहार की नींवों में विभिन्न रंगों के नार्दर्न ब्लैक-पॉलिश्ड वेयर मिले हैं। मध्यकालीन टीकाकार इनका प्रतीकार्थ समझने में असमर्थ रहे और उन्होंने शिलापट्ट शब्द के पहले के पृथ्वी शब्द को समझाये बिना ही छोड़ दिया। यह वस्तुतः पूर्णभद्र का चैत्य था, न कि मातृदेवी पृथ्वी का मंदिर. यह पट्ट वास्तव में पृथ्वी-शिला (मिट्टी से बना) था.

से भी होती है जिसमें आयाग-पट के लिए शिला-पटो शब्द का ही प्रयोग किया गया है।[1] अभिलेख की अंतिम पंक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि यह शिला-पट अर्हतों की पूजा के हेतु (अरहत-पूजाये) है।

हेमचंद्र ने जैन मंदिरों में अंकित अष्ट-मंगलों में बलि-पटों का[2] उल्लेख किया है। ये निश्चित रूप से आयाग-पट ही थे क्योंकि अबतक प्रकाश में आये कंकाली-टीला के प्रत्येक आयाग-पट (साधु कण्ह और आर्यवती के आयाग-पटों के छोड़कर, प्रथम खण्ड में चित्र १९) पर अष्ट-मंगलों में से कोई न-कोई प्रतीक अवश्य अंकित है और वह भी उसके मध्य में मुख्य अभिप्राय के रूप में। इस प्रकार, आयाग-पटों पर स्वस्तिक, त्रिरत्न, स्तूप, धर्मचक्र, स्थापनाचार्य (जिसे वासुदेव शरण अग्रवाल ने इंद्र-यष्टि माना है) आदि के अंकन मिले हैं। कुछ आयाग-पटों पर तो आठों मंगल-प्रतीकों के अंकन किये गये, इसके उदाहरण हैं सीहनादिक द्वारा स्थापित आयाग-पट, भद्र-नंद्री की पत्नी द्वारा स्थापित आयाग-पट और मथुरा के एक अज्ञात दानी द्वारा स्थापित आयाग-पट।[3] उस समय की अष्ट-मंगलों की नामावलि आज प्रचलित श्वेतांबर और दिगंबर नामावलियों से कुछ भिन्न थी।

चैत्य वृक्षों के नीचे बने चबूतरे पर पूजा की वस्तुएँ स्थापित करने की पद्धति भारत में अब भी वर्तमान है, हम आज भी ग्रामों और नगरों में वृक्षों के नीचे ऐसे चबूतरों पर रखी हुई खण्डित या अखण्डित मूर्तियाँ और शिलाखण्ड देखते है। लगभग प्रथम शताब्दी ई० पू० का एक अच्छा उदाहरण मथुरा की एक शिल्पांकित पट्टी पर विद्यमान है जिसमें एक वेदिका के मध्य वृक्ष के नीचे शिवलिंग का अंकन है।[4]

औपपातिक सूत्र में पूर्णभद्र (एक सुपरिचित प्राचीन यक्ष) के चैत्य के वर्णन में किसी निर्मित मंदिर का कोई उल्लेख नहीं है, बल्कि शिलापट्ट-विशिष्ट-वृक्ष को ही यहाँ यक्ष-आयतन की संज्ञा दी गयी दिखती है, जैसा कि सूचि-लोम जातक (संयुक्त निकाय, ११,५) से व्यक्त होता है जिसमें एक 'टंकिते मंचो' को यक्ष के भवन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रतीत होता है कि शिलापट्ट पर किसी आकृति (यक्ष या कोई देवता) का अंकन या चैत्य वृक्ष के नीचे किसी देवता की मूर्ति की

---

1 वासुदेव शरण अग्रवाल. 'कैटलॉग ऑफ़ द मथुरा म्यूजियम', **जर्नल ऑफ़ दि यू पी हिस्टॉरिकल सोसायटी** 23, भाग 1-2, पृष्ठ 69 तथा परवर्ती. औपपातिक सूत्र के इस अंश के इससे अधिक वर्णन के लिए द्रष्टव्य : शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 67 तथा परवर्ती.

2 उमाकांत प्रेमानंद शाह की टिप्पणियाँ द्रष्टव्य : 'वर्द्धमान-विद्या-पट', **जर्नल ऑफ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ़ ओरियण्टल आर्ट** 9, 1941. /**त्रिशष्टि-शलाका-पुरुष-चरित** 1, 3, 422, इत्यादि में समवसरण के वर्णन में हेमचंद्र ने लिखा है : तोरण पताकाओं और श्वेत छत्रों से अलंकृत ये और इनके नीचे विद्यमान अष्ट-मंगल प्रतीक वैसे ही दिखते थे जैसे बलिपट्टों पर होते हैं.

3 स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 9,7; प्रथम खण्ड में चित्र 3. आयाग-पटों के इससे अधिक वर्णन और विवेचन के लिए द्रष्टव्य : शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 77-84, चित्र 7, 10, 11, 13, 14, 14 क, 14 ख आदि।

4 शाह, पूर्वोक्त, 1955, चित्र 67.

स्थापना विकास-क्रम में कुछ बाद में प्रचलित हुई,[1] पर यदि जैन आगम साहित्य में वर्णित राजगृह के मुग्गरपाणि यक्ष के आयतन का काल महावीर के समय तक ले जाया जा सके तो यह ध्यान में रखना होगा कि प्रचलन का उक्त विकास-क्रम भी महावीर के समय तक ले जाया जा सकेगा।

बुद्ध और महावीर[2] तथा अनेक प्राचीन विचारक और साधु ऐसे वृक्षों के नीचे इन चबूतरों पर ध्यान लगाया करते थे। वृक्षों के नीचे ध्यान लगाने की यह पद्धति वैसी ही है जिसका अनुसरण कदाचित् बुद्ध ने किया। राइस डेविड्स ने इसी दृष्टि से लिखा है कि जब कोई बहुत गंभीर शंका-समाधान चल रहा होता तब उसे स्थगित करने को बुद्ध कहा करते—'ये रहे वृक्ष; करो समाधान अपनी शंका का।'[3]

वृक्ष की चारों दिशाओं में एक-एक पीठ के निर्माण और उसपर शिलापट्ट की स्थापना के प्रचलन से चैत्य वृक्ष की पूजा के विकास के अगले क्रम का स्पष्ट आभास मिलता है। इससे मौलिक अवधारणा प्राप्त हुई, एक तो चैत्य के आरंभिक रूप को जो चारों ओर अनावृत होता, और दूसरे, चतुर्मुख मंदिर को, साथ ही कंकाली-टीला की प्रतिमा सर्वतोभद्रिका को जिसके चारों ओर एक-एक तीर्थंकर-मूर्ति खड़ी (प्रथम खण्ड में चित्र १८) या बैठी मुद्रा में अंकित होती है। इस विचार की पुष्टि, आदि-पुराण में जिनसेन ने आदिनाथ के समवसरण में विद्यमान चैत्य वृक्षों का जो सविस्तार वर्णन किया है उससे होती है। उन्हें चैत्य वृक्ष कहते हैं क्योंकि उनके नीचे चारों ओर एक-एक जिन-मूर्ति (चैत्य) स्थापित होती है।[4] भवनवासी निकाय के देवों के चैत्य वृक्षों का वर्णन तिलोय-पण्णत्ती में भी इसी प्रकार का है।[5]

चतुर्मुख प्रतिमा (चारों ओर सम्मुख दिखने वाली मूर्ति) की मौलिक अवधारणा, समवसरण के संदर्भ में इस मान्यता पर आधारित है कि जिसके मध्य में स्थित पीठ पर विराजमान तीर्थंकर अपने चारों ओर बैठे दर्शक-वर्ग को उपदेश देते हैं ऐसे उस मण्डलाकार सभागार में इंद्र उन तीर्थंकर की उनके पूर्णतया अनुरूप तीन मूर्तियाँ उन तीनों दिशाओं के सम्मुख स्थापित कर देता है जिनमें स्वयं तीर्थंकर सम्मुख नहीं होते, ताकि वहाँ चारों ओर बैठे दर्शक उन तीर्थंकर को प्रत्यक्षवत् देख सकें। इस प्रकार, इस अवधारणा में यह स्पष्ट है कि वे जो मूर्तियाँ होती हैं वे किसी एक ही तीर्थंकर की होती हैं जिसे चारों ओर से देखा जाना अभीष्ट होता है। फलितार्थ यह कि महावीर की एक चतुर्मुख मूर्ति हो तो

---

1 तुलना कीजिए, वोगेल, ज़िएल्मोत. ला कल्ते द ल' अर्ब्रे दान्स ल' इंदे ऐंसियेने, चित्र 8 च, अमरावती स्तूप से संबद्ध.

2 तुलना कीजिए, भगवतीसूत्र, 3, 2, सूत्र 144, जिसमें वर्णन है कि महावीर एक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला-पट्ट पर ध्यान लगाये बैठे थे.

3 राइस डेविड्स, (टी डब्ल्यू). बुद्धिस्ट इण्डिया. पृ 230-31.

4 आदिपुराण 22, 184-204, 1, पृ 524-27.

5 तिलोय-पण्णत्ती, 3, 33-39, 1, पृ 115.

उसकी चारों ओर की मूर्तियाँ महावीर की ही होंगी। किन्तु कंकाली-टीला की प्रायः सभी चतुर्मुख मूर्तियों में प्रत्येक दिशा की सम्मुख मूर्ति पृथक्-पृथक् तीर्थंकर की है। उन तीर्थंकरों में से कम-से-कम दो की पहचान हो सकती है—एक ऋषभनाथ जिनके कंधों पर लहराती केश-राशि का अंकन होता है और दूसरे पार्श्वनाथ जिनके मस्तक पर नाग-फणावलि का वितान होता है। तीसरे महावीर होने चाहिए क्योंकि वे अंतिम तीर्थंकर थे, और चौथे नेमिनाथ हो सकते हैं। यह अनुमान इसलिए किया गया है क्योंकि कल्पसूत्र में जो शेष बीस तीर्थंकरों के चरित्र लिखे हैं वे एक ही शैली में हैं और एक-दूसरे से अधिकतर मिलते-जुलते हैं।

इस कारण से, यह संभव है कि पादपीठों पर उत्कीर्ण अभिलेखों में जिन्हें प्रतिमा-सर्वतोभद्रिका कहा गया है ऐसी ये मथुरा की चतुर्मुख मूर्तियाँ समवसरण की गंधकुटी (जिसमें विराजमान होकर तीर्थंकर उपदेश देते हैं) की अवधारणा पर आधारित न होकर वृक्षों के नीचे बने यक्ष-चैत्यों के अनुकरण पर बनायी जाने लगी हों।[1] जैन आगमों में आये सिद्धायतनों के समूचे वर्णनों (वर्णकों) से ज्ञात होता है कि ऐसे मंदिर में तीन द्वार होते थे। प्रत्येक द्वार के सम्मुख एक-एक मुख-मण्डप होता था जो अष्ट-मंगल प्रतीकों से अलंकृत होता था। उनके सम्मुख प्रेक्षागृह-मण्डप या सभागार होते थे। उनके सामने एक-एक चैत्य-स्तूप मणि-पीठिका पर बना होता था। प्रत्येक स्तूप के चारों ओर एक-एक मणि-पीठिका या चबूतरा होता था जिसपर स्तूप की ओर अभिमुख तीर्थंकर-मूर्तियाँ स्थापित होती थीं।[2] इससे चतुर्मुख तीर्थंकर-मूर्ति की अवधारणा पर प्रकाश पड़ता है।

जिनसेन के आदिपुराण में[3] मान-स्तंभ नामक एक विशेष प्रकार के स्तंभों का वर्णन है जो समवसरण के प्रथम क्षेत्र में स्थित होते हैं। इन स्तंभों के मूल में चारों ओर एक-एक स्वर्णमय तीर्थंकर-मूर्ति स्थापित होती है। इन स्तंभों का वर्णन तिलोय-पण्णत्ती[4] में भी है जिसमें लिखा है कि जिन-मूर्ति स्तंभ के शीर्ष पर स्थापित होती थी। गुप्तकालीन[5] अभिलेख से अंकित कहाऊं-स्तंभ के शीर्ष पर चारों ओर एक-एक और मूल में एक तीर्थंकर-मूर्ति प्रस्तुत की गयी है। ये मूर्तियाँ सामान्यतः चारों ओर से अनावृत शीर्ष-स्थित मण्डप में प्रस्तुत की गयी हैं। यह पद्धति दिगंबरों में आज भी वर्तमान है। देवगढ़ में कुछ स्तंभ ऐसे हैं जिनमें मान-स्तंभ की इस प्राचीनतर परंपरा के विविध रूप मिलते हैं। कहीं-कहीं शीर्ष पर तीर्थंकर-मूर्तियों के अतिरिक्त मूल में अनुचर देवताओं, यक्षियों,

---

1 चैत्य के विकास के लिए द्रष्टव्य : शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 43 तथा परवर्ती; विशेष रूप से पृ 56-57, 94-95.

2 जीवाजीवाभिगमसूत्र 3. 2. 137 तथा परवर्ती. भगवतीसूत्र, 20, 9, सूत्र 684-794 भी द्रष्टव्य.

3 जिनसेन का आदिपुराण, 22, 92-102, पृ 515-16.

4 तिलोय-पण्णत्ती, 4, 779 तथा परवर्ती. यह शोध उपयोगी होगी कि कंकाली-टीला की चतुर्मुख मूर्तियों में से कोई किसी मान-स्तंभ के शीर्ष या मूल का भाग तो नहीं थी.

5 फ्लीट (जे एफ़). इंस्क्रिप्शंस ऑफ़ दि अर्ली गुप्त किंग्स, कॉर्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, 3, 1888. कलकत्ता. पृ 66-68.

क्षेत्रपालों आदि की मूर्तियाँ बनायी गयीं, किन्तु शीर्ष पर कहीं-कहीं चारों तीर्थंकर-मूर्तियों में से किसी एक के स्थान पर किसी गणधर या किसी आचार्य की मूर्ति भी बनायी गयी। इसी पद्धति का एक बृहत् उदाहरण राजस्थान में चित्तौड़ के जैन स्तंभ के रूप में विद्यमान है।[1]

यहाँ चतुर्मुख (चौमुख) जैन मंदिरों की अवधारणा भी उल्लेखनीय है जिनके गर्भालयों में चारों ओर एक-एक द्वार होता है और पूजा के लिए स्थापित मुख्य मूर्ति चतुर्मुख होती है, अर्थात् उसके चारों ओर एक-एक (आवश्यक नहीं कि वे भिन्न-भिन्न न हों) तीर्थंकर का अंकन होता है। इस प्रकार का एक बहुत आरंभिक प्रसिद्ध मंदिर बंगाल के पहाड़पुर में है जिसपर हिन्दू अंकन हैं। यह कहना कठिन है कि वह मंदिर मूलतः जैन था या नहीं, परंतु पहाड़पुर में प्राप्त हुई वर्ष १५९ (४७८ ई०) की वह तिथ्यंकित ताम्र-पट्टी उल्लेखनीय है जिसमें जैन पंच-स्तूप-निकाय का संदर्भ है। तथापि, भारत में अनेक जैन चौमुख मंदिर प्रसिद्ध हैं, जिनमें से राजस्थान में राणकपुर का त्रैलोक्य-दीपक नामक चतुर्मुख प्रासाद अनुपम कृति है; एक और प्रसिद्ध कृति है आबू पर्वत पर दिलवाड़ा के मंदिर-समूह में खरतर-वसहि (लगभग पंद्रहवीं शती) नामक मंदिर।[2]

लिखा जा चुका है कि मथुरा में चतुर्मुख मूर्तियों की स्थापना का प्रचलन था। राजगिर की सोनभण्डार गुफा में एक गुप्तोत्तर काल की पाषाण-निर्मित चौमुख मूर्ति है जिसके चारों ओर पृथक्-पृथक् तीर्थंकरों—ऋषभ, अजित, संभव और अभिनंदन—के अंकन हैं। भारत कला भवन, वाराणसी की सारनाथ से प्राप्त प्राचीनतर पाषाण-निर्मित मूर्ति भी चौमुख है। समूचे भारत में अनेक जैन मंदिरों में इतिहास के विभिन्न युगों में स्थापित पाषाण और धातु की चौमुख मूर्तियाँ आज भी पूजी जाती हैं। इस अवधारणा का मध्यकाल में परिवर्धित रूप पुरातत्त्व संग्रहालय, ग्वालियर की एक मूर्ति (चित्र ३१० क) में द्रष्टव्य है।

एक ऐसा युग भी आया, कदाचित् मध्यकाल में किसी समय, जब तीर्थंकरों की समूहबद्ध मूर्तियों की पूजा का प्रचलन हुआ—चौबीस का समूह; भूत, वर्तमान और भविष्य के आरों या युगों की एक-एक चौबीसी की संयुक्त बहत्तर का समूह (चित्र ३१० ख), (सूरत के एक दिगंबर जैन मंदिर में); विभिन्न क्षेत्रों से संबद्ध एक सौ सत्तर का; और लोक की रचना में उल्लिखित सहस्रकूट से संबद्ध एक हजार का (चित्र ३११ क)। इनमें से अंतिम को छोड़कर शेष सभी शिलाओं पर उद्भृत किये गये। अंतिम को, सुविधा के लिए, एक चौमुख की भाँति चारों ओर लघु मूर्तियों के उद्भृत द्वारा बनाया गया। बहत्तर या एक सौ सत्तर के समूहों को भी सुविधा की दृष्टि से चौमुख की भाँति चारों ओर प्रस्तुत किया गया। किन्तु जिनपर चौबीस के समूह को चारों ओर प्रस्तुत किया गया हो ऐसे

---

1 द्रष्टव्य: शाह, पूर्वोक्त, 1955, रेखाचित्र 56, देवगढ़ के मंदिर-12 की चहारदीवारी में स्थित एक मान-स्तंभ के लिए; और वही, चित्र 82, चित्तौड़ के स्तंभ के लिए (द्वितीय खण्ड में चित्र 219 भी).

2 [पहाड़पुर, राणकपुर आदि के लिए इसी खण्ड में अध्याय 21 और 28 द्रष्टव्य. —संपादक.]

चौमुख विरल नहीं हैं। यह भी है कि इस प्रकार की कृतियों में प्रस्तुति की कला के कारण भिन्नता मिलती है, जैसे चौबीस के समूह को तीन आड़ी पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया (चित्र ३११ ख), या बड़े समूहों को एक ऐसे मंदिर की अनुकृति के रूप में प्रस्तुत किया गया जिसपर शिखर का अंकन भी किया गया हो।

चैत्य-वृक्षों की चर्चा फिर उठायी जाये। जो सिन्धु-सभ्यता की मुद्राओं पर दृष्टिगत होती है और जो वैदिक तथा स्मृति-साहित्य में उल्लिखित है और जो बहुत प्राचीन काल से प्रचलन में रही ऐसी वृक्ष-पूजा का उस वर्ग की धार्मिक मान्यताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा जिसके साथ बुद्ध और महावीर का विशेष संबंध इसलिए था कि वे वैदिक पुरोहित-वर्ग और उसके कर्मकाण्ड का प्रतिरोध कर सकें। महावीर ऐसे मंदिरों में केवल-ज्ञान के पहले भी ठहरते थे और बाद में भी। बुद्ध को बोधि-लाभ और महावीर को केवल-ज्ञान ऐसे ही चैत्य-वृक्षों के नीचे हुआ था, यह मान्यता तथ्यों पर आधारित रही हो सकती है, और जब अन्य बुद्धों और तीर्थंकरों की नामावलियाँ प्रचलन में आयीं तब दोनों धर्मावलंबियों ने उन सबके चैत्य-वृक्षों का विधान भी किया।

परंतु, आरंभ में बौद्ध कला में बुद्ध का अंकन मानवाकृति के रूप में नहीं होता था, अतः बोधि-वृक्ष को और भी अधिक महत्त्व मिला, किन्तु जैनों ने केवल इतना ही किया कि विभिन्न तीर्थंकरों के चैत्य-वृक्षों की नामावलि बना दी और पूजा तथा कला में उन्हें गौण स्थान दे दिया। परंतु प्राचीन भारत में वृक्ष-पूजा का इतना अधिक प्रचलन था कि तीर्थंकर की उद्भृत मूर्तियों के साथ चैत्य-वृक्ष की प्रस्तुति उनके मस्तक के ऊपर पत्रों के अंकन के रूप में आवश्यक हो गयी। जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ने वृक्ष-पूजा को एक नया अर्थ प्रदान किया। चैत्य-वृक्षों की पूजा और कला में प्रस्तुति का कारण यह नहीं था कि उनपर प्रेत और देवता बसेरा करते थे, वरन् यह था कि उनके नीचे बुद्ध को बोधि-लाभ और महावीर को केवल-ज्ञान हुआ था। चैत्य-वृक्ष के नीचे सर्वप्रथम कदाचित् तीर्थंकर-मूर्ति को स्थापित किया गया। चौसा से प्राप्त मूर्ति-समूह में एक कांस्य-मूर्ति (प्रथम खण्ड में चित्र २२ ग) चैत्य-वृक्ष की है जो इस समय पटना संग्रहालय में प्रदर्शित है। यह मूर्ति कदाचित् इसी पद्धति से पूजी जाती थी, उसके पास एक लघु तीर्थंकर-मूर्ति अलग से रखी जाती थी। मंदिरों के प्रचलन के साथ-साथ यह पद्धति क्रमशः समाप्त होती गयी, परंतु ऋषभनाथ से संबद्ध एक ऐसा वृक्ष (गुजराती में रायण-वृक्ष) शत्रुंजय पर्वत पर अब भी पवित्र माना जाता है और पूजा जाता है। वृक्ष-पूजक संप्रदाय के कारण चैत्य-वृक्षों को महत्त्व विशेष रूप से दिया जाता था, यह तथ्य उन विशेष प्रकार की तीर्थंकर-मूर्तियों से प्रकट है जिनपर एक बृहदाकार वृक्ष के अंकन के नीचे (चित्र ३१२ क) प्रायः सभी शेष प्रातिहार्यों (जिन-मूर्ति के परिकर के अंग) का अंकन या तो लुप्तप्राय हो जाता है या गौण।[1]

---

1 द्रष्टव्य : शाह, पूर्वोक्त, 1955, चित्र 72, तिरुनेली जिले के कलुगुमलै से प्राप्त; चित्र 73, पाटन के पंचासर-देरासर से प्राप्त; चित्र 75, सूरत के एक दिगंबर जैन मंदिर से प्राप्त.

महावीर के चैत्य-वृक्ष का प्राचीनतम उल्लेख कदाचित् आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में आये महावीर के जीवन के प्रसंग में है, प्रथम श्रुतस्कंध से द्वितीय को उत्तरवर्ती काल का माना जाता है, जिसमें उल्लेख तो चौबीसों तीर्थंकरों का है पर जीवन-प्रसंगों का वर्णन केवल चार, अर्थात् ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर का ही है। ऐसे कल्प-सूत्र में शेष बीस तीर्थंकरों के चैत्य-वृक्षों का कोई उल्लेख नहीं। बहुत-सी प्राचीनतर सामग्री को समाविष्ट करके भी जो स्पष्ट ही उत्तरवर्ती काल की रचना है ऐसे समवायांग-सूत्र में भूत, वर्तमान और भविष्य के और भरत क्षेत्र के वर्तमान काल (आरा) के तीर्थंकरों, ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों, चौबीसों तीर्थंकरों के चैत्य-वृक्षों की नामावलि है।[1] इनमें से अंतिम नामावलि दिगंबरों और श्वेतांबरों की एक ही है[2] क्योंकि उसका प्रचलन पाँचवीं शताब्दी से पूर्व तब हुआ जब दिगंबर-श्वेतांबर-मतभेद प्रखरता से उभरे।

जैन धर्म में वे देव व्यंतर-निकाय में परिगणित हैं जिन्हें वृक्ष-पूजा से संबद्ध माना जाता है। व्यंतर आठ जातियों में विभक्त हैं : पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किंनर, किंपुरुष, महोरग (नाग) और गंधर्व। प्रत्येक जाति में मुकुट पर क्रमशः ये चिह्न (वृक्ष के रूप में) होते हैं : कदंब, सुलस, वट, खट्वांग, अशोक, चंपक, नाग और तुंबुरु। दिगंबर नामावलि में खट्वांग के स्थान पर बदरी वृक्ष का नाम है।[3] श्वेतांबर नामावलि में खट्वांग ही एक ऐसी वस्तु है जो वृक्ष नहीं प्रतीत होती।

स्थानांगसूत्र में[4] चैत्य-वृक्षों की नामावलि है जिन्हें भवनवासी देवों की दस जातियाँ पूजती थीं; एक अन्य नामावलि तिलोय-पण्णत्ती[5] में है। इससे व्यक्त होता है कि जैन मंदिरों के क्षेत्र में चैत्य-वृक्षों या वृक्ष-पूजक मत का प्रचलन था। चैत्य-वृक्षों की अवधारणा के संदर्भ में, ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य में उल्लिखित जीवन-वृक्ष और कल्प-द्रुम की अवधारणा पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।[6] जैन ग्रंथों में भी दस कल्प-द्रुमों का वर्णन है। इनका विस्तृत वर्णन जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति[7] में है। हेमचंद्र ने उत्तरकुरु क्षेत्रों के दस प्रकार के कल्पवृक्षों का वर्णन इस प्रकार किया है : मद्यांग

---

1 **समवायांगसूत्र**, 149, समवाय, पृ 152. चैत्य-वृक्षों के लिए और भी द्रष्टव्य : **जीवाजीवाभिगमसूत्र**, सूत्र 127, पृ 125 और सूत्र 142, पृ 251.

2 रामचंद्रन्, पूर्वोक्त, पृ 192 तथा परवर्ती. इसमें इस युग के सभी तीर्थंकरों के चैत्य-वृक्षों की एक नामावलि दी गयी है जो अशुद्ध प्रतीत होती है. दिगंबर नामावलियों के लिए द्रष्टव्य : **प्रतिष्ठासारोद्धार**, 4, 106, पृ 101. /**तिलोय-पण्णत्ती**, 4, 916-918, पृ 264.

3 दोनों संप्रदायों से संबद्ध नामावलियों और उनके मूल स्रोतों के लिए द्रष्टव्य : कारफ़ेल, **डी कॉस्मोग्राफी डेर इण्डेर**, पृ 273 तथा परवर्ती.

4 **स्थानांगसूत्र**, 10, 3, सूत्र 766, 2, पृ 487; टीकाकार ने लिखा है कि ये वृक्ष सिद्धायतनों के समीप पूजे जाते थे.

5 **तिलोय-पण्णत्ती**, 3, 136, 1, पृ 128.

6 विशेष रूप से द्रष्टव्य : आनंदकुमार कुमारस्वामी, **एलीमेंट्स ऑफ बुद्धिस्ट आइकॉनोग्राफी**, 1935, कैम्ब्रिज.

7 **जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति**, 20, पृ 99 तथा परवर्ती. /**प्रवचन-सारोद्धार**, 1067-70, पृ 314 भी द्रष्टव्य. /जिनसेन का **हरिवंश-पुराण** 1, पृ 146-47.

आदि दस प्रकार के कल्प-द्रुमों से मनुष्यों को अनायास ही सदा वह सब प्राप्त होता है जो वे चाहते हैं। इनमें से मद्यांग नामक कल्प-द्रुम से मदिरा प्राप्त होती है, भृंग कल्प-द्रुम थालियाँ देते हैं, तुर्यांग वाद्य-यंत्र प्रदान करते हैं, दीप-शिखाओं और ज्योतिष्कों से अद्भुत प्रकाश मिलता है, चित्रांग आभूषण देते हैं, चित्ररसों से भोजन उपलब्ध होता है, मण्यंग आभूषण प्रदान करते हैं, गेहकारों से घर प्राप्त होते हैं और अनंग विविध प्रकार के परिधान देते हैं।[1]

मंगल-स्वप्नों की मान्यता भारत में बहुत प्राचीन काल से रही है, जैसा कि छांदोग्य उपनिषद्, ५,२,७,८ में आये उस संदर्भ से सिद्ध होता है जिसमें ऐसे ही एक स्वप्न का प्रभाव बताया गया है। जब कोई भावी तीर्थंकर स्वर्ग से चयकर माता के गर्भ में अवतीर्ण होता है तब माता कुछ मंगल स्वप्न देखती है। माता, श्वेतांबर मान्यता के अनुसार, स्वप्न में चौदह विभिन्न वस्तुएँ देखती है, किन्तु दिगंबर मान्यता से ये स्वप्न सोलह होते हैं। महावीर की माता के द्वारा देखे गये चौदह स्वप्नों का सविस्तार वर्णन कल्पसूत्र में इस प्रकार हैं : (१) चार शुण्डादण्ड-सहित एक उत्तुंग और मनोरम श्वेत गज, (२) प्रकाश-पुंज से चमत्कृत एक श्वेत वृषभ जिसकी ककुद् आकर्षक और शृंग स्निग्धाग्र होते हैं, (३) श्वेत और सुंदर, स्फूर्तिमान् सिंह, जिसकी फड़कती पूँछ और लपलपाती जिह्वा हो (४) श्री नामक एक चतुर्भुजी देवी जो अलंकार-विभूषित, कमल-धारिणी और गजों द्वारा अभि-षिक्त हो रही होती है, (५) विभिन्न पुष्पों की एक माला, (६) पूर्णचंद्र, (७) रक्तिम सूर्य, (८) एक परम मनोहर पताका जो स्वर्ण-दण्ड पर आबद्ध और सिंह से चिह्नित हो, (९) जल और कमलों से आपूरित कुंभ जो सौभाग्य का सदन हो, (१०) कमलों और जलचर जंतुओं से आप्लावित विशाल सरोवर, (११) उच्छल-तरंग और जलचर जंतुओं से आपूरित क्षीर-सागर, (१२) स्तंभ-मण्डित देव-विमान जो मालाओं से अलंकृत और चित्रों या पुत्तलिकाओं से सुसज्जित हो, (१३) सभी प्रकार के रत्नों की राशि, और (१४) निरंतर प्रज्वलित निर्धूम अग्नि।[2]

कल्प-सूत्र की पाण्डुलिपि में इन स्वप्नों का चित्रांकन है, एक साथ भी जो ब्राउन की पुस्तक[3] के चित्र १९ के रूप में प्रकाशित है, और अलग-अलग भी जो उसके चित्र २० से ३३ तक के रूप में प्रकाशित हैं। कल्प-सूत्र के चित्रांकनों का जो प्रकार सर्वाधिक प्रचलित है (ब्राउन की पुस्तक के चित्र ६,१८) उसमें सबसे नीचे की पट्टी में पर्यंक पर लेटी हुई तीर्थंकर-माता का अंकन होता है और ऊपर

---

1 त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित, (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज़), अनुवाद; हेलन जॉनसन, पृ 29-30.

2 इन शकुन-सूचक स्वप्नों में में कुछ पर उपयोगी चर्चा और व्याख्या के लिए द्रष्टव्य : आनंदकुमार कुमारस्वामी, 'द कांकरर्स लाइफ़ इन जैन पेंटिंग्स', जर्नल ऑफ़ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ़ ओरियण्टल आर्ट 3, अंक 2, दिसंबर 1935, पृ 125-44.

3 ब्राउन. मिनिएचर पेंटिंग्स ऑफ़ द कल्पसूत्र. अन्य चित्रांकनों के लिए द्रष्टव्य : जैनचित्रकल्पद्रुम, 1, चित्र 73. /कुमारस्वामी, कैटलॉग ऑफ़ दि इण्डियन कलेक्शन इन द बोस्टन म्यूज़ियम, 4, चित्र 13, 34. /ब्राउन, पूर्वोक्त चित्र, 152, पृ 64. /मुनि पुण्यविजय. पवित्र-कल्पसूत्र. चित्र 17, 22.

की दो या तीन पट्टियों में कई पंक्तियों में चौदह स्वप्नों की लघु आकृतियाँ अंकित होती हैं। विभिन्न तीर्थंकरों के जीवन-प्रसंगों के अंतर्गत पाषाण-शिल्प में भी ये स्वप्न प्रस्तुत किये गये। चित्र ३१३ कुंभारिया के एक मंदिर की छत का है जिसपर अंकित महावीर के जीवन-प्रसंगों के अंतर्गत इन स्वप्नों का भी अंकन है।

प्राचीन भारत में अत्यंत पुरातन होने पर भी और सभी वर्गों में प्रचलित होने पर भी मंगल-स्वप्नों की मान्यता तीर्थंकरों के जीवन-प्रसंगों में कुछ बाद के काल में समाविष्ट हुई। उपलब्ध विवरणों में जो कदाचित् सर्वाधिक प्राचीन है ऐसे एक कल्प-सूत्र के विवरण में दीनार-माला का संदर्भ आया है।[1] इससे प्रकट होता है कि इस ग्रंथ का यह अंश उस काल के बाद लिखा गया जब दीनार नामक मुद्रा का भारत में प्रवेश और परिचय हुआ। स्वप्नों की इससे पूर्व की कोई प्रस्तुति उपलब्ध नहीं। चक्रवर्तियों, वासुदेवों और बलदेवों की माताओं के स्वप्नों का विधान इससे भी बाद में हुआ होगा।

दिगंबर परंपरा के अनुसार तीर्थंकर-माता के सोलह स्वप्न ये हैं : (१) इंद्र का गज ऐरावत, (२) सर्वोत्तम वृषभ, (३) श्वेत वर्ण और रक्तिम केसर सहित सिंह, (४) देवी पद्मा (श्री) जो स्वर्णकमल पर आसीन हो और गजों के द्वारा अभिषिक्त की जा रही हो, (५) उत्कृष्ट कुसुमों की दो मालाएँ, (६) चंद्रमा, (७) उदयाचल शिखर पर उदीयमान सूर्य, (८) मुख पर कमलों से अलंकृत दो पूर्णकुंभ, (९) मीन-युगल, (१०) दिव्य सरोवर, (११) उमड़ता समुद्र, (१२) स्वर्णमय उच्च सिंहासन, (१३) दिव्य विमान, (१४) नागेंद्र भवन, (१५) रत्न-राशि, (१६) निर्धूम अग्नि।[2]

सोलह स्वप्नों की प्रस्तुति दिगंबर जैनों में अत्यंत प्रचलित रही, तभी तो वह मंदिरों में द्वारों के सरदलों पर भी की गयी मिलती है, जिसका एक आरंभिक उदाहरण खजुराहो के शांतिनाथ-मंदिर के द्वार पर विद्यमान है। खजुराहो के कुछ अन्य मंदिरों के द्वारों पर भी स्वप्नों के अंकन हुए मिलते हैं।

जैन मान्यताओं के अनुसार, इनसे कुछ कम संख्या में स्वप्न वासुदेव, बलदेव, आदि

---

1 पवित्र-कल्प-सूत्र के अपने (समीक्षात्मक) संस्करण की प्रस्तावना में मुनि श्रीपुण्यविजय ने पृ 10 पर लिखा है कि कल्पसूत्र में आये चौदह स्वप्नों का विस्तृत विवरण इसी ग्रंथ की अगस्त्यसिंह-सूरि की चूर्णि में नहीं मिलता। इसलिए यह कहना कठिन है कि इस ग्रंथ का यह भाग मौलिक है। वे लिखते हैं कि दशाश्रुतस्कंध (जिसके आठवें अध्ययन के रूप में कल्पसूत्र है) की निर्युक्ति और चूर्णि, दोनों का काल लगभग 350 ई० या उसके पूर्व से आरंभ होता है.

2 जिनसेन का आदि-पुराण, सर्ग 12, श्लोक 101-19, जिनसेन का हरिवंशपुराण, सर्ग 8, श्लोक 58-74.

शलाका-पुरुषों और चक्रवर्तियों की माताएँ देखती हैं ।[1] इन स्वप्नों का चित्रांकन या शिल्पांकन कहीं हुआ नहीं मिलता ।

दोनों आम्नायों में प्रचलित अष्ट-मंगलों का स्थान प्राचीन काल से ही जैन पूजा-पद्धति में रहा है। इन द्रव्यों की श्वेतांबर और दिगंबर नामावलियों में कुछ अंतर है। श्वेतांबर आगम-ग्रंथ औपपातिक-सूत्र के अनुसार अष्ट-मंगल ये हैं : स्वस्तिक, श्रीवत्स, नंद्यावर्त, वर्धमानक (चूर्णपात्र), पूर्णकुंभ, दर्पण और मत्स्य (या मत्स्य-युग्म) । जैन साहित्य और आगम-ग्रंथों में इनकी विभिन्न रूपों में प्रस्तुति के उल्लेख मिलते हैं : तोरणों या प्राचीरों के अग्रभागों के अलंकरण के रूप में, चैत्य-वृक्षों और चबूतरों पर स्थापित किये गये रूप में, या भित्तियों पर चित्रांकन के रूप में, इत्यादि ।[2] हेमचंद्र ने भी लिखा है कि अष्ट-मंगल द्रव्य बलि-पट्टों पर प्रस्तुत किये जाते थे ।[3] आधुनिक जैन मंदिरों में काष्ठ या धातु से निर्मित नीची चौकियाँ होती हैं जिनपर पूजा के द्रव्य चढ़ाये जाते हैं। उनके पार्श्वों पर आठ मंगल द्रव्य या चौदह या सोलह स्वप्न शिल्पांकित या जड़े होते हैं। प्रायः जैन महिलाएँ पूजा के कक्ष में इन आठ प्रतीकों को बिना पकाये और छिलके उतरे हुए चावलों से तश्तरियों पर बना देती है। मंदिरों में धातु-निर्मित मूर्तियों के साथ ऐसी लघु धातु-निर्मित तश्तरियाँ (यंत्र) भी स्थापित की जाती हैं जिनपर अष्ट-मंगल ढले या उत्कीर्ण होते हैं (चित्र ३१२ ख)। ऐसी अधिकांश तश्तरियाँ अधिक-से-अधिक एक या दो सौ वर्ष प्राचीन होती हैं ।

किन्तु हेमचंद्र ने अष्ट-मंगल द्रव्यों सहित बलि-पट्टों का जो उल्लेख किया है वह मथुरा के कुषाणकालीन आयाग-पटों पर उत्कीर्ण अष्ट-मंगलों के दृष्टांत से पुष्ट होता है। भद्रनंदी की पत्नी अचला द्वारा स्थापित आयाग-पट (स्मिथ की पूर्वोक्त पुस्तक का चित्र ११) पर ऊपर की पंक्ति में चार तथा नीचे की पंक्ति में और आठ प्रतीक उत्कीर्ण हैं ।[4] नीचे की पंक्ति में दायें से प्रथम जो अंशतः खण्डित प्रतीक है वह संभवतः श्रीवत्स था। दूसरा स्वस्तिक है, तीसरा अर्धोन्मीलित कमल-कलिका है, चौथा मत्स्य-युगल है, पाँचवाँ जलपात्र है, छठवाँ या तो समर्पित किये गये मिष्टान्न हैं या रत्न-राशि। सातवाँ एक शास्त्र-सहित रिहल अर्थात् स्थापना प्रतीत होता है पर उसे भद्रासन भी कहा जा सकता है। आठवाँ प्रतीक एक खण्डित त्रिरत्न प्रतीत होता है। सबसे ऊपर बीच में जो सम-चतुष्कोणीय स्थान है उसमें एक श्रीवत्स का अंकन है, एक अन्य प्रकार का स्वस्तिक अंकित है जिसके छोर मुड़े

---

1 ऐसी मान्यताएं दोनों ही आम्नायों में सामान्य हैं किन्तु उनकी नामावलियों के अंतर से प्रतीत होता है कि उनका विकास गुप्तकाल के अनंतर तब हुआ जब श्वेतांबरों और दिगंबरों के मतभेद ने अंतिम रूप ले लिया था.

2 त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित 1, पृ 112-190./आदिपुराण, पर्व 22, श्लोक 143, 185, 210 आदि /राय-पसेणियम्, संपादक पं० बेचरदास, पृ 80. / जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति 1 पृष्ठ 43 भी.

3 त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित, 1, पृ 190 और टिप्पणी 238.

4 शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 82, चित्र 10, लखनऊ संग्रहालय का क्रमांक जे. 252.

हुए हैं, और दो प्रतीकों की पहचान नहीं हो सकी है जिनमें से पहला आसन (भद्रासन ?) हो सकता है। इससे भी अधिक अखण्डित अष्टमंगल सीहनादिक द्वारा स्थापित आयाग-पट (लखनऊ संग्रहालय की प्रविष्टि संख्या जे. २४६)[1] पर अंकित हैं। इसपर और अचला द्वारा स्थापित आयाग-पट पर मध्य के चतुष्कोण में चार ऐसे त्रिरत्न अंकित हैं जिनकी रचना पृथक्-पृथक् अंगों से हुई है। सबसे ऊपर मध्य के सम-चतुष्कोण स्थान में, सीहनादिक द्वारा स्थापित आयाग-पट पर मत्स्य-युगल, विमान, श्रीवत्स-लांछन और वर्धमानक के अंकन हैं। इसके समीप ही जो सबसे नीचे की पंक्ति है उसमें त्रिरत्न, पूर्ण विकसित कमल, एक ऐसा प्रतीक जिसे अग्रवाल ने इंद्र-यष्टि या वैजयंती नाम दिया है, और एक मंगल-कलश हैं।[2]

एक मथुरा-निवासी द्वारा स्थापित आयाग-पट (लखनऊ संग्रहालय का क्रमांक जे. २४८) के मध्य में एक सोलह आरों का चक्र है जो धर्मचक्र होना चाहिए।[3] शिवघोषक की पत्नी द्वारा स्थापित आयाग-पट (लखनऊ संग्रहालय का क्रमांक जे. २५३) पर चार ऐसे त्रिरत्न हैं जिनकी रचना पृथक्-पृथक् अंगों से हुई है (और उनके मध्य में एक जिन-मूर्ति का अंकन है)।[4] एक अज्ञात दानी द्वारा स्थापित आयाग-पट (लखनऊ संग्रहालय का क्रमांक जे. २५०)[5] पर मध्य के बड़े वृत्त में एक अलंकृत स्वस्तिक है जिसकी चारों भुजाओं के भीतर क्रमशः स्वस्तिक, श्रीवत्स, मीन-युगल और इंद्र-यष्टि (वैजयंती ?, स्थापना ?) के अंकन हैं। मध्य के लघुतर वृत्त में एक संयुक्त त्रिरत्न है जिसके मध्य में एक तीर्थंकर-मूर्ति का अंकन है। इस आयाग-पट के सब से नीचे की पंक्ति में कुछ खण्डित प्रतीक हैं जिनमें से जल-पात्र, अर्धोन्मीलित कमल, त्रिरत्न और स्वस्तिक की पहचान सहज हो जाती है। शिवमित्र द्वारा स्थापित आयाग-पट[6] के उपलब्ध खण्ड पर मध्य में एक बड़ी रिहल का एक पैर अंकित बच गया है जिसे उपर्युक्त आयाग-पटों के संदर्भ में स्थापना (?) या इंद्र-यष्टि (?) आदि कहा गया है। इस विश्लेषण से व्यक्त होता है कि उपर्युक्त प्रत्येक आयाग-पट पर अष्ट-मंगलों में से कुछ या सभी के लघु अंकनों के अतिरिक्त किसी एक मंगल द्रव्य का बड़ा या मुख्य अंकन भी होता है। कदाचित् ऐसे आयाग-पट रहे होंगे जिनपर उन शेष मंगल-द्रव्यों के भी बड़े या मुख्य अंकन रहे होंगे जिन्हें कुषाणकालीन मथुरा के जैन मानते होंगे। इससे प्रकट है कि हेमचंद्र को अष्ट-मंगलों के अंकन

---

1 पूर्वोक्त, चित्र 13, पृ 79.

2 वासुदेव शरण अग्रवाल, ए गाइड टु लखनऊ म्यूज़ियम, पृ 2, चित्र 5, और उन्हीं का हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ 120. /स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 7, पृ 14.

3 शाह, पूर्वोक्त, 1955, चित्र 14, पृ 77. /स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 8, पृ 15. /बूलर. एपिग्राफिया इण्डिका, 2, पृ 200, 313.

4 शाह, पूर्वोक्त, 1955, चित्र 12, पृ 76-77. /स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 10, पृ 17.

5 शाह, पूर्वोक्त, 1955, चित्र 11, पृ 81. /स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 9, पृ 16.

6 शाह, पूर्वोक्त, 1955, पृ 80. /स्मिथ, पूर्वोक्त, चित्र 13, पृ 20.

से सहित बलिपट्टों की अति प्राचीन परंपरा का परिज्ञान था।[1]

अष्ट-मंगलों की प्रस्तुति जैन पाण्डुलिपियों के चित्रांकनों में[2], विभिन्न प्रकार के पटचित्रों में और विज्ञप्ति-पत्रों के किनारे की पट्टियों में हुए चित्रांकनों में[3] भी की गयी। जैन मंदिरों में स्थापित धातु-मूर्तियों के साथ, अष्ट-मंगलों से अंकित धातु-निर्मित तश्तरियां (यंत्र) भी स्थापित की और पूजी जाती हैं (द्रष्टव्य—शाह, पूर्वोक्त, १९५५, चित्र ६०)।

अष्ट-मंगलों की पूजा जैन कर्मकाण्ड के अंतर्गत होती है। चौदहवीं शताब्दी के श्वेतांबर ग्रंथ आचार-दिनकर में एक-एक मंगल द्रव्य के प्रतीकार्थ की व्याख्या की गयी है।[4] उसमें लिखा है कि कलश की पूजा का कारण यह है कि तीर्थंकर अपने परिवार में कलश के ही समान होते हैं। दर्पण का उद्देश्य है आत्मा के यथार्थ रूप का दर्शन। भद्रासन की पूजा इसलिए की जाती है कि उसे पुण्यात्मा भगवान् के चरणों ने पवित्र किया है। वर्धमानक संपत्ति, कीर्ति, गुण आदि की समृद्धि का सूचक है। उसमें लिखा है कि तीर्थंकर के हृदय में जो केवल-ज्ञान का उदय हुआ वह उनके वक्षस्थल पर अंकित श्रीवत्स-लांछन के रूप में ही हुआ। इस ग्रंथ के अनुसार स्वस्तिक से स्वस्ति, शांति की अभिव्यक्ति होती है। नव-कोणीय रेखांकन के रूप में जो नंद्यावर्त प्रस्तुत किया जाता है उससे नव-निधियों की प्रतीति होती है। जो कामदेव के ध्वज में भी अंकित होता है ऐसा मत्स्य-युगल सूचित करता है कि कामदेव के विजेता 'जिन' अब पूजा की स्वीकृति के हेतु पधार गये हैं। स्पष्ट है कि ये व्याख्याएं जैन मान्यताओं से अनुप्राणित हैं परंतु ये प्रतीक वे ही हैं जो प्राचीन भारत में कदाचित् सभी संप्रदायों में समान रूप से मान्य रहे।[5]

दिगंबर परंपरा में अष्ट-मंगलों की नामावलि यह है : (१) भृंगार अर्थात् एक प्रकार का घट,

---

1 तथापि, यह स्मरणीय है कि इन आयागपटों की पूजा अष्ट-मंगलों की पूजा तक ही सीमित न थी। स्तूप, चैत्य-वृक्ष, धर्म-चक्र, जिन-मूर्ति, आर्यवती (कदाचित् महावीर की माता), मुनि कण्ह आदि महाविद्वान् आचार्य इत्यादि की पूजा भी उसकी सीमा में थी, जैसाकि उन आयाग-पटों से प्रकट है जिनपर ये मुख्य अंकन प्रस्तुत किये गये है। सब आयाग-पटों से मिलकर वे मुख्य तत्त्व निकाले जा सकते हैं जो कुषाणकालीन मथुरा की पूजा-पद्धति में विद्यमान रहे होंगे.

2 जैन चित्रकल्पद्रुम 1, चित्र 82, 59.

3 त्रिषष्ठि-शलाका-पुरुष-चरित का जॉनसन का अनुवाद, 1, चित्र 4.

4 आचार-दिनकर, पृ 197-98.

5 यह उल्लेखनीय है कि मथुरा के एक लगभग दूसरी शताब्दी ई० के लाल बलुआ पाषाण से निर्मित छत्र पर ये आठ मंगल-चिह्न उत्कीर्ण हैं : (1) नंदिपद (त्रिरत्न के अनुरूप), (2) मत्स्य-युग्म, (3) स्वस्तिक, (4) पुष्प-दाम, (5) पूर्ण-घट, (6) रत्न-पात्र, (7) श्रीवत्स और शंख-निधि. वासुदेव शरण अग्रवाल, 'ए न्यू स्टोन अंब्रेला फ्रॉम मथुरा, जर्नल ऑफ़ द यू पी हिस्टारिकल सोसायटी, 20, 1947, पृ 65-67. प्रश्न व्याकरण सूत्र में छत्र के संबंध में जैन मान्यता और वर्णन के लिए द्रष्टव्य : शाह, ए फर्दर नोट ऑन स्टोन 'अंब्रेला फ्रॉम मथुरा' पूर्वोक्त, 24.

(२) कलश अर्थात् पूर्ण घट, (३) दर्पण, (४) चामर, (५) ध्वज, (६) व्यजन अर्थात् पंखा, (७) छत्र और (८) सुप्रतिष्ठ अर्थात् भद्रासन ।[1]

वैदिक साहित्य में उल्लिखित पूर्ण कलश[2] जीवन, बाहुल्य और अमरत्व की पूर्णता का भारतीय प्रतीक है। विश्व की विभिन्न प्राचीन सभ्यताओं में समान रूप से प्रचलित स्वस्तिक एक ऐसा प्रतीक है जिसकी उत्पत्ति और अवधारणा पर कुछ कहा जाना सरल नहीं है। हाल में पृथ्वीकुमार अग्रवाल ने श्रीवत्स-प्रतीक पर लेख लिखा है जो विष्णु के वक्षस्थल पर उसी प्रकार अंकित किया जाता है जिस प्रकार वह 'जिन' के वक्षस्थल पर किया जाता है। कुषाणकालीन तीर्थंकर-मूर्तियों पर पाया जाने वाला जो श्रीवत्स-प्रतीक का मूल आकार था वह कम से कम आरंभिक मध्य काल तक भुला दिया गया और उसके स्थान पर प्रकंद (राइज़ोम) के आकार का एक प्रतीक प्रचलित हुआ, यद्यपि उसे नाम श्रीवत्स ही दिया गया।

मंगल-प्रतीकों की मान्यता जैन, बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों में बहुत प्राचीन काल से समान रूप से प्रचलित रही। वासुदेव शरण अग्रवाल ने सांची के एक शिल्पांकन मंगलमाला पर पहले ही चर्चा की थी।[3] महाभारत के द्रोणपर्व, ८२,२०-२२ में ऐसे अनेक द्रव्यों का उल्लेख है जिन्हें अर्जुन ने युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय या तो देखा या छुआ, जिनमें कन्याएँ भी थीं।[4] वामन-पुराण, १४,३५-३६ में भी बहुत से मंगल-द्रव्यों का उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी सजीव और अजीव मंगल-द्रव्यों की नामावलि है।[5] मंगलों और मंगल-द्रव्यों की मान्यता रामायण में भी दृष्टिगत होती है।[6]

---

1 **तिलोय-पण्णत्ती**, 4, 738, 1, पृ 236.

2 पूर्ण कलश के लिए द्रष्टव्य : आनंदकुमार कुमारस्वामी, **द यक्षाज़**, भाग 2 (प्रथम संस्करण), पृ 61-64. वासुदेव शरण अग्रवाल, **जर्नल ऑफ़ द यू पी हिस्टॉरिकल सोसायटी**, 17, पृ 1-6 पर. वर्धमानक और श्रीवत्स-प्रतीकों पर कुमारस्वामी ने **ओस्टेसियातिश्चे ज़ीत्सश्रिफ्ट**, 1927-28, पृ 181-82 पर और ई. एच. जॉनसन ने **जर्नल ऑफ़ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी**, 1931, पृ 558 तथा परवर्ती, वही, 1932, पृ 393 और आगे चर्चा की है. स्वस्तिक के लिए नॉर्मन ब्राउन की पुस्तक **द स्वस्तिक** द्रष्टव्य है.

3 वासुदेव शरण अग्रवाल, **हर्षचरित : एक अध्ययन**, पूर्वोक्त, पृ 120.

4 काणे, पूर्वोक्त, 2, पृ 512 भी द्रष्टव्य : उन्होंने **शकुनकारिका** की पाण्डुलिपि से अष्ट-मंगल द्रव्यों के संबंध में एक श्लोक उद्धृत किया है : दर्पणः पूर्ण-कलशः कन्या सुमनसोऽक्षताः । दीपमाला ध्वजा लाजाः संप्रोक्तं चाष्ट मंगलम् ।।

5 **शब्दकल्पद्रुम**, 3, पृ 574 पर उद्धृत. इसी कोष में 1,148, **बृहन्नंदिकेश्वर-पुराण** का एक श्लोक उद्धृत है : मृगराजो वृषो नागः कलशो व्यंजनं तथा । वैजयंती तथा भेरी दीप इत्यष्टमंगलम् ।। **कुशिलत्व** से भी एक उद्धरण है : लोकेऽस्मिन् मंगलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः । हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाष्टमः ।।

6 **रामायण**, 2, 23, 29. और भी द्रष्टव्य : वासुदेव शरण अग्रवाल, 'अष्ट-मंगल-माला' **जर्नल ऑफ़ दि इण्डियन सोसायटी ऑफ़ ओरियण्टल आर्ट**, न्यू सीरीज 2, पृ 1, तथा परवर्ती.

जैन मंदिरों में पूजा के लिए अनेक धातुनिर्मित यंत्र और तांत्रिक रेखांकन स्थापित किये गये। बहुत-से पटों पर रेखांकित अर्थात् वस्त्रों या कागज पर चित्रांकित सूरि-मंत्र, ह्रींकार-यंत्र, वर्धमान-विद्यापट, सिद्ध-चक्र, ऋषि-मण्डल-यंत्र आदि की पूजा जैन साधुओं और श्रावकों द्वारा की जाती है। इनमें से श्रुतस्कंध-यंत्र का दिगंबरों में अत्यंत प्रचलन है जिसका उल्लेख विशेष रूप से किया जाना चाहिए। कभी-कभी उसपर विद्यादेवी श्रुतदेवता की आकृति भी रेखोत्कीर्ण होती है। इस रेखांकन में बारह आगमों के नाम और उनका दिगंबरों के अनुसार, पृथक्-पृथक् ग्रंथ-प्रमाण उत्कीर्ण होते हैं। मूडबिद्री, कर्नाटक के एक ऐसे ही यंत्र का चित्र ३१४ यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

उमाकांत प्रेमानंद शाह

अध्याय 36

स्थापत्य

स्थापत्य-संबंधी परंपराएं और सिद्धांत

प्राचीन काल में स्थापत्य के बोधक विभिन्न शब्द प्रचलित रहे, उनमें वास्तुशास्त्र अधिक व्यावहारिक और तर्कसंगत है। शिल्पशास्त्र का अर्थ भी प्रायः वही है किन्तु वह अधिकतर मूर्तिकला और मूर्तिशास्त्र का बोधक है। स्थापत्य शब्द उसकी अपेक्षा सीमित है और उससे स्थापत्य की किसी विशेष शैली के प्रतिष्ठापक-वर्ग या घराने का, अथवा स्थापत्य या मूर्तियों की निर्माण-शाला का बोध होता है। परंपरागत घरानों[1] के अतिरिक्त, स्थापत्य के कुछ प्रतिष्ठापक-वर्ग और भी हैं। वैश्य, मेवाड़, गुर्जर, पंचोली और पांचाल समूचे पश्चिम-भारत में काष्ठ-शिल्प, पारंपरिक भवनों के निर्माण आदि में विशेष दक्ष माने जाते हैं। जयपुर और अलवर के गौड़ ब्राह्मणों की संगमरमर की शिल्पकला प्रसिद्ध है। कुछ वर्ग धातु-शिल्प और चित्रांकन में भी दक्ष हैं। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और दिल्ली के जांगड़ काष्ठ-शिल्प और पारंपरिक भवनों के निर्माण में प्रसिद्ध हैं।[2]

स्थापत्य की प्राचीन परंपरा इन घरानों की वंश-परंपरा के साथ तो चलती ही रही, उसे अनेक ग्रंथों में लेखबद्ध भी किया गया।[3] इन ग्रंथों में आदि से अंत तक प्रायः एक ही सिद्धांत का अनुसरण है, किन्तु उनमें परस्पर अंतर भी बहुत है; उनके उद्देश्यमूलक अंतर से उपर्युक्त घराने बने और विषयमूलक अंतर से स्थापत्य में नागर, वेसर, द्रविड़ आदि शैलियां प्रचलित हुईं।

---

1 सूत्रधार वीरपाल द्वारा लिखित और प्रभाशंकर ओघड भाई सोमपुरा द्वारा संपादित **प्रासाद-तिलक** (अहमदाबाद, 1972, पृ 6 तथा परवर्ती) में अग्रलिखित घरानों का विवरण है: (1) पश्चिम भारत में सुप्रसिद्ध सोमपुरा घराना जो पारंपरिक स्थापत्य में विशेष दक्ष है और जिसके पास स्थापत्य-संबंधी ग्रंथों का अच्छा संग्रह है; (2) उड़ीसा का महापात्र घराना; (3) दक्षिणापथ का पंचानन घराना जो अब पांच व्यावसायिक वर्गों में विभक्त है—शिल्पी, सुवर्णकार, कांस्यकार, काष्ठकार और लोहकार; (4) आंध्र प्रदेश का तेलंगाना घराना, इसके भी वही पांच व्यावसायिक वर्ग हैं; (5) द्रविड़ क्षेत्र का विराट विश्व ब्राह्मणाचार्य घराना जिसके सदस्यों के गोत्रनाम अगस्त्य, राज्यगुरु और षण्मुख-सरस्वती हैं।

2 वही, पृ 8.

3 प्रसन्न कुमार आचार्य ने ऐसे दो सौ सात ग्रंथों के नाम यथासंभव विवरण के साथ दिये हैं, **डिक्शनरी ऑफ़ हिंदू आर्किटेक्चर**, 1927. इलाहाबाद, परिशिष्ट 2, पृ 805–14.

उक्त ग्रंथों में से विश्वकर्मा के दीपार्णव[1] मण्डन के रूपमण्डन[2] और प्रासादमण्डलन[3], नाथजी की वास्तुमंजरी[4] आदि में यथास्थान जैन स्थापत्य का भी विवेचन हुआ है, किन्तु केवल जैन स्थापत्य पर कदाचित् एक ही ग्रंथ वत्थुसार-पयरण[5] लिखा गया। प्राकृत भाषा के इस ग्रंथ में तीन अध्याय हैं : गृह-प्रकरण, बिंबपरीक्षा-प्रकरण और प्रासाद-प्रकरण। दो सौ तिहत्तर गाथाओं का यह ग्रंथ धंध-कलश कुल के जैन श्रीचंद्र के पुत्र फेरु ने अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में विक्रम संवत् १३७२ (१३१५ ई०) की विजया-दशमी के दिन कल्याणपुर में समाप्त किया। उसी वर्ष उन्होंने दिल्ली में एक और ग्रंथ रत्नपरीक्षा[6] की रचना की, जो कदाचित् ठक्कुर-फेरु-ग्रंथावली में प्रकाशित हो चुका है।[7]

निर्माण-कार्य का दिग्दर्शन[8]

माप आदि के लिए, वत्थुसार-पयरण के अनुसार, आरंभ में आठ उपकरण आवश्यक हैं : दृष्टि-सूत्र अर्थात् केवल देखकर ही समुचित माप का परिज्ञान करना; हस्त अर्थात् एक मापदण्ड जिसकी लंबाई चौबीस अंगुल या ४५ सेण्टीमीटर होती है; मौंज अर्थात् मुंज नामक घास से बनी सूतरी, कार्पासिक अर्थात् कपास से बना लंबा सूत्र; अवलंब या साडुल; काष्ठ-कोण या गुनिया; साधनी अर्थात् आजकल के स्पिरिट लेवल की तरह का एक यंत्र; और विलेख्य या परकार। इनके अतिरिक्त और भी अनेक हथियार रहे होंगे जिनका उल्लेख विभिन्न स्रोतों से प्राप्त हो सकता है।

ईंट और काष्ठ से लेकर स्वर्ण और रत्नों तक की सभी सामग्री उत्कृष्ट कोटि की होनी चाहिए। नवीन और प्रथम बार उपयोग में लायी जा रही सामग्री समृद्धिवर्धक होती है। काष्ठ का उपयोग किया जाये या पाषाण का, इस तथा अन्य प्रकार के सामग्री संबधी प्रश्नों के समाधान निर्माता के वर्ग या जाति और निर्माणाधीन भवन के प्रकार तथा उद्देश्य के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

---

1 संपादक : प्रभाशंकर ओघडभाई सोमपुरा, पालीताना.

2 संपादक : बलराम श्रीवास्तव, 1964, वाराणसी.

3 संपादक : भगवान दास जैन, 1961, अहमदाबाद.

4 संपादक : प्रभाशंकर ओघडभाई, सोमपुरा, **प्रासादमंजरी** नामक ग्रंथ के अंतर्गत, 1965, अहमदाबाद.

5 संपादक : भगवानदास जैन, 1936, जयपुर. इस अध्याय के संबद्ध भाग इसी ग्रंथ पर आधारित हैं, जहाँ अन्य ग्रंथ का आधार लिया गया है वहाँ उसका उल्लेख किया गया है। [इस ग्रंथ के महत्त्व के लिए द्वितीय भाग में अध्याय 28 द्रष्टव्य है।—संपादक]

6 भगवानदास जैन, वही; वे लिखते हैं : 'प्रथम पत्र नहीं है यह श्री यशोविजय जैन गुरुकुल के संस्थापक श्री चारित्र विजय महाराज द्वारा प्राप्त हुई है'.

7 भंवरलाल नाहटा द्वारा संपादित होने के उल्लेख के लिए द्रष्टव्य : **मुनिश्री हजारीमल स्मृतिग्रंथ**, 1966, ब्यावर, पृ 105 (लेखक-परिचय)।

8 सामान्यतः **वत्थुसार-पयरण** पर आधारित.

भूमि के घनत्व की परीक्षा के लिए उसमें एक चौबीस अंगुल का गड्ढा खोदा जाये और उसे उसी की मिट्टी से भरा जाये। उस समूची मिट्टी के भर दिये जाने पर भी गड्ढा जितना रिक्त रहे उतना ही कम घनत्व उस भूमि का समझा जाये। इसके विपरीत, गड्ढा भर जाने पर भी मिट्टी बची रहे तो जितनी वह बच रहे उतना ही अधिक घनत्व उस भूमि का समझा जाये। भूमि के घनत्व की परीक्षा की एक अन्य विधि के अनुसार वैसा ही एक गड्ढा खोदा जाये और उसमें जल भर दिया जाये। सौ डग चलकर आने-जाने में जितना समय लगता है उतने समय में वह जल जितना कम सोखा जाये उतना ही अधिक घनत्व उस भूमि का समझा जाये। इन दो में से किसी एक विधि से परीक्षा करके ही भूमि के घनत्व को उत्कृष्ट या निकृष्ट माना जाये। भूमि के रंग विभिन्न वर्णों या जातियों के अनुसार फलदायक होते हैं, ब्राह्मण के लिए श्वेत, क्षत्रिय के लिए लाल, वैश्य के लिए पीला और शूद्र के लिए काला रंग समृद्धि-वर्धक है।

भूमि का चुनाव सभी दृष्टियों से सतर्कतापूर्वक किया जाये। मिट्टी में या भूमि के किसी भी भाग में कोई दोष रहे तो उससे भूस्वामी को निर्धनता, रोग आदि कष्ट हो सकते हैं। जिस स्थान पर किसी निकटवर्ती मंदिर के ध्वज की छाया दिन के दूसरे और तीसरे पहर में पड़ती हो वह स्थान कभी न चुना जाये। अस्थि, कोयला आदि कोई भी शल्य या अनिष्टकारक वस्तु न तो भूमि के ऊपर रहने दी जाये और न भीतर, उसे निकालने के लिए एक पुरुष की गहराई तक भी उत्खनन कराना पड़े तो वह भी कराया जाये। शल्य का परिज्ञान शेषनाग-चक्र की सहायता से किया जा सकता है। उत्खनन की आवश्यकता पड़े तो वह कई भागों में कराया जाये और शेषनाग-चक्र या वृषवास्तु-चक्र आदि नैमित्तिक विधान के अनुसार उत्खननों में समय का अंतराल भी रखा जाये।

विन्यास-रेखा के निर्धारण में दिशाओं का पर्याप्त ध्यान रखा जाना चाहिए। दिशा-सूचक रेखा का परिज्ञान दिक्-साधक शंकु अर्थात् दिशा-सूचक स्तंभ से किया जाये। इसी प्रकार, भूमि को सम-चतुष्कोण भी ध्यानपूर्वक बनाया जाये। इसके अतिरिक्त, भूमि का तल भी, विशेष रूप से मंदिरों और राजप्रासादों के लिए, एकसर बना ही लिया जाये। निर्माण का कार्यारंभ कुछ विशेष मासों में और कुछ विशेष राशियों, नक्षत्रों और ग्रहों के उदयकाल में ही किया जाये, यदि ये सभी एक साथ अनुकूल स्थिति में हों तो उत्तम है। किन्तु, आवासगृह यदि काष्ठ, घास आदि से बनाया जाये तो यह विधान अनिवार्य नहीं। इस नैमित्तिक विधान का पालन, शिलान्यास और द्वार-प्रवेश के अवसर पर भी किया जाये। इन दोनों अवसरों पर धार्मिक अनुष्ठान भी किये जा सकते है। स्थपति का यथोचित सम्मान अवश्य किया जाये।

आवासगृह और उसके भागों का माप आयादि-षड्वर्ग अर्थात् छह-सूत्री सिद्धांत के अनुरूप होना चाहिए। आवासगृह या उसके किसी भाग की भूमि का आठवाँ भाग आय कहलाता है। ध्वज, धूम्र, सिंह, श्वान, वृष, खर, गज और ध्वांक्ष नामक आठों प्रकार के आय निमित्तशास्त्र के अनुरूप तथा उनकी अपनी-अपनी दिशा के आधार पर विभिन्न प्रकृति के होते हैं और इसीलिए वे गृहस्वामी

को उसके व्यवसाय, वर्ण, जाति आदि के अनुसार फलदायक भी हो सकते हैं। आवासगृह के नक्षत्र का क्रमांक वही होगा जो उसके क्षेत्रफल के अंकों में ८ का गुणा करके २७ का भाग देने पर आये। आवासगृह और गृहस्वामी के नक्षत्र में परस्पर अनुकूलता से ही समृद्धि संभव है। गृहस्वामी की समृद्धि के लिए राशि की अनुकूलता भी अनिवार्य है। आवासगृह की राशि का क्रमांक उसके नक्षत्र के क्रमांक में ४ का गुणा करके ९ का भाग देने से प्राप्त होता है। समृद्धि के लिए नक्षत्र और राशि की परस्पर एकरूपता भी आवश्यक है। आवासगृह के नक्षत्र के क्रमांक में ८ का भाग देने पर जो शेष बचे वह व्यय कहलाता है। गृहस्वामी की समृद्धि की दृष्टि से नक्षत्र और व्यय की परस्पर अनुकूलता भी आवश्यक है। आवासगृह के नाम या प्रकार के अक्षरों की संख्या और व्यय के रूप में प्राप्त संख्या को आवास गृह के क्षेत्रफल की संख्या में जोड़कर उसमें ३ का भाग देने पर जो शेष बचे वह अंश कहलाता है। १, २, या ३ अर्थात् ० शेष बचने पर अंश का अधिकारी क्रमशः इंद्र, यम और राजा होता है। तारा भी एक ऐसा तत्त्व है जो गृहस्वामी की समृद्धि को प्रभावित करता है। आवासगृह के और गृहस्वामी के नक्षत्र के क्रमांकों में जो अंतर हो वह तारा का क्रमांक है।

इस आयादि षड्वर्ग के सिद्धांत की आवश्यकता कदाचित् इस कारण से और भी है कि जब भवन या उसके किसी भाग के माप पर विभिन्न ग्रंथों में विभिन्न संख्याएँ लिखी मिलती हैं तब इस सिद्धांत को निर्णयिक माना जाता है। स्थापत्य के अतिरिक्त मूर्तिकला में भी इस सिद्धांत का विधान है, किन्तु उसके यथार्थ भाव का अनुगमन कदाचित् ही हो सका। तथापि, उसकी यथार्थ व्याख्या सहज संभाव्य न होने पर भी, उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

वास्तुपुरुष-चक्र नामक एक सिद्धांत और भी प्रचलित है जिससे भवन के अधिष्ठान, पाद या स्तंभ, प्रस्तार, कर्ण, स्तूपी, शिखर आदि भागों की आनुपातिक संयोजना में सहायता मिलती है। इस सिद्धांत के कई रूपों मे से एक रूप का परिज्ञान रेखाचित्र २८(पृ ५१३) से होगा। रेखाचित्र में जहाँ वास्तुपुरुष के केश, मस्तक, हृदय और नाभि पड़ते है वहाँ स्तंभ न बनाया जाये। इसी प्रकार के और बहुत से विधान हैं।

आवासगृह और राजप्रासाद

जैन ग्रंथों में आवासगृहों और राजप्रासादों के अतिरिक्त चंपा, राजगृह, श्रावस्ती आदि पौराणिक नगरियों, और लोक के वर्णन में उल्लिखित कच्छा नामक तथा अनेक पाताल-स्थित नगरियों के सविस्तार विवरण प्राप्त होते हैं, किन्तु वे सभी अधिकतर पिष्ट-पेषण मात्र हैं और निर्माण-कला अथवा स्थापत्य से संबद्ध तत्त्व उनमें नगण्य हैं। उन विवरणों में जो स्थापत्य और मूर्तिकला से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है वह अवश्य ही उल्लेखनीय है क्योंकि उससे देश के विभिन्न भागों में लिखे गये स्थापत्य और मूर्तिकला के ग्रंथों के क्रमिक विकास और उनके व्यावहारिक प्रयोग के तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से एक निष्कर्ष यह भी निकलता है
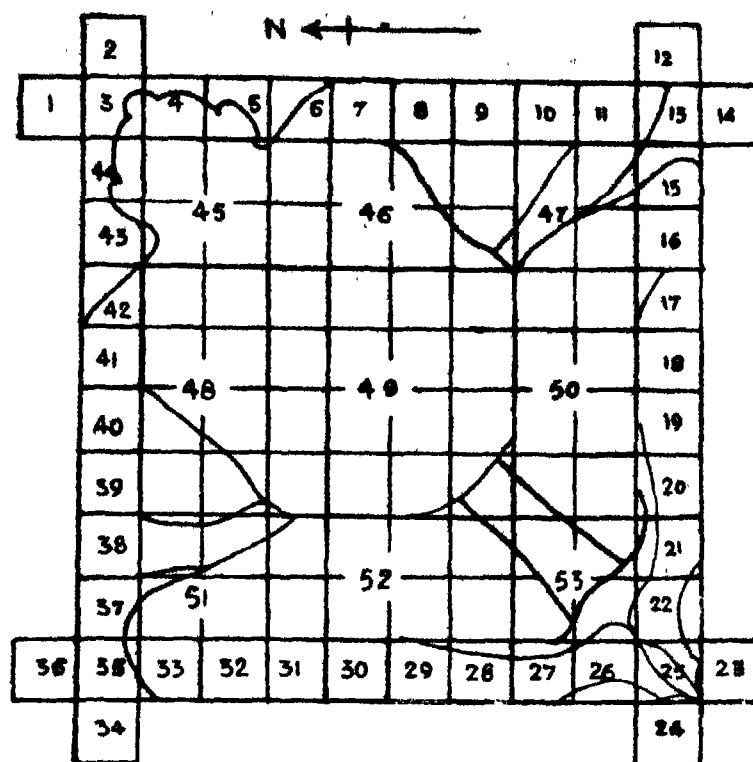
रेखाचित्र 28. वास्तुपुरुष-चक्र (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1. चरकी राक्षसी; 2. पीलीपीछा; 3-4. ईश; 5. पर्जन्य; 6. जय; 7. इंद्र, 8. सूर्य; 9. सत्य; 10. भृश; 11. आकाश; 12. विदारिका; 13. सविता; 14. जंघा; 15. अग्नि; 16. पूषन्; 17. वितथ; 18. गृह्-क्षत; 19. यम; 20. गंधर्व; 21. भृंग; 22. मृग; 23. पूतना; 24. स्कदा; 25. जया; 26. पितृ; 27. नंदिन्; 28. सुग्रीव; 29. पुष्पदंत; 30. वरुण; 31. असुर; 32. शेष; 33. पाप-यक्ष्मन्; 34. पापा; 35. पाप-यक्ष्मन्; 36. अर्यमन्; 37. रोग; 38. नाग; 39. मुख्य; 40. भल्लाट; 41. कुबेर; 42. शैल; 43. अदिति; 44. दिति; 45. आप और आपवत्स; 46. अर्यमन्; 47. सावित्र और सविता; 48. पृथ्वीधर; 49. ब्रह्मन्; 50. वैवस्वत; 51. रुद्र और रुद्रदास; 52. मैत्र; 53. इंद्र

कि प्राचीन जैन ग्रंथकार विधि-निषेधों की तालिकाएँ बना देने मात्र की अपेक्षा दैनंदिन जीवन के चित्रण को अधिक महत्त्व देते थे।

स्थापत्य के आरंभिक सिद्धांतों की दृष्टि से आवासगृह और मंदिर में अधिक अंतर नहीं। अतः जो अंतर है, केवल वही यहाँ उल्लेखनीय है।

मुख्य द्वार या सिंह-द्वार की दिशा और स्थिति का निर्धारण सतर्कतापूर्वक स्थापत्य के सिद्धांतों और नैमित्तिक विधानों के अनुरूप ही किया जाये। । तल, कोण, तालु, कपाल, स्तंभ, तुला और द्वार नामक सात प्रकार का वेध या बाधक तत्त्व प्रत्येक संभव उपाय द्वारा आवासगृह से निकाल

दिया जाये। गृह का अग्र-भाग पृष्ठ-भाग से जितना सँकरा हो उतना ही अच्छा, अग्र-भाग से पृष्ठ-भाग जितना ऊँचा हो उतना ही अच्छा। दूकान का अग्र-भाग पृष्ठ-भाग से चौड़ा और ऊँचा होना चाहिए।

मुख्य द्वार पूर्व में होना चाहिए, रसवती या पाकशाला नैर्ऋत्य अर्थात् दक्षिण-पश्चिम कोण में, शयनागार दक्षिण में, शौचालय या नीहारस्थान दक्षिण-पूर्व कोण में, भोजनशाला पश्चिम में, आयुधागार उत्तर-पश्चिम में, कोषागार उत्तर में और धर्मस्थान उत्तर-पूर्व में। गृह का मुख यदि पूर्व में न हो तो जिस दिशा में हो उसी को पूर्व मानकर उक्त क्रम को बनाये रखना चाहिए।

प्रवेश-द्वार से संयुक्त बाहरी बरामदा अलिंद है। पट्टशाला या मुख्य कक्ष और उससे संयुक्त कक्षशाला या छोटा कमरा तथा अन्य भाग आवासगृह की इकाई हैं। अलिंद १०७ अंगुल ऊँचा और ८५ अंगुल लंबा हो। गृह की चौड़ाई में ७० जोड़कर उसमें १४ का भाग देने पर जो भजनफल आये उतने हस्त शाला की चौड़ाई हो, और उसमें ३५ जोड़कर १४ का भाग देने से जो भजनफल आये उतने हस्त अलिंद की चौड़ाई हो, यह राजवल्लभ की मान्यता है जबकि समरांगण सूत्रधार के अनुसार सब प्रकार के आवासगृहों में अलिंद की चौड़ाई शाला के आकार से आधी होनी चाहिए। अलिंद गृह के पृष्ठ-भाग में या बिलकुल दायें या बायें बना हो तो उसे गुजारी कहा जाता है, यह कदाचित् स्थानीय शब्द है।

एकमात्र कक्ष भी गृह कहा जा सकता है। पट्टशाला से एक या दो या तीन अलिंद संबद्ध हो सकते हैं। उसकी दोनों भित्तियों में जालिक या जालीदार झरोखे हो सकते हैं और एक मण्डप या खुला कक्ष भी हो सकता है। जालक एक छोटे द्वार के समान होता है, अर्थात् बिना जाली की खिड़की। गवाक्ष और वातायन यदि जालीदार हों तो उनमें और जालिक में कदाचित् कोई अंतर नही होता। षड्दारु काष्ठ से निर्मित एक स्तंभ है। भारवट काष्ठ से निर्मित कड़ी है जिसे संस्कृत में पीठ या धरण कहते हैं।

पृष्ठ-भाग की भित्ति में झरोखा, यहाँ तक कि छोटा-सा छिद्र भी, किसी भी स्थिति में न बनाया जाये। झरोखा इतनी ऊँचाई पर बनाया जाये कि पास वाले गृह के झरोखे से वह नीचा न पड़े। एक से अधिक तल वाले गृह में एक द्वार के ऊपर एक से अधिक द्वार, तथा किसी स्तंभ के ऊपर द्वार न बनाया जाये। आँगन तीन या पाँच कोणों का न रखा जाये। पशुओं के लिए घर के बाहर पृथक् कक्ष हो।

आवासगृह का विस्तार गृहस्वामी की प्रतिष्ठा के अनुरूप होना चाहिए। राजा, प्रधान सेनापति, प्रधान मंत्री, युवराज, राजा के अनुज, रानी, ज्योतिषी, वैद्य और पुरोहित के गृह क्रमशः १०८ गुणित १३५, ६४ गुणित ७४$\frac{२}{३}$, ६० गुणित ६७$\frac{१}{२}$, ८० गुणित १०६$\frac{२}{३}$, ४० गुणित ५३$\frac{१}{३}$, ३० गुणित ३३$\frac{३}{४}$, ४० गुणित ४६$\frac{२}{३}$, ४० गुणित ४६$\frac{२}{३}$ और ४० गुणित ४६$\frac{२}{३}$ हस्त के हों। यह विस्तार

एक निश्चित माप में कम भी किया जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अंत्यज या चण्डाल के गृह क्रमशः ३२ गुणित ३५३, २८ गुणित ३१३, २४ गुणित २८, २० गुणित २५ और १६ गुणित २० हस्त के हों। गृह की चौड़ाई के सोलहवें भाग में चार हस्त जोड़ने से प्रथम तल की ऊँचाई निकाली जाये।

विभिन्न भागों की विविधता और संख्या तथा अन्य विशेषताओं के कारण आवासगृह सोलह हजार तीन सौ चौरासी प्रकार के हो सकते हैं। संक्षेप में, आवासगृहों के सोलह सार्थक नाम हैं : ध्रुव, धन्य, जय, नंद, खर, कांत, मनोरम, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, सुपक्ष, धनद, क्षय, आक्रंद, विपुल और विजय।

आवासगृहों को उनके माप और स्थिति के अनुसार चौंसठ सार्थक नाम दिये जा सकते हैं : (१-८) शांतन, शांतिद, वर्धमान, कुक्कुट, स्वस्तिक, हंस, वर्धन, कर्बुर ; (९-१६) शांत, हर्षण, विपुल, कुरल, वित्त, चित्त या चित्र, धन, कालदण्ड ; (१७-२४) भद्रक, पुत्रद, सर्वांग, कालचक्र, त्रिपुर, सुंदर, नील, कुटिल ; (२५-३२) शाश्वत, शास्त्रद, शील, कोटर, सौम्य, सुभग, भद्रमान, क्रूर ; (३३-४०) श्रीधर, सर्वकामद, पुष्टिद(क), कीर्तिनाशक, शृंगार, श्रीवास, श्रीशोभ, कीर्ति-शोभनक ; (४१-४८) युगश्रीधर, बहुलाभ, लक्ष्मीनिवास, कुपित, उद्योत, बहुतेजस्, सुतेजस्, कलहावह ; (४९-५६) विलास, बहुनिवास, पुष्टिद(ख), क्रोधसन्निभ, महांत, महित, दुःख, कुलच्छेद; (५७-६४) प्रतापवर्धन, दिव्य, बहुदुःख, कण्ठच्छेदन, जंगम, सिंहनाद, हस्तिज और कण्टक।

आवासगृहों को एक अन्य प्रकार से आठ वर्गों में भी रखा जा सकता है : सूर्य, वासव, वीर्य, कालाक्ष, बुद्धि, सुव्रत, प्रासाद और द्विवेध। इनमें से प्रत्येक सोलह प्रकार का होता है अतः समूची संख्या एक सौ अट्ठाइस होगी।

इन सबके अतिरिक्त एक प्रकार से और भी आवासगृहों का, विशेषतः राजाओं के आवासगृहों का, वर्गीकरण संभव है। आवासगृह की वर्तुलाकार संयोजना का निषेध है, केवल राजा यदि चाहे तो उसके लिए विधान है।

मंदिर की मान्यता

संस्कृत के दो शब्द 'मंदिर' और 'आलय' सामान्य रूप से किसी छायावान् वास्तु का बोध कराते हैं, किन्तु उनका एक अर्थ, विशेष रूप से जैन धर्म के संदर्भ में, 'देवालय' भी है ; पर जैन धर्म में इन दोनों शब्दों से भी प्राचीन शब्द है—'आयतन', जिसका अस्तित्व महावीर के काल में भी था क्योंकि वे अपने विहारों के समय यक्षायतनों में ठहरा करते थे। बाद में इस आयतन शब्द का उपयोग

जिनायतन शब्द के अंतर्गत होने लगा और उसके भी बाद मंदिर, आलय, गेह, गृह आदि शब्दों ने उसका स्थान ले लिया।

जैन धर्म में मंदिर की मान्यता का रहस्य कदाचित् कहीं प्रकट नहीं किया गया। मंदिर अनिवार्य रूप से किसी तीर्थंकर को समर्पित होता है इसलिए उसे एक स्मारक की संज्ञा देना किसी सीमा तक तर्कसंगत हो सकता है पर यह निश्चित है कि मंदिर ऐसा स्मारक नहीं जो किसी के अंतिम संस्कार के स्थान पर अथवा अस्थि आदि अवशेषों पर निर्मित किया जाता है।[1] इसके विपरीत, मंदिर को एक अतदाकार स्थापना या प्रतीक मानना अधिक तर्कसंगत होगा ; वह मेरु का नहीं बल्कि समवसरण का प्रतीक हो सकता है (पृष्ठ ५४४) जो तीर्थंकर की सभा के लिए दिव्य माया से निर्मित एक विशाल प्रेक्षागृह होता है ; और पाँचों परमेष्ठियों में जिनकी वंदना सर्वप्रथम की जाती है[2] उनमें तीर्थंकर ही ऐसा है जो अपना उपदेश केवल समवसरण में देता है और मूर्ति के रूप में सर्व-प्रथम अंकन भी उसी का हुआ और उसी का तदाकार प्रतीक प्रत्येक मंदिर में मूलनायक के स्थान पर अनिवार्य है। अनेक प्राचीन और नवीन मंदिरों के समक्ष मानस्तंभ विद्यमान हैं जो समवसरण का ही एक भाग होता है (पृष्ठ ५४५)। यही कारण है कि एक बार मंदिर-स्थापत्य के रूप में प्रतीकबद्ध हो चुका समवसरण दूसरी बार किसी लघु प्रतीक के रूप में भी प्रस्तुत नहीं किया गया। जैन धर्म में समवसरण की मान्यता असाधारण है, उसे स्तूप या ऐडूक, जारूक या जालूक और ज़िग्गुरात पर (पृष्ठ ५४४) आदि किसी के अंतिम संस्कार के स्थान पर अथवा अस्थि आदि अवशेषों पर निर्मित स्मारकों की श्रेणी में रखना अनुचित होगा। चैत्य शब्द का उल्लेख यदि यहाँ किया जा सके तो उससे इस मान्यता को बल मिलेगा। आयतन और चैत्य, इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है।[3] ग्रंथों में समवसरण की जो रचना वर्णित है वह इतनी जटिल है कि उसके प्रतीक के रूप में मंदिर को जो आकार मिला उसमें यद्यपि उन ग्रंथों के अनेक विधानों का पालन किया गया और उसका विस्तार भी यथासंभव विशाल रखा गया, तथापि उस देवगृह का नाम समवसरण नहीं बल्कि आयतन या चैत्य के रूप में प्रचलित हुआ। महावीर अपने विहार के समय चैत्यों में भी रुकते थे जो कदाचित् आयतन या मंदिर ही थे, जिनमें ही रुकने का विधान मुनियों के आचार-शास्त्र में है। चैत्य शब्द के, बाद में या साथ-ही-साथ अनेक अर्थ प्रचलित हुए। उसका एक अर्थ मूर्ति भी हुआ जिसके मंदिर में स्थापित किये जाने पर चैत्य-विहार, चैत्य-गृह, चैत्यालय आदि ऐसे शब्द बने जिनका एक-जैसा अर्थ मंदिर निकलता है।

इस मान्यता के आधार पर उद्भूत जैन मंदिर का विकास अपनी समकालीन परंपराओं के मंदिरों के साथ एक ही प्रवाह में कभी तीव्र और कभी मंद गति से, निरंतर होता रहा। यही कारण

1 'इसमे संदेह नहीं कि मंदिरो और अंतिम सस्कार के स्थानों में कोई एकरूपता है.' आनंदकुमार कुमारस्वामी, **हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट**, 1927. न्यूयार्क, पृ 47.

2 **भगवती-आराधना**, 1935, शोलापुर, पृ 46.

3 'चैत्यमायतनं' तुल्ये, **अमरकोष**, 2, 2, 7.

है कि अन्य परंपराओं के मंदिरों के मध्य एक जैन मंदिर की पहचान के लिए सूक्ष्म परीक्षा की आवश्यकता होती है, या फिर उसके लिए किसी अभिलेख, या साहित्य का स्पष्ट उल्लेख, या परंपरागत प्रमाण, या किसी मूर्ति का होना आवश्यक है। जैन मूर्तिकला का विकास भी समकालीन परंपराओं के साथ हुआ किन्तु एक ही प्रवाह में नहीं, जबकि जैन मंदिर उसी प्रवाह में विकसित हुआ, इसका परिणाम यह भी हुआ कि जैन स्थापत्य के सिद्धांत का प्रतिपादन करने को पृथक् रूप से लिखे गये ग्रंथों की संख्या अत्यंत कम है।

मंदिर के अंग और भेद[1]

देव-प्रासाद का गर्त-विवर या नीव का गड्ढा इतना गहरा हो कि वहाँ या तो भूगर्भ से जल निकलने लगे या शिला-तल निकल आये। गर्त-विवर के मध्य में धार्मिक अनुष्ठानों के साथ एक कूर्मशिला की स्थापना की जाये जिसपर कूर्म की आकृति उत्कीर्ण हो, और चारों दिशाओं और चारों विदिशाओं में एक-एक खुर-शिला स्थापित की जाये जिनपर विभिन्न वस्तुएँ उत्कीर्ण हों (रेखाचित्र २९)। इसके पश्चात् विवर को सघनता से भर दिया जाये और उसके तल को कूटकर ठोस बना दिया जाये।
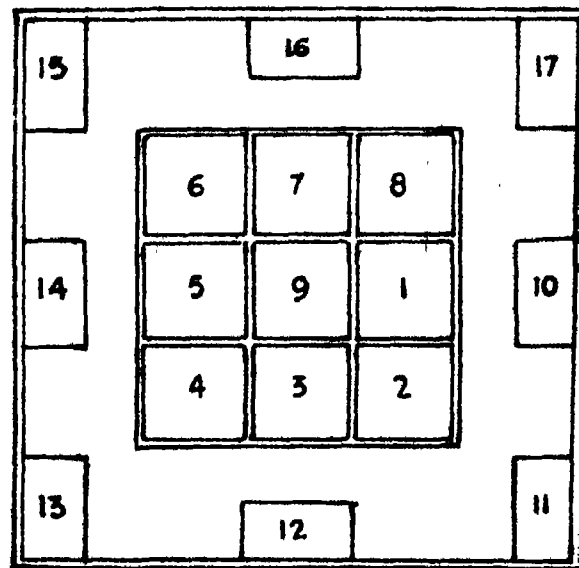
रेखाचित्र 29. कूर्म-शिला (भगवान दास जैन के अनुसार) : 9. कच्छप; 7. लहर; 8. मीन; 1. मेंढक; 2. मकर; 3. ग्रास; 4. पूर्ण घट; 5. सर्प; 6. शख; 16. वज्र; 17. शक्ति; 10. दण्ड; 11. कृपाण; 12. नाग-पाश; 13. पताका; 14. गदा; 15. त्रिशूल

1 मुख्यतः वत्थुसार-पयरण पर आधारित.

इस विधि से निर्मित भू-तल पर पीठ या अधिष्ठान अर्थात् चौकी का निर्माण किया जाये (रेखाचित्र ३० और ३१)। पीठ या अधिष्ठान, परिस्थितियों के अनुसार, समतल भी बनाया जा सकता है (रेखाचित्र ३२) और उसपर एक से पाँच तक स्तर भी बनाये जा सकते हैं जिन्हें थर या प्रस्तर-गल कहते हैं (रेखाचित्र ३३)। कोण या कर्ण, प्रतिरथ, रथ, भद्र और मुखभद्र पीठ के विभिन्न घटक या गोटा हैं, पर उन्हें भवन का ही अंग माना गया है, किन्तु नंदी, कर्णिका, पल्लव, तिलक और तवंग पीठ के घटक होने पर भी प्रासाद के अलंकारक तत्त्वों में परिगणित हैं।
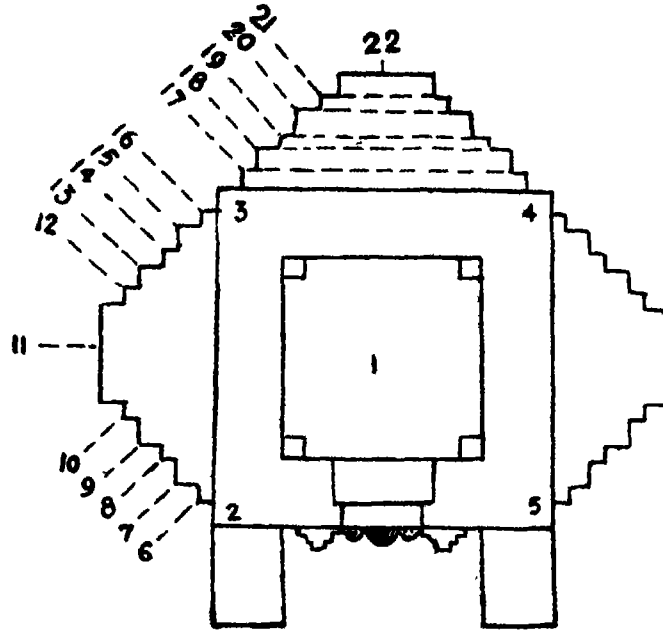
रेखाचित्र 30. सम-दल प्रासाद (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1. गर्भ-गृह; 2-5 कर्ण-रेखा; 6, 8, 10, 12, 14, 16, 17, 19, 21. नंदी; 7, 15, 18. प्रतिकर्ण; 9, 13, 20. उपरथ; 11. भद्र-रथ; 22. भद्र-रथिका

मण्डोवर के तेरह अंग होते हैं जो रेखाचित्र ३४-१ में (पृ. ५२२ दिखाये गये हैं। मण्डोवर शब्द पश्चिम भारत में प्रचलित है और संस्कृत के मण्डपवर या मण्डपधर शब्द का स्थानीय अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है। मण्डोवर वास्तव में भित्ति या बाहरी दीवार है जिसपर प्रासाद के एक या अनेक मण्डपों की छत आधारित होती है। सूत्रधार मण्डन ने मण्डोवर के चार भेद बताये हैं : नागर, मेरु (रेखाचित्र ३४-२), सामान्य (रेखाचित्र ३४-३) और प्रकारांतर।

शिखर एक वर्तुलाकार छत है जो भवन पर उल्टे प्याले की भाँति ऊपर को ऊँची होती जाती है।[1] उसके ऊँचे भाग में चार अंग होते हैं : शिखर, शिखा, शिखांत और शिखामणि (रेखाचित्र ३५); उसके अंगों का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है : छाद्य, शिखर, आमलसार या

1 प्रसन्न कुमार आचार्य, डिक्शनरी ऑफ् हिंदू आर्किटेक्चर, 1927. लंदन आदि, पृ 588.

आमलक (रेखाचित्र ३६) और कलश (रेखाचित्र ३७), जिसमें कर्णरेखाएं, प्रतिकर्ण या उपरथ और उरुशृंग भी निर्दिष्ट हैं)। आमलक के अंग हैं गल, अण्डक, चंद्रिका और आमलसारिका। कलश साधारणत: शिखर का सबसे ऊपर का भाग कहलाता है। उसके अंग हैं गल, अण्डक, कर्णिका और बीजपूरक। शुकनासा या शुकनासिका शिखर का वह भाग है जिसका आकार तोते की चोंच की भांति होता है। शिखर के ऊपरी भाग पर दण्ड सहित ध्वज (रेखाचित्र ३८) स्थापित किया जा सकता है।
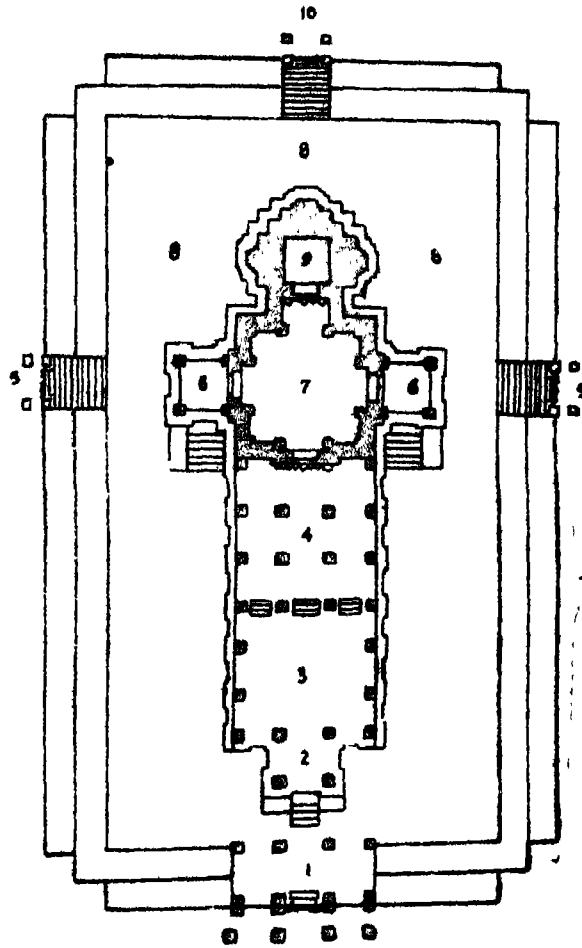
रेखाचित्र 31. मंदिर की विन्यास-रेखा (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1. बलानक; 2. शृंगार-चतुष्की; 3. रंग-मण्डप; 4. नव-चतुष्की; 5. द्वार; 6. चतुष्की; 7 गूढ-मण्डप; 8. जंघा; 9. गर्भ-गृह; 10. द्वार

द्वार की चौड़ाई ऊँचाई से आधी, अर्थात् सोलह अंगुल से सात हस्त के मध्य हो। द्वार की चौखट पर यथोचित स्थान पर तीर्थंकरों, प्रतीहार-युगल, मदनिका आदि की आकृतियाँ उत्कीर्ण की

जायें (रेखाचित्र ३६)। जीर्णोद्धार के समय मंदिर का मुख्य द्वार स्थानांतरित न किया जाये और न ही उसमें कोई मौलिक परिवर्तन किया जाये।
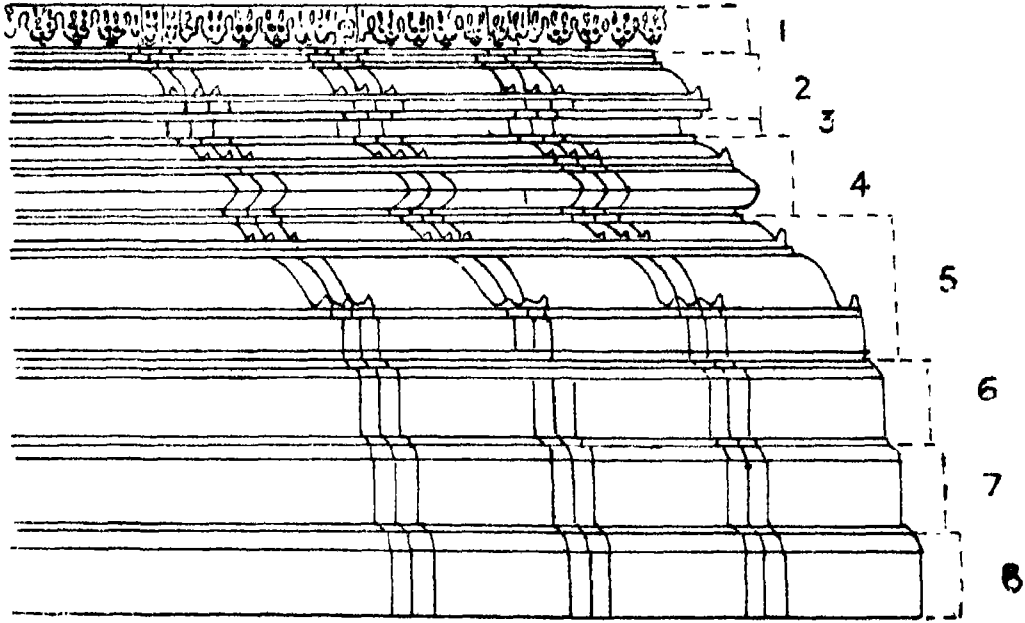
रेखाचित्र 32. पीठ (भगवान दास जैन के अनुसार). 1. ग्रास-पट्टी; 2. केवाल; 3. अंतर-पत्र; 4. कर्ण; 5. जाड्य-कुंभ; 6-8. भित्ति

जगती पीठ या अधिष्ठान का एक घटक है। एक अन्य परिभाषा के अनुसार जितनी भूमि पर मंदिर का भवन निर्मित होता है उतनी भूमि जगती है (रेखाचित्र ३१)। जगती को आधार मानकर ही प्रासाद या मंदिर के मुख्य भाग और उसके अंगों की आनुपातिक स्थिति निर्धारित होती है। पीठ के भूतल के रूप में दृश्य जगती पर चतुर्दिक् द्वारों-सहित प्राचीर का निर्माण किया जाये।

मण्डप के कई भेद हैं: प्रासाद-कमल जिसे गर्भगृह या मंदिर का मुख्य भाग भी कहते हैं; गूढ-मण्डप अर्थात् भित्तियों से घिरा हुआ मण्डप; त्रिक-मण्डप जिसमें स्तंभों की तीन-तीन पंक्तियों द्वारा तीन आड़ी और तीन खड़ी वीथियाँ बनती हैं; रंग-मण्डप जो एक प्रकार का सभागार होता है; और सतोरण बलानक अर्थात् मेहराबदार चबूतरे। मण्डप की चौड़ाई गर्भगृह की चौड़ाई से डेढ़गुनी या पौने-दोगुनी हो। स्तंभों की ऊँचाई मण्डप के व्यास की आधी हो, किन्तु अधिक व्यावहारिक यह होगा कि स्तंभ की ऊँचाई सामान्यत: उसकी पीठ की ऊँचाई से चौगुनी हो, उसकी चौकी उसके पीठ से दोगुनी या तिगुनी हो और ऊर्ध्व भाग पीठ के बराबर या उससे दोगुना हो। जल-प्रणालिका या जल का प्रवाह बायीं ओर या दक्षिण दिशा में होना चाहिए।
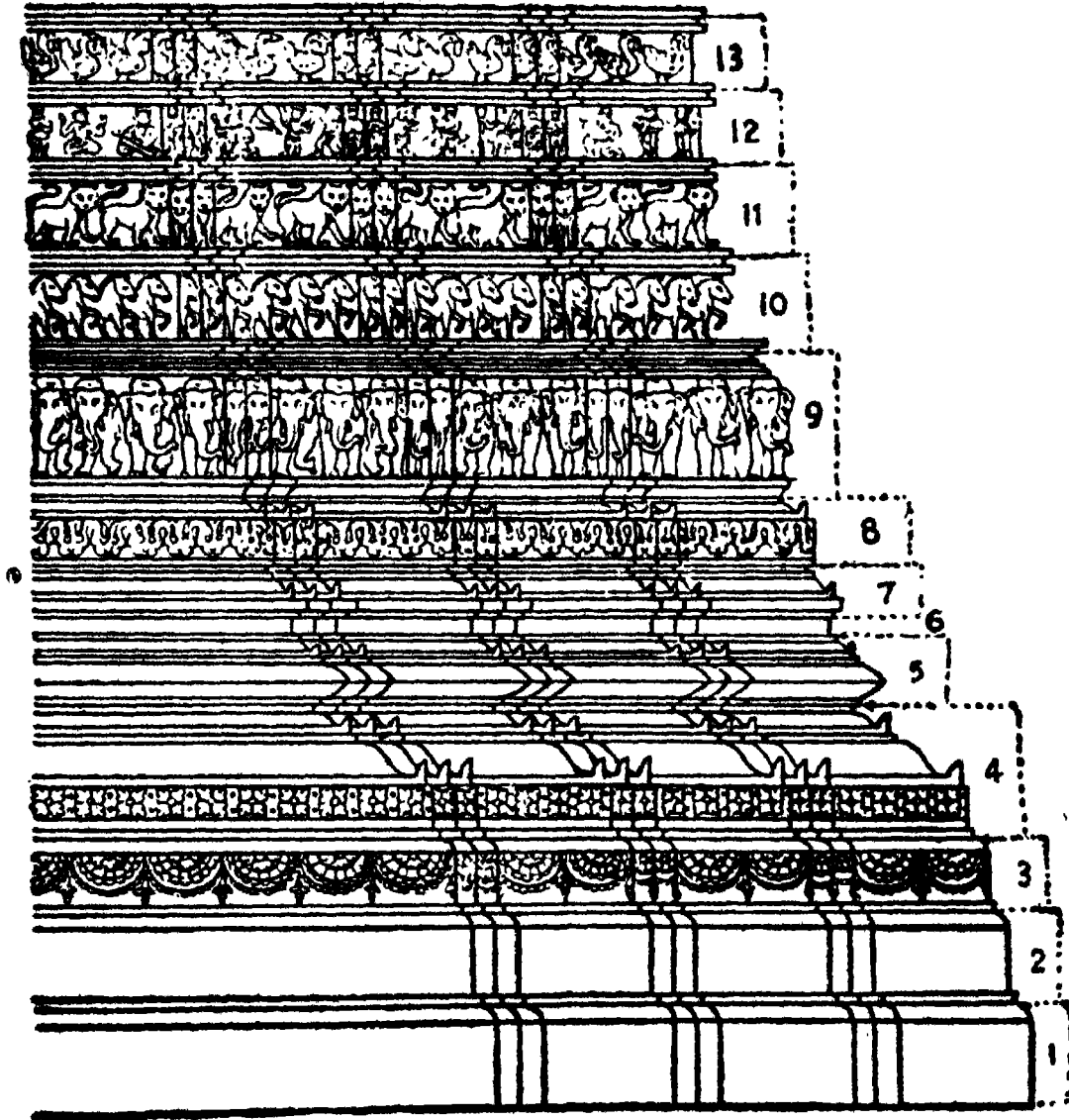
रेखाचित्र 33. पाँच थर-सहित पीठ (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1-3. भित्ति; 4 .जाड्य-कुंभ; 5. कर्ण; 6. अंतर-पत्र; 7. केवाल; 8. ग्रास-पट्टी; 9. गज-थर; 10. अश्व-थर; 11. सिंह-थर; 12. नर-थर; 13. हंस-थर
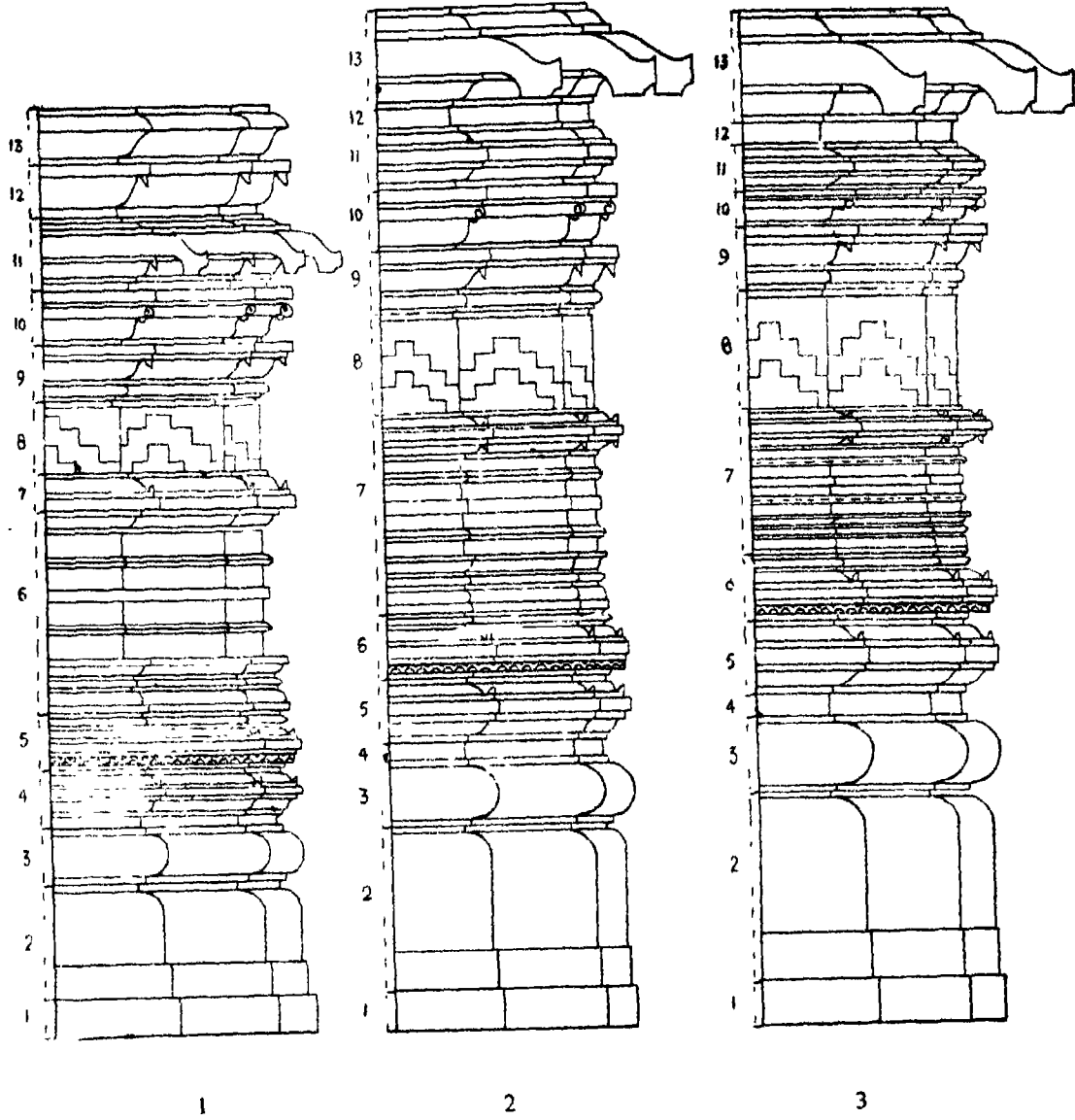
रेखाचित्र 34. मण्डोवर के प्रकार (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1. पच्चीस भागों का मण्डोवर; 2. मेरु-मण्डोवर; 3. सामान्य-मण्डोवर (1. खुर, 2. कुंभ; 3. कलश; 4. केवाल; 5. मची; 6. जंघा; 7. छज्जी; 8. उरु-जघा; 9. भरणी; 10. शिरावटी; 11. छज्जा; 12. विराडु; 13. प्रहार)
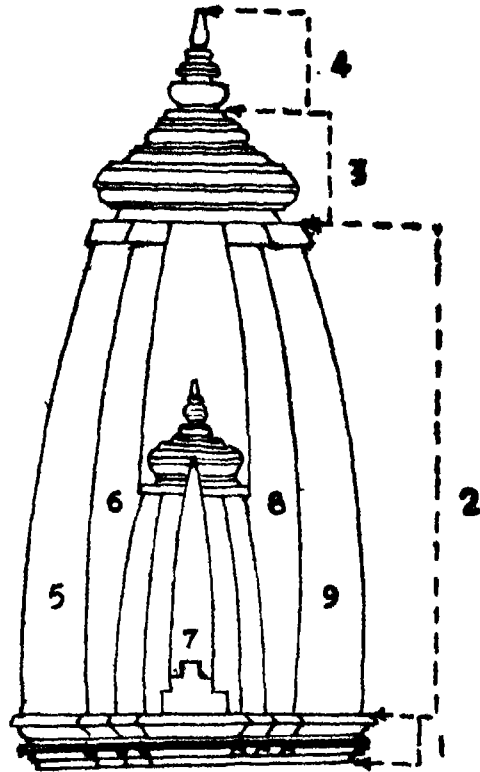
रेखाचित्र 35. रेखा-मंदिर का शिखर (भगवान दास जैन के अनुसार : 1. छाद्य; 2. शिखर; 3. आमलसार; 4. कलश; 5 और 9. कर्ण-रेखा; 6 और 8. प्रति-कर्ण उपरथ; 7. उरु-शृंग ।
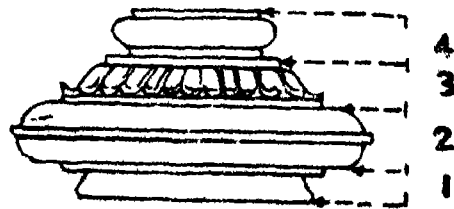
रेखाचित्र 36. आमलसार (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1. गल; 2. अण्डक; 3. चंद्रिका; 4. आमलसारिका
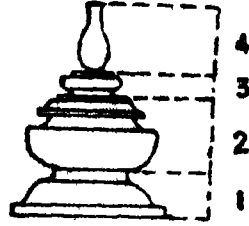
रेखाचित्र 37. कलश (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1. पीठ और गल; 2. अण्डक; 3. कर्णिका; 4. बीजपूरक
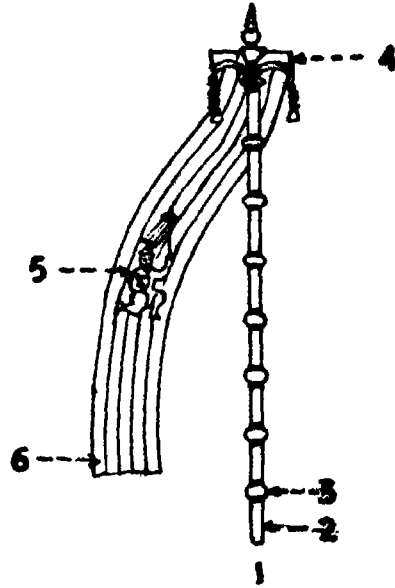
रेखाचित्र 38. ध्वज (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1. दण्ड; 2. पर्वन्; 3 ग्रंथि; 4. ध्वज-मूल; 5. ध्वज-पुरुष; 6. ध्वज

प्रासाद के भेदों में श्रीविजय, महापद्म, नंद्यावर्त, लक्ष्मीतिलक, नरवेद, कमलहंस और कुंजर नामक सात भेद जिन-मंदिर के लिए सर्वोत्तम माने गये हैं। विश्वकर्मा ने लिखा है कि प्रासादों के अगणित भेद होते हैं (रेखाचित्र ४०-४१) जिनमें से पच्चीस के नाम ये हैं : केशरी, सर्वतोभद्र, सुनंदन नंदिशाल, नंदीश, मंदिर, श्रीवत्स, अमृतोद्भव, हेमवंत, हिमकूट, कैलाश, पृथ्वीजय, इंद्रनील, महानील, भूधर, रत्नकूट, वैडूर्य, पद्मराग, वज्रांग, मुकुटोज्ज्वल, ऐरावत, राजहंस, गरुड, वृषभ और मेरु। इनमें से प्रथम प्रासाद के शिखर के चारों कोणों पर एक-एक अण्डक या लघु-शिखर होते हैं और फिर प्रत्येक प्रासाद के चार अण्डक बढ़ते-बढ़ते पच्चीसवें के एक सौ अण्डक हो जाते हैं।
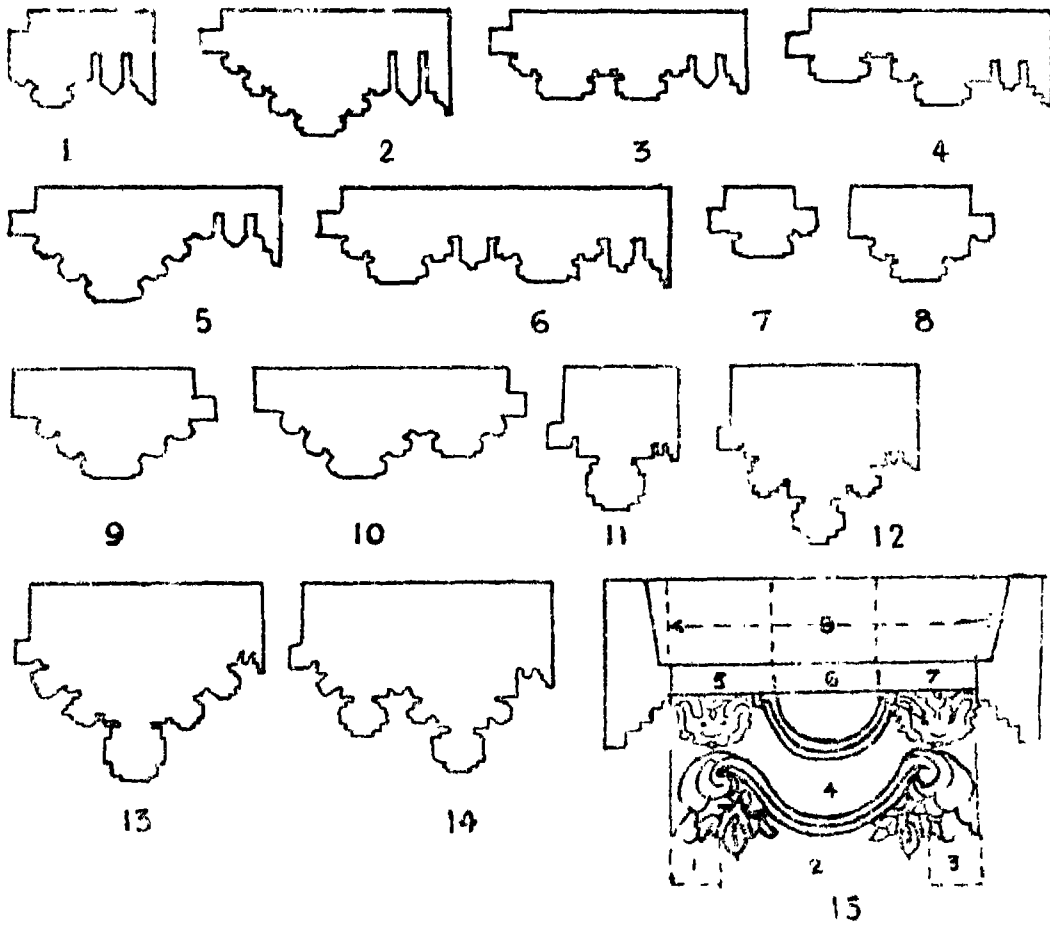
रेखाचित्र 39. द्वार-शाखाएँ (भगवान दास जैन के अनुसार) : 1, 7, 11. तीन शाखाए; 2, 8, 12. पाँच शाखाएं; 3, 4, 5, 9, 13. सात शाखाएं; 6, 10, 14. नौ शाखाएं; 15. द्वार की देहली (1 और 3. अलंकरण; 2. शंखावटी; 4. अर्ध-चंद्र; 5 और 7. ग्रास; 8. देहली)
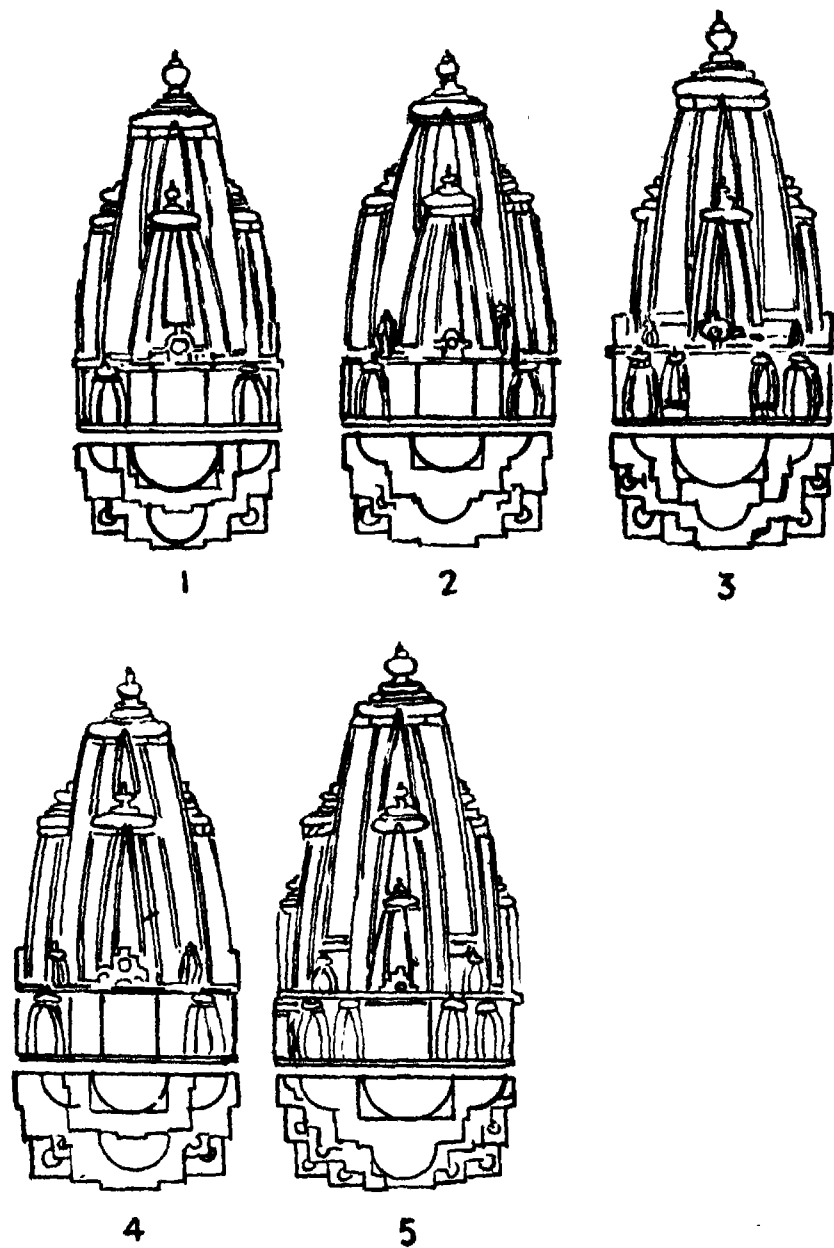
रेखाचित्र 40. जिन-प्रसादों के विभिन्न रूप (प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा के अनुसार) : 1. सर्वतोभद्र; 2. नंदन; 3. नंद-शालिन्; 4. नंदीश; 5. मंदर
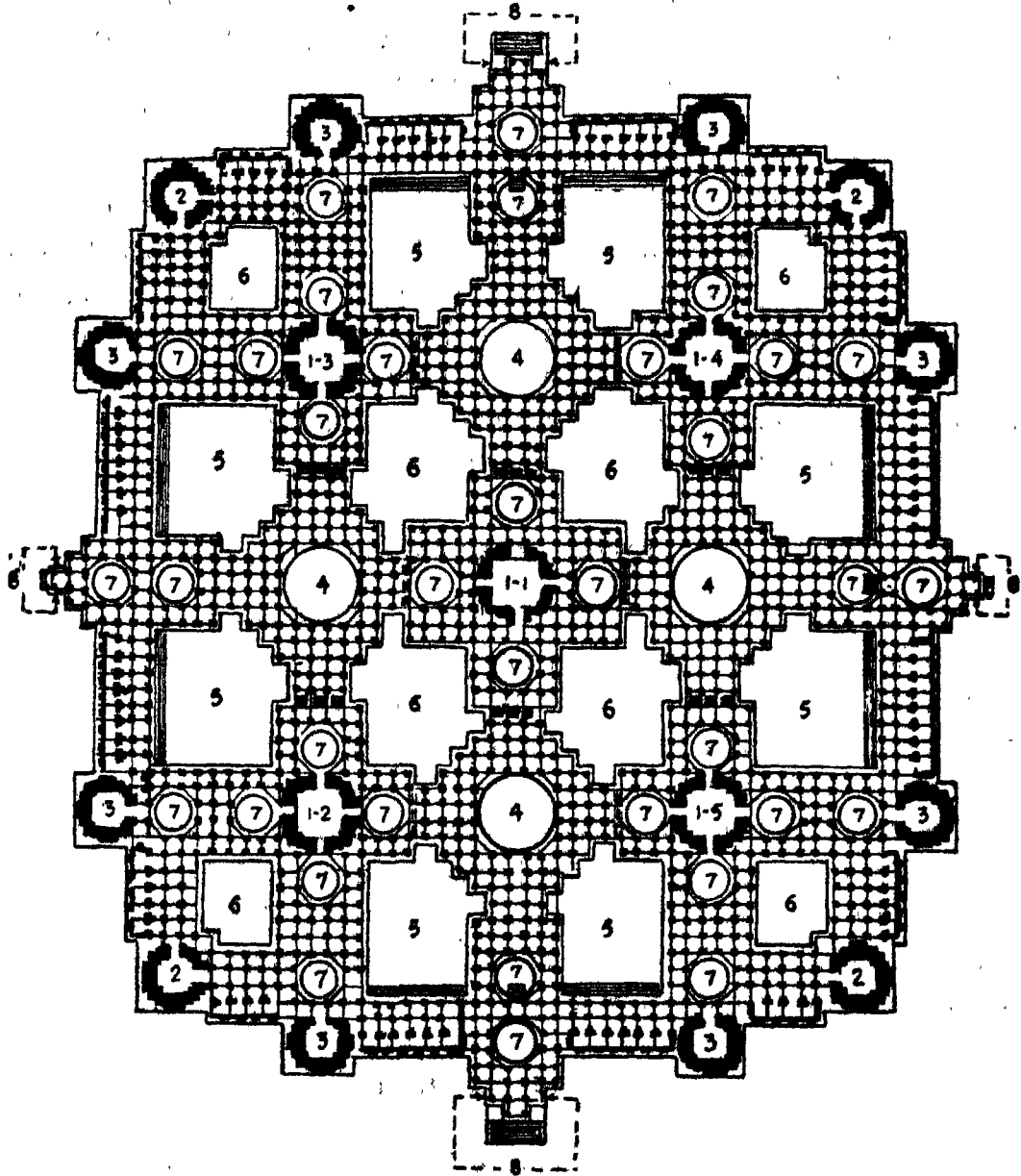
रेखाचित्र 41. चतुर्मुख महाप्रासाद (प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा के अनुसार) : 1-1 से 1-5 तक, चतुर्मुख प्रासाद (1-1. समवसरण प्रासाद; 1-2. मेरु प्रासाद; 1-3. नंदीश्वर-द्वीप प्रासाद; 1-4. सहस्र-कूट प्रासाद; 1-5. अष्टापद प्रासाद); 2. पाँच कोण-प्रासाद; 3. आठ महाधर प्रासाद; 4. चार मेघनाद मण्डप; 5. अनावृत चतुष्क; 6. चतुष्क; 7. छत्तीस मण्डप; 8. बलानक

विश्वकर्मा ने दीपार्णव में[1] बावन जिन-प्रासादों का वर्णन किया है जिनमें पच्चीस तो चौबीस तीर्थंकरों के पृथक्-पृथक् हैं, नेमिनाथ के दो हैं, और शेष सत्ताइस सामान्य रूप से सभी तीर्थंकरों के हैं। इस प्रकार (१) कमलभूषण (रेखाचित्र ४२), (२) कामदायक, (३) रत्नकोटि, (५) क्षितिभूषण, (६) पद्मराग, (७) पुष्पदंत, (८) सुपार्श्व, (१०) शीतल, (१२) ऋतुराज, (१३) श्रीशीतल, (१६) श्रेयांस, (१९) वासुपूज्य, (२१) विमल, (२३) अनंत, (२४) धर्मद, (२७) श्रीलिंग, (२९) कुमुद, (३२) कमलकंद, (३५) महेंद्र, (३८) मानसंतुष्टि, (४०) नमिश्रृंग, (४१) सुमतिकीर्ति, (४७) पार्श्ववल्लभ और (५०) वीर-विक्रम (रेखाचित्र ४३) नामक प्रासाद क्रमश: ऋषभनाथ आदि चौबीस तीर्थंकरों के हैं; और (४४) नेमेंद्र नामक प्रासाद नेमिनाथ का दूसरी बार है; (४) अमृतोद्भव, (९) श्रीवल्लभ, (११) श्रीचंद्र, (१४) कीर्ति-दायक, (१५) मनोहर, (१७) सुकुल, (१८) कुलनदन, (२०) रत्नसंजय, (२२) मुक्ति, (२५) सुरेंद्र, (२६) धर्मवृक्ष, (२८) कामदत्तक, (३१) हर्षण, (३३) श्रीशैल, (३४) अरिनाशन, (३६) मानवेंद्र, (३७) पापनाशन, (४२) उपेंद्र, (४३) राजेंद्र, (४५) यतिभूषण, (४६) सुपुष्प, (४८) पद्मव्रत (४९) रूपवल्लभ, (५१) अष्टापद और (५२) तुष्टि-पुष्टि प्रासाद सामान्य रूप से सभी तीर्थंकरों के हैं; (३०) शक्ति नामक प्रासाद लक्ष्मी देवी का; और (३९) श्रीभव (गौरव) प्रासाद ब्रह्मा, विष्णु और शिव का है।

गृह-मंदिर और वहनीय मंदिर

आवासगृह में भी धर्मस्थान या मंदिर के निर्माण का विधान ग्रंथों में किया गया है। यह आवासगृह के उत्तर-पूर्व कोण में बनाया जाये और यद्यपि इसपर आधिपत्य गृहस्वामी का रहे और इसकी व्यवस्था भी वही करे तथापि यह सबके लिए खुला रखा जाये। ऐसे गृह-मंदिरों का स्थापत्य अन्य मंदिरों की ही भाँति हो। वह केवल काष्ठ से निर्मित हो, और उसमें एक उपपीठ, एक पीठ आदि अंग हों। चारों कोणों पर एक-एक स्तंभ, चारों ओर एक-एक द्वार और छज्जा, एक शिखर तथा उसके चारों कोणों पर एक-एक लघुशिखर हों, शिखर पर ध्वज कदापि स्थापित न किया जाये। इसके अतिरिक्त सर्वोपरि यह ध्यान रखा जाये कि गृह-मंदिर के निर्माण में केवल न्यायोपार्जित धन का उपयोग हो। मंदिर के काष्ठ से निर्माण की अनुमति उस स्थिति में भी है जब उसे यात्रा में साथ रखने के लिए बनाया जाये, ऐसे वहनीय मंदिर को यात्रा के पश्चात् रथशाला में सुरक्षित रख दिया जाये ताकि उसका पुन: उपयोग किया जा सके।

लोकविद्या और स्थापत्य

स्थापत्य के सिद्धांतों और प्रतीक-विधानों के विषय में साहित्य-ग्रंथों से निस्संदेह अनेकानेक सूचनाएं प्राप्त होती हैं, किन्तु उससे भी अधिक सूचनाएँ और संकेत इस विषय में लोकविद्या के ग्रंथों

---

1 विश्वकर्मा का दीपार्णव, अनुवादक (गुजराती में) प्रभाशंकर ओघडभाई सोमपुरा, पृ. 317-18 (उत्तरखण्ड की आर्तिग्विक मुद्रित प्रति के पृ 9-10), पालीताना.
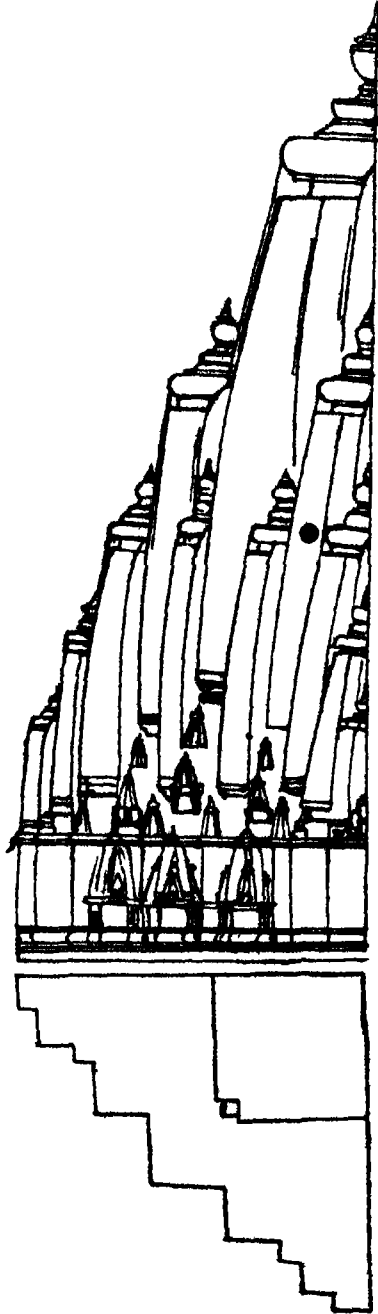
रेखाचित्र 42. ऋषभनाथ का कमल-भूषण प्रासाद
(प्रभाशंकर ओ. सोमपुरा के अनुसार)
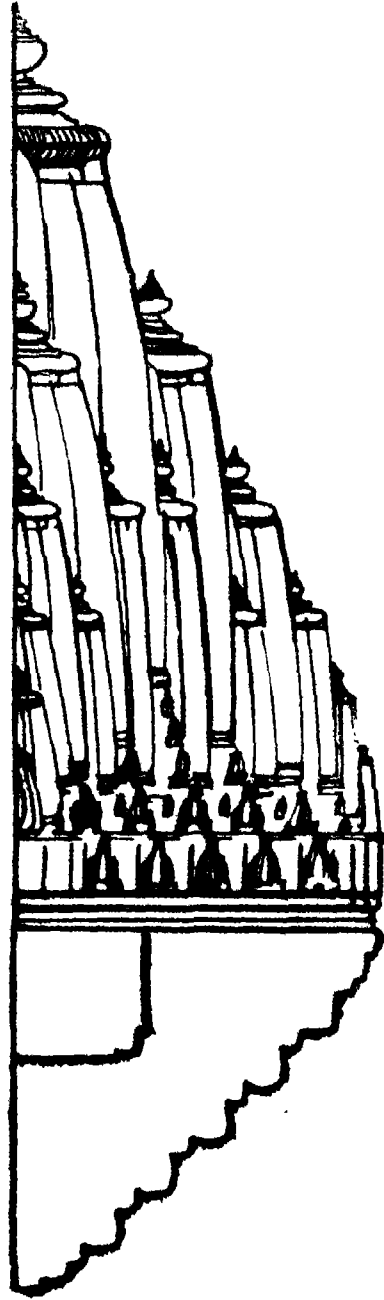
रेखाचित्र 43. महावीर का महाधर-वीर-विक्रम प्रासाद
(प्रभाशंकर ओ. सोमपुरा के अनुसार)

से प्राप्त होते हैं। इसलिए जैन लोकविद्या का संक्षिप्त परिचय इस संदर्भ में अत्यधिक उपयोगी होगा।

लोकसृष्टि अर्थात् जगत्कर्तृत्व का सिद्धांत जैन धर्म में पूर्णतया अमान्य है किन्तु लोकविज्ञान और लोकविद्या का प्रतिपादन जैन ग्रंथों में अत्यत विस्तार से हुआ है। यह लोक प्रकृति से ही अनादि-अनंत है और उसमें सर्वत्र छह् द्रव्य व्याप्त है जिन्हें जीव और अजीव नामक दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। ज्ञान और दर्शन ऐसे गुण हैं और सुख तथा दुःख ऐसी अनुभूतियाँ हैं जो किसी सत्ता में ही संभव हैं, वे किसी सत्ताहीन की क्रिया नहीं हो सकतीं, अतः उन्हें किसी सत्तावान् के गुण या पर्याय अवश्य मानना होगा और यही सत्तावान् जीव द्रव्य है। अजीव द्रव्य के अंतर्गत धर्म [1] अर्थात् गति का माध्यम, अधर्म अर्थात् स्थिति का माध्यम, आकाश, पुद्गल [2] अर्थात् भौतिक पदार्थ एवं ऊर्जा, और काल [3] आते हैं। [4]

लोक [5] और उसके भागों का आकार गणित और ज्यामिति के अनुरूप है, यह आकार वस्तुतः मनुष्य की उस मुद्रा के समान है जिसमें वह हाथ कमर पर रखकर और दोनों पैर बगलों में फैलाकर खड़ा होता है (रेखाचित्र ४४)। इस आकार के अर्थात् लोक के अंतर्गत लोकाकाश है; और उसके बाहर अलोकाकाश है जिसके अंतर्गत यह लोक तीन वातवलयों या वायुमण्डलों पर आधारित है। भीतरी वात-वलय तनु अर्थात् आर्द्र है, बीच का घन अर्थात् ठोस है और बाहरी घनोदधि अर्थात् विरल। लोक के अग्र-भाग पर सिद्धशिला अर्थात् वह क्षेत्र है जहाँ मुक्तात्माओं की स्थिति है, इस अर्धचंद्राकार क्षेत्र की आकृति उस उत्तल काँच के समान है, जिसका उन्नत भाग नीचे का ओर हो। लोक का उसकी कटि अर्थात् मध्य के बराबर चौड़ा ऊपर से नीचे तक का भाग ही ऐसा है जिसमें त्रस जीव या जंगम प्राणी[6]

---

1 धर्म और अधर्म शब्दों का प्रयोग जैन लोकविद्या में एक अलग ही अर्थ मे हुआ है जो उनके प्रचलित अर्थ से सर्वथा भिन्न है.

2 इस द्रव्य की विश्लेषण सहित व्याख्या के लिए देखिए गोपीलाल अमर का लेख 'दर्शन और विज्ञान के आलोक में पुद्गल द्रव्य', **मुनि श्री हजारीमल स्मृतिग्रंथ**, 1965, ब्यावर. पृ 368-88.

3 श्वेतांबर इस द्रव्य को जीव और अजीव का पर्याय मानते है, एक स्वतत्र द्रव्य नही.

4 इस और आगे के अनुच्छेदों का आधार-ग्रंथ है **राजवार्तिकालंकार** नामक टीका सहित **तत्वार्थ-सूत्र**, काशी, 2 भागों में, 1953-54

5 जगत् के लिए जैन धर्म में लोक शब्द का प्रयोग हुआ है, विश्व और ब्रह्माण्ड शब्द उसके प्रायः समानार्थक है, तथापि वे जैन धर्म में कम ही प्रचलित हो सके.

6 संसारी जीव, अर्थात् मुक्तात्माओं को छोड़कर शेष सभी जीव त्रस और स्थावर (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति) हैं, उनके केवल स्पर्शन नामक एक ही इंद्रिय होती है। त्रस जीवों में रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नामक इंद्रियों के कारण क्रमशः द्वींद्रिय, त्रींद्रिय आदि होते है। पंचेंद्रिय त्रसों के अंतर्गत सभी देव, मनुष्य, नारकी और कुछ तिर्यंच (पशु-पक्षी आदि) आते हैं.
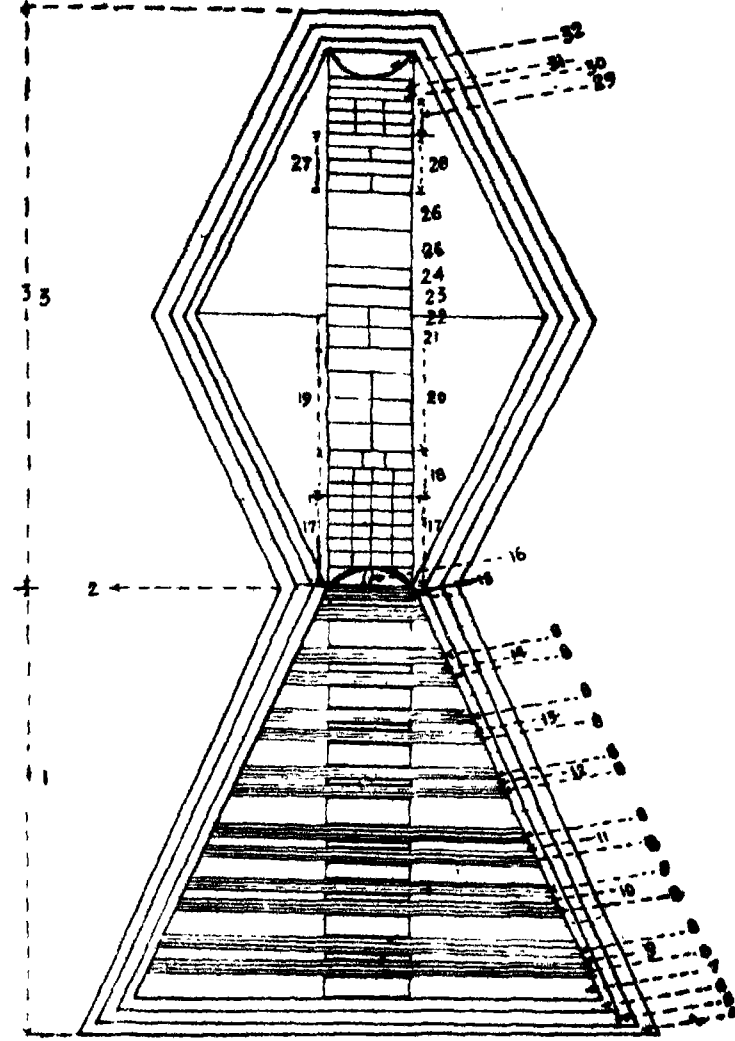
रेखाचित्र 44. त्रिलोक की रचना (मुक्त्यानन्द सिंह जैन के अनुसार) : 1. अधोलोक; 2. मध्यलोक; 3. ऊर्ध्वलोक; 4. घनोदधि वात-वलय; 5. घन वात-वलय; 6. तनु वात-वलय; 7. निगोद; 8. वात-वलय; 9. सातवाँ नरक; 10. छठा नरक; 11. पाँचवाँ नरक; 12. चौथा नरक; 13. तीसरा नरक; 14. दूसरा नरक; 15. पहला नरक और उसके तीन खण्ड; 16. सुदर्शन मेरु; 17. सौधर्म स्वर्ग; 18. ऐशान स्वर्ग; 19. सानत्कुमार स्वर्ग; 20. माहेंद्र स्वर्ग; 21. ब्रह्म स्वर्ग; 22. ब्रह्मोत्तर स्वर्ग; 23. लांतव स्वर्ग; 24. कापिष्ठ स्वर्ग; 25. शुक्र और महाशुक्र स्वर्ग; 26. शतार और सहस्रार स्वर्ग; 27. आनत और प्राणत स्वर्ग; 28. आरण और अच्युत स्वर्ग; 29. नौ ग्रैवेयक स्वर्ग; 30. नौ अनुदिश स्वर्ग। 31. पाँच अनुत्तर स्वर्ग; 32. सिद्ध-शिला
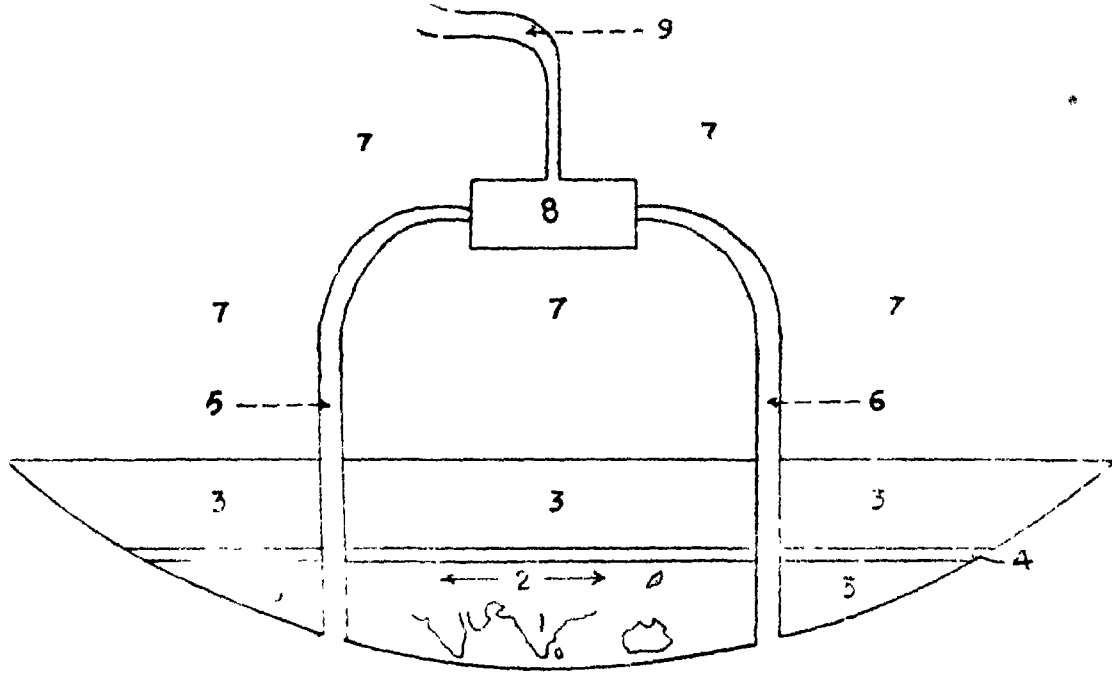
रेखाचित्र 45. भरत क्षेत्र (मुक्त्यानद सिंह जैन के अनुसार) : 1. पूर्वी गोलार्ध का भाग; 2. आर्य खण्ड; 3. म्लेच्छ खण्ड; 4. विजयार्ध पर्वत; 5 सिन्धु नदी; 6. गंगा नदी; 7. हिमवत् पर्वत; 8. पद्म ह्रद; 9. रोहितास्या नदी

होते है, इसीलिए उसे त्रस-नाली कहा गया है, उसकी ऊंचाई और गहराई लोक के ही बराबर क्रमश: १४ और ७ रज्जु [1] है और चौड़ाई एक ही रज्जु है, जबकि लोक की सामान्य चौड़ाई ७ रज्जु है। लोक का घनफल ३४३ वर्ग-रज्जु है, उसके मध्य में १०० योजन ऊँचा भाग मनुष्य-लोक है जिसमें वैमानिक देवों और नारकियों को छोड़कर सभी जीव होते हैं; वैमानिक देव मनुष्यलोक के ऊपर स्वर्गलोक में रहते हैं और नारकी मनुष्यलोक के नीचे सात पृथ्वियों[2] अर्थात् नरकलोक में।

---

1 रज्जु का शब्दार्थ है रस्सी, यह भूगोल और खगोल की दूरी का एक माप है। एक रज्जु उतनी दूरी है जिसे कोई देव एक समय अर्थात् काल की अल्पतम इकाई में 2,857,152 योजन की गति से उड़कर छह माह में पार करे, इस माप की गणितीय व्याख्या नही की जा सकती.

2 पृथ्वियां या नरक एक के नीचे एक है और प्रत्येक तीनों प्रकार के वातवलयों और आकाश से घिरा हुआ है। पृथ्वी शब्द का प्रयोग सोद्देश्य है क्योंकि हमारी पृथ्वी की तरह इन पृथ्वियों का आधार-तल भी ठोस है। नरकों और स्वर्गों मे एक अंतर यह भी है कि नरक स्वय पृथ्वी रूप है जबकि स्वर्ग विमान की भांति निराधार स्थित हैं.

मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोक में असंख्य द्वीप हैं, प्रत्येक एक समुद्र से[1] घिरा है।[2] सभी वृत्ताकार हैं, और द्वीप से दूना चौड़ा है उसे घेरने वाला समुद्र, उस समुद्र से दूना चौड़ा उसे घेरने वाला द्वीप, उससे भी दूना चौड़ा उसे घेरने वाला समुद्र, और इसी तरह अंत तक।

जम्बू नामक प्रथम द्वीप एकमात्र ऐसा है जो किसी समुद्र या द्वीप को घेरे हुए नहीं है, बल्कि वर्तुलाकार है। जम्बू द्वीप का विस्तार एक लाख महायोजन[3] है और उसके मध्य में सुमेरु पर्वत[4] उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार शरीर में नाभि होती है। पूर्व-पश्चिम विस्तृत हिमवत्, महाहिमवत् निषध, नील, रुक्मी और शिखरी नामक छह कुलाचलों अर्थात् महापर्वतों से यह द्वीप भरत, (रेखा-चित्र ४५) हैमवत,[5] हरि, विदेह,[6] रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत[7] नामक सात क्षेत्रों में विभक्त है। उन छह कुलाचलों पर क्रमशः पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केशरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामक ह्रद या सरोवर हैं। इन सरोवरों में कमलाकार द्वीप हैं, उनमें देव-परिवार रहते हैं और उनकी अधिष्ठातृ-देवियों के क्रमशः नाम हैं—श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी। सातों क्षेत्रों में दो-दो महानदियाँ[8] और उनकी हजारों सहायक नदियाँ हैं, दो में पहली पूर्व की ओर और दूसरी पश्चिम की ओर बहती है।

द्वितीय द्वीप धातकीखण्ड दो उत्तर-दक्षिण विस्तृत पर्वतों से विभक्त है जिनके बाहरी छोर काल-समुद्र के और भीतरी छोर लवण-समुद्र के वेदिका-वेष्टित तटों को छूते हैं और जो इस द्वीप को पूर्व और पश्चिम नामक भागों में विभक्त करते हैं। पूर्व और पश्चिम में पृथक्-पृथक् वही रचना है

---

1 प्रथम द्वीप जम्बू लवण नामक समुद्र से घिरा है, वह धातकीखण्ड द्वीप से घिरा है, वह काल समुद्र से, वह भी पुष्करवर द्वीप से और वह अपने ही नाम के समुद्र से, जैसा कि आगे भी होता गया है, अर्थात् द्वीप और उसे घेरने वाले समुद्र के नाम एक जैसे होते गये हैं.

2 चौथे और उससे आगे के द्वीप है : वारुणीवर, क्षीरवर, घृतवर, क्षौद्रवर, नंदीश्वर, अरुणवर, कुशवर, क्रौंचवर आदि। अन्त से आरंभ करने पर कुछ नाम हैं : स्वयम्भूरमण, अहींद्रवर, देववर, यक्षवर, भूतवर, नागवर, वैडूर्यवर, वज्रवर, सुवर्णवर, रूप्यवर, हिंगुलिकवर, अंजनकवर, श्यामवर, सिंदूरवर, हरितालवर, मनःशिल आदि.

3 दूरी का एक माप. अंगुल नामक माप लगभग एक इंच के बराबर होता है, चौबीस अंगुल बराबर एक हस्त, चार हस्त बराबर एक धनुष या चाप, 2,000 धनुष बराबर एक कोश या 2 मील, 4 कोश बराबर एक सामान्य योजन, किन्तु 2,000 कोश बराबर एक महायोजन.

4 विस्तृत विवरण आगे पृष्ठ 537 पर द्रष्टव्य है.

5 लोकविद्या में आये नामों में और कला और स्थापत्य में आये नामों में न केवल सादृश्य है, बल्कि उस सादृश्य का कोई विशेष महत्त्व भी हो सकता है.

6 इस क्षेत्र के तीन भाग है : देवकुरु, उत्तरकुरु और विदेह.[1]

7 यह क्षेत्र भी, भरत की ही भाँति, पूर्व-पश्चिम विजयार्ध नामक पर्वत से और उत्तर-दक्षिण दो महानदियों से छह खण्डों में विभक्त हो गया है; बीच का बाहरी खण्ड आर्यखण्ड और शेष पाँच म्लेच्छखण्ड कहलाते हैं.

8 उनके नाम हैं : गंगा, सिंधु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा.

जो जम्बूद्वीप में है, अर्थात् धातकी खण्ड में क्षेत्रों, कुलाचलों, मेरु आदि की दोहरी रचना है। किन्तु यहाँ कुलाचलों की स्थिति वैसी है जैसी चक्र में अरों की होती है और क्षेत्रों का आकार अरों के मध्य के स्थान की भाँति होता है।

तृतीय द्वीप पुष्करवर एकमात्र ऐसा है जिसे चारों ओर विस्तृत एक वृत्ताकार पर्वत दो भागों में विभक्त करता है। उस पर्वत का नाम मानुषोत्तर सार्थक है क्योंकि उसके उत्तर में अर्थात् बाहर मनुष्यों की गति नहीं। भीतरी पुष्करार्ध में, धातकी खण्ड की भाँति, दो भरत, दो हिमवत्, दो मेरु आदि हैं, किन्तु बाहरी पुष्करार्ध तथा उससे आगे के द्वीपों में इस प्रकार का विभाजन नहीं है। इस सबका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य केवल ढाई द्वीपों के क्षेत्र में ही होते हैं जो मध्यलोक के ही नहीं बल्कि संपूर्ण लोक के केंद्र में है। इससे यह तात्पर्य भी निकलता है कि सात क्षेत्रों, छह कुलाचलों, चौदह महानदियों, एक मेरु आदि का एक समूह है, और ऐसे पाँच समूह हैं।

यह उल्लेखनीय है कि पाँच-पाँच भरत, विदेह, (देवकुरु और उत्तरकुरु भागों को छोड़कर) और ऐरावत कर्मभूमियाँ हैं जिनमें जीवन-निर्वाह के लिए पुरुषार्थ अनिवार्य है, और पाँच-पाँच हैमवत, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत भोगभूमियाँ हैं जिनमें सुखभोग की सामग्री कल्पवृक्षों से प्राप्त होती है।

पाँचवें समुद्र क्षीरवर के जल की विशेष महिमा है क्योंकि इंद्र तीर्थंकर के जन्माभिषेक के लिए इसी जल से कलश भरता है, और दीक्षा के समय तीर्थंकर जब केशलोंच करते हैं तब उनके केश इसी जल में विसर्जित किये जाते हैं।

नदीश्वर नामक आठवाँ (पृष्ठ ५४०), कुण्डलवर नामक दशवाँ और रुचकवर नामक तेरहवाँ द्वीप अकृत्रिम चैत्यालयों के कारण महत्त्वपूर्ण है (पृष्ठ ५४१), द्वितीय जम्बू द्वीप[1] तथा कुछ अन्य द्वीपों में पाताल-नगरियाँ है जिनमे केवल भवनवासी देवों के ही आवास हैं।

देवों के चार निकाय हैं : भवनवासी,[2] व्यंतर,[3] ज्योतिषी[4] और वैमानिक।[5] इनमें से

1 इसके सविस्तार वर्णन के लिए द्रष्टव्य: गोपीलाल अमर का लेख 'द्वितीय जम्बू द्वीप', अनेकान्त (हिंदी त्रैमासिक): 22, 1, 1969, दिल्ली, पृ 20-24.

2 उनके दस भेद है : असुर, नाग, विद्युत् सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक्, प्रत्येक के साथ कुमार शब्द जुड़ता है.

3 उनके आठ भेद है : किंनर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच.

4 उनके पाँच भेद हैं : सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और विभिन्न तारे.

5 जिनमें रहकर कोई अपने विशेष मान का अनुभव करे उन आवासों को विमान कहते हैं और जो विमानों में रहते है उन्हें वैमानिक कहते हैं; यहाँ विमान शब्द का अर्थ आकाश में चलने वाला रथ या वायुयान कदापि

भवनवासी मनुष्यलोक में और कुछ नरकलोक में भी आवास करते हैं। उनके अकृत्रिम और शाश्वत भवनों में जिन-चैत्यालय हैं। व्यंतर देव प्रथम पृथ्वी के खरभाग में अगणित द्वीप-समुद्रों के उस पार रहते हैं, किन्तु उनका एक भेद राक्षस प्रथम पृथ्वी के ही पंक-बहुल भाग में रहता है। ज्योतिषी देवों की विशेषता यही है कि वे निरंतर मेरु की प्रदक्षिणा करते रहते हैं, किन्तु मानुषोत्तर पर्वत के बाहर वे स्थिर हैं। इनमें से सूर्य और चंद्र के विमानों में जिन-चैत्यालय हैं। केवल वैमानिक देव ही ऊर्ध्वलोक या स्वर्गलोक में रहते हैं जिसमें सोलह कल्प विमान,[1] नौ ग्रैवेयक विमान,[2] नौ अनुदिश विमान[3] और पाँच अनुत्तर विमान[4] हैं। कल्प और ग्रैवयक विमानों के अधिकांश और शेष विमानों के सब देव प्रकृति से ही जिनेंद्र-भक्त होते हैं।

एक सौ इंद्रों में[5] एक मानवेंद्र अर्थात् राजा और एक पशु अर्थात् सिंह के अतिरिक्त शेष सभी देव ही होते हैं। यक्ष-यक्षियाँ, शासनदेव, शासनदेवियाँ, दिक्पाल, क्षेत्रपाल, भैरव, विद्यादेवियाँ, सरस्वती, लक्ष्मी, गंगा, यमुना, अप्सराएँ, दुंदुभिवादक, चमरधारी, चमरधारिणियाँ आदि सभी देव तथा विद्याधर, भक्त आदि मानव तीर्थंकरों के परिचारकों के रूप में या मंदिर के विभिन्न भागों में विभिन्न रूपों में अंकित किये जाते हैं।

प्रतीक-मंदिर

सामान्य दृष्टि से मंदिर स्वय एक प्रतीक है। विशेष दृष्टि से मंदिर के नंदीश्वर द्वीप, अष्टापद (रेखाचित्र ४६) आदि विविध रूप स्थापत्य के अंतर्गत हो सकते हैं, किन्तु उसके कुछ रूप केवल ग्रंथों में प्रतिपादित तो किये गये पर स्थापत्य में उन्हें प्रस्तुत नहीं किया गया।

स्तूप. चैत्यवास, निषीधिका आदि कुछ रूप मंदिर की श्रेणी में रखे जायें या नहीं, किन्तु, अंततोगत्वा, उपासना के स्थान होने से उनका वर्णन इस प्रसंग में किया जा सकता है।

नही; वह पूर्ण रूप से स्थिर आवासगृह है, अवश्य ही उसका आकार प्राचीन विमान के समान होता है.

1 सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेंद्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत.

2 सुदर्शन, अमोघ, सुबुद्ध, पयोधर, सुभद्र, सुविशाल, सुमनस्, सौमनस और प्रियंकर.

3 लक्ष्मी, लक्ष्मीमालिक, वैरेवक. रोचनक, सोम, सोमरूप्य, अंक, पल्यंक और आदित्य।

4 विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि.

5 इनकी गणना इस गाथा मे की गयी है : भवणालय चालीसा व्यंतरदेवाण होंति बत्तीसा। कप्पामर चउवीसा चदो सूरो णरो तिरियो ॥
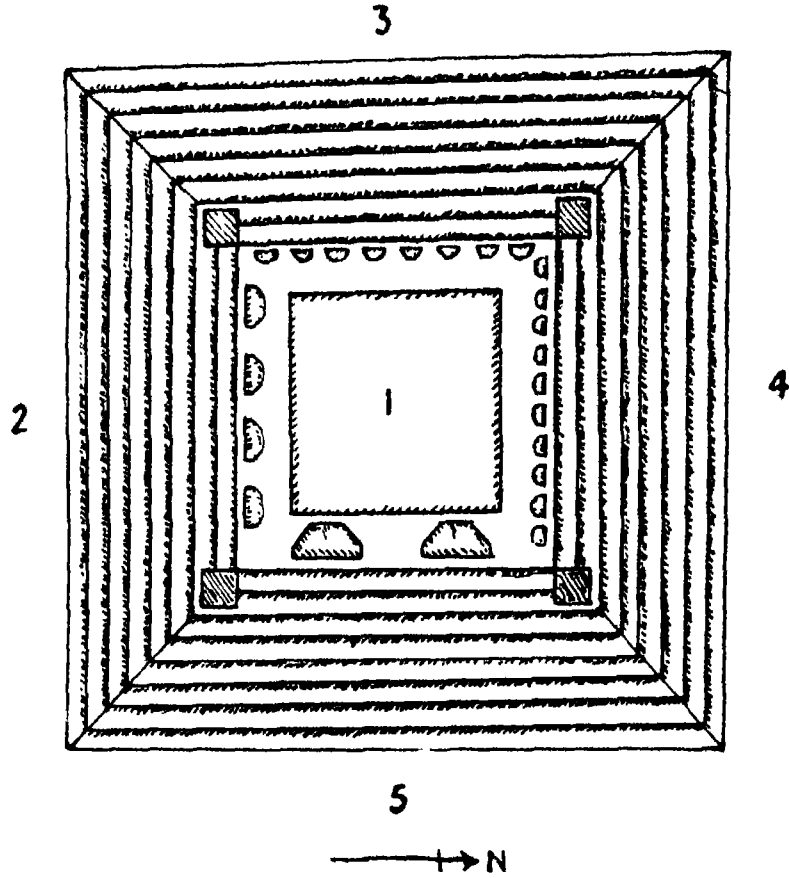
रेखाचित्र 46. अष्टापद (प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा के अनुसार) . 1. गर्भ-गृह; 2-5. आठ पीठिकाएं

चतुर्विंशति-जिनालय

चतुर्विंशति-जिनालय में चौबीस देवकुलिकाएं या देवकोष्ठ अर्थात् लघु मंदिर होते हैं (रेखाचित्र ४१), उनमें एक-एक तीर्थंकर-मूर्ति होती है, उनका क्रम मंदिर के पूर्वी द्वार के दक्षिणी द्वार-पक्ष से आरंभ होता है और पश्चिमी द्वार के दक्षिणी द्वार-पक्ष पर समाप्त होता है जिससे आठ-आठ की तीन पंक्तियाँ बन जाती है और बीच की पंक्ति मुख्य मंदिर के सामने पड़ जाती है। जो तीर्थंकर-मूर्ति मुख्य मंदिर में होती है उसे उसके क्रमागत स्थान पर दुहराते नहीं वरन् उसके स्थान पर विद्यादेवी सरस्वती की मूर्ति स्थापित करते हैं।

इस प्रकार के मंदिर का निर्माण मध्यकाल से अबतक पर्याप्त प्रचलित रहा, यद्यपि चौबीस लघु मंदिरों की विन्यास-रेखा में विविधता रही। चतुर्विंशति-पट्ट को चतुर्विंशति-जिनालय का ही लघु रूप माना जा सकता है, उसका उत्कीर्णन पर्वत-शिलाओं पर भी किया गया।

मेरु

मेरु पाँच हैं : जम्बू द्वीप के मध्य में सुदर्शन, धातकीखण्ड के पूर्व में विजय और पश्चिम में अचल तथा पुष्करार्ध के पूर्व में मंदिर और पश्चिम में विद्युन्माली। पाँचों अलग-अलग विदेह-क्षेत्रों में स्थित हैं और उन सबका आकार-प्रकार एक-सा है, केवल जम्बूस्थित सुदर्शन उन सबसे ऊँचा है, इसीलिए उसे मेरु के बदले सुमेरु कहा जाता है।

सुदर्शन भूतल के नीचे १,००० योजन और ऊपर ६५,००० योजन है और वह नीचे अधोलोक को और ऊपर ऊर्ध्वलोक को छूता है। सबसे नीचे उसका विस्तार १०,०९०$\frac{१०}{११}$ योजन है जो भूतल तक कम होकर १,००० योजना रह जाता है, वहाँ उसके चारों ओर भद्रशाल वन है। वहाँ से ५०० योजन की ऊँचाई तक उसका विस्तार ५०० योजन कम हो जाता है जहाँ उसे नंदन वन चारों ओर अलंकृत करता है। फिर ६०,५०० योजन की ऊँचाई तक विस्तार में पुनः ५०० योजन की कमी आती है और यहाँ उसे सौमनस वन शोभायमान करता है। उसके पश्चात् ३६,००० योजन की ऊँचाई तक विस्तार की कमी ४९४ योजन है, यहाँ उसके चारों ओर पाण्डुक वन शोभायमान है और यहीं से ४० योजन ऊँची और ४ योजन विस्तृत चूलिका या शिखर-भाग आरंभ होता है। सुमेरु का चारों ओर का तल हरिताल, वैडूर्य, सर्वरत्न, वज्र, पद्म और पद्मराग नामक मणियों से अलंकृत है और १६,५०० योजन के प्रत्येक अंतराल पर उसके रूपों में विविधता है। भूतल पर सुमेरु की चारों उपदिशाओं में एक-एक वक्षार गिरि है। गजदंत के-से आकार के ये वक्षार गिरि अपने दूसरे छोरों से महाशैल, नीलाद्रि, निषध पर्वत और नंदन शैल को छूते हैं।

प्रत्येक वन की चारों दिशाओं में एक-एक चैत्यालय है, अर्थात् एक मेरु के सोलह और पाँचों के अस्सी चैत्यालय हैं। ये सभी मेरुओं की ही भाँति अकृत्रिम और शाश्वत हैं। भद्रशाल वन के पाँच भाग हैं : भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण; किन्तु नंदन, सौमनस और पाण्डुक वनों के भाग दो-दो ही हैं।

पाण्डुकवन के चारों ओर तट-वेदिका है जो ध्वजाओं से सुशोभित है और जिसपर बहु-तल भवन विद्यमान हैं। यह २ क्रोश ऊँची और ५०० धनुष चौड़ी है और इसके गोपुर मणिमय हैं। पाण्डुक की वनस्थलियों में विविध वृक्षों और वन्य प्राणियों की छटा है तो जहाँ-तहाँ विद्याधरों और देवों के युगल विहार किया करते हैं। उसकी चार दिशाओं में १०० योजन लंबी और ५० योजन चौड़ी और ८ योजन ऊँची एक-एक अर्धचंद्राकार शिला है। उत्तर दिशा की पाण्डुक नामक स्वर्णमय शिला लंबाई में उत्तर दक्षिण स्थित है; सग्गायणी नामक आचार्य ने इसकी ऊँचाई ४ योजन, लंबाई ५०० योजन और चौड़ाई २५० योजन मानी है।[1] इस शिला के मध्य में एक देदीप्यमान सिंहासन और उसकी दोनों ओर एक-एक भद्रासन स्थित है और छत्र, चमर आदि मंगल-द्रव्य उनकी महिमा

1 तिलोय-पण्णत्ती, 4, 1821.

बढ़ाते हैं। भरत-क्षेत्र के शिशु तीर्थंकर को इसी पाण्डुक शिला के सिंहासन पर विराजमान करके क्रमशः दक्षिण और उत्तर के भद्रासनों पर आसीन होकर सौधर्मेंद्र और ऐशानेंद्र जन्माभिषेक करते हैं। आग्नेय विदिशा में स्थित उत्तर-पश्चिम लंबी पाण्डु-कंबला नामक रजतमय शिला पर अपर-विदेह क्षेत्र के शिशु तीर्थंकर का जन्माभिषेक होता है। नैर्ऋत्य में उत्तर-दक्षिण स्थित स्वर्णमय रक्त नामक शिला और वायव्य में पूर्व-पश्चिम स्थित रक्ताभ रक्त-कंबल शिला पर क्रमशः ऐरावत और पूर्व विदेह के शिशु तीर्थंकरों का अभिषेक होता है। पाण्डुक वन में चूलिका के समीप पूर्व दिशा में एक ३० कोश ऊँचा वर्तुलाकार पूर्वाभिमुख प्रासाद है। लोहित नामक इस सुसज्जित प्रासाद के मध्यभाग में एक क्रीडाशैल है। लोहित में पूर्व दिशा के लोकपाल सोम का आवास है। इसी प्रकार दक्षिण में अंजन, पश्चिम में हारिद्र और उत्तर में पाण्डुक नामक प्रासाद हैं जिनमें क्रमशः उसी दिशा के लोकपाल यम, वरुण और कुबेर निवास करते हैं। पाण्डुक वन की चारों दिशाओं में १०० कोश लंबा और ७५ कोश ऊँचा एक-एक जिनेंद्र-प्रासाद भी है।

सौमनस नामक तृतीय वन पाण्डुक वन से ३६,००० योजन नीचे स्थित है। यह ५०० योजन चौड़ा है और यहाँ भी विशाल वेदिका आदि हैं। यहाँ के वज्र, वज्रप्रभ, सुवर्ण और सुवर्णप्रभ नामक प्रासादों का विस्तार पाण्डुकवन के प्रासादों के विस्तार से दोगुना है और उनमें भी क्रमशः उपर्युक्त लोकपालों का ही आवास है। इस वन की विदिशाओं में सोलह पुष्पकरिणियाँ या कमल-सरोवर हैं और उनके मध्य में एक-एक विहार-प्रासाद है। प्रत्येक विहार-प्रासाद १२५ कोश ऊँचा और उससे आधा चौड़ा है और उसके मध्य में सौधर्मेंद्र का भव्य सिंहासन है जिसके साथ अन्य अनेक देव-देवियों के सिंहासन हैं : लोकपालों के चार, प्रतींद्र का एक, अग्रमहिषियों अर्थात् पट्टरानियों के आठ, प्रवर वर्ग के बत्तीस हजार, चौरासी लाख सामानिक वर्ग के लिए, बारह लाख पारिषदों के लिए, चौदह लाख मध्यम पारिषदों के लिए, सोलह लाख बाह्य परिषदों के लिए, तेतीस त्रायस्त्रिंश वर्ग के लिए, छह महत्तरों के लिए, एक महत्तरी के लिए और चौरासी हजार अंगरक्षकों के लिए। सोलह पुष्करिणियों के नाम हैं : उत्पलगुल्मा, नलिना, उत्पला और उत्पलोत्पला आग्नेय में; भृंगा, भृंगनिभा, कज्जला और कज्जलनिभा नैर्ऋत्य में; श्रीभद्रा, श्रीकांता, श्रीमहिता और श्रीनिलया वायव्य में; और नलिना, नलिनगुल्मा, कुमुदा और कुमुदप्रभा ऐशान में। पाण्डुक की भाँति इस वन में भी चार जिनेंद्र-प्रासाद हैं। इस वन की प्रत्येक दिशा और उपदिशा में १०० योजन ऊँचा और भूतल पर उतना ही चौड़ा एक-एक कूट है। इन कूटों पर क्रमशः मेघंकरा, मेघवती, सुमेघा, मेघमालिनी, तोयंधरा, विचित्रा, पुष्पमाला और अनिंदिता नामक आठ कन्याकुमारियाँ निवास करती हैं।

नंदन वन का आकार-प्रकार भी सामान्यतः उपर्युक्त है, किन्तु विस्तार में यह सौमनस वन से दोगुना है। भद्रशाल वन का आकार-प्रकार भी सामान्यतः अन्य वनों की भाँति है। इसका विस्तार पाण्डुक वन से चौगुना है।
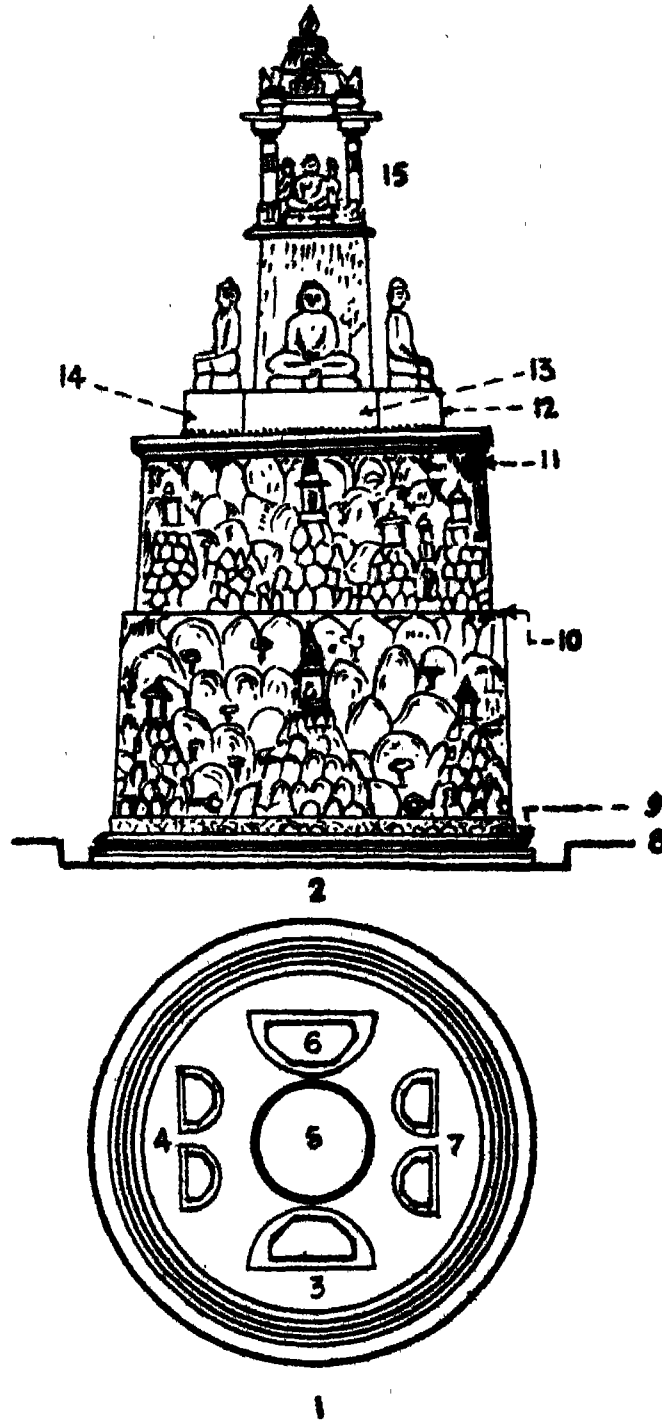
रेखाचित्र 47. मेरु (प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा के अनुसार) : 1. मेरु की विन्यास-रेखा; 3, 4, 6, 7. चार सिंह-पीठ; 5. चूलिका पर शाश्वत जिन-चैत्य अर्थात् तीर्थंकर की सर्वतोभद्र मूर्ति; 8.2. मेरु का पार्श्व-दृश्य; भद्रशाल वन; 9. नंदन वन; 10. सौमनस वन; 11. पाण्डुक वन; 12-14. तीर्थंकरों के पीठ; 15. उपर्युक्त पाँचवें के अनुसार।

मेरु का अंकन स्थापत्य में कदाचित् कहीं नहीं हुआ, मूर्तिकला[1] और चित्रकला के अंतर्गत अवश्य हुआ। चैत्यालयों और पाण्डुक वन की शिलाओं के कारण ही वास्तव में मेरु का महत्त्व है।

यहाँ मेरु शब्द का अर्थ पर्वत किया जा सकता है (रेखाचित्र ४७) परतु स्थापत्य के अधिकांश ग्रंथों में इसे प्रासादों का एक भेद माना गया है जो प्रायः बहु-तल होता है।[2] बृहत्संहिता (५६, २०), के अनुसार षट्कोण भवनों के एक भेद में बारह तल, चित्र-विचित्र गवाक्ष और चार द्वार होते हैं, ये भवन ५२ हस्त चौड़े और ४५ प्रकार के होते हैं। कुछ जैन अभिलेखों और साहित्य में ऐसे मंदिरों के निर्माण का उल्लेख है जिनका नामकरण मेरु के नाम से हुआ[3] परंतु ऐसे विशेष प्रकार के भवनों के अवशेष अबतक प्राप्त नहीं हुए। बूलर का संकेत है कि राजस्थान के अजमेर, जैसलमेर, बाड़मेर आदि कुछ नगरों के नामों में जो 'मेर' शब्द का प्रयोग है वह प्रासाद के मेरु नामक भेद का सूचक है, अर्थात् मेरु नामक प्रासाद के निर्माण से किसी के नाम में ही मेरु शब्द जुड़ गया और वह जुड़ा हुआ नाम ही उस नगर का रखा गया जिसे उसने बसाया।[4] यह संकेत प्रशंसनीय है परंतु उक्त नामों का उत्तरार्ध 'मेर' मरु अर्थात् रेगिस्तान का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

नंदीश्वर द्वीप

इस लोक के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से ढाई द्वीपों के अनंतर नंदीश्वर नामक आठवें[5] द्वीप (इसी अध्याय में पृष्ठ ५३४) का ही महत्त्व सर्वोपरि है। इस वृत्ताकार द्वीप के भीतरी और बाहरी तटों के मध्य चार पर्वत हैं: पूर्व में देवरमण, दक्षिण में नित्योद्योत, पश्चिम में स्वयंप्रभ और उत्तर में रमणीय[5] जिन्हें सामान्य रूप से अंजन कहते हैं क्योंकि उनका रंग काला है। प्रत्येक अंजन के चारों ओर एक-एक चतुष्कोण सरोवर है जिसमें दधिमुख नामक पर्वत है। दही के समान श्वेत और आकार में गोल इस पर्वत के ऊपर तट-वेदियाँ और उपवन हैं। चारों सरोवरों के दोनों बाहरी कोणों पर स्वर्णमय वर्तुलाकार पर्वत हैं, उनका सामान्य नाम रतिकर है। तात्पर्य यह हुआ कि पर्वतों की सख्या बावन है: चार अंजन, सोलह दधिमुख, बत्तीस रतिकर। सरोवरों के अपने नाम हैं: पूर्व में नंदा, नंदावती,

---

1 शाह. (उमाकांत प्रेमानंद), **स्टडीज इन जैन आर्ट.** 1955, बनारस, पृ 17-18. वे चित्र 78 और उसके प्रसंग में एक मेरु को पंच-मेरु कह गये है.

2 आचार्य. (प्रसन्न कुमार) वही, पृ 512-15.

3 **जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल,** न्यू सीरिज, 6, पृ 318.

4 जी. बूलर का लेख, **इंडियन ऐण्टिक्वेरी.** 26, पृ 164 पर प्रकाशित. बूलर ने इस संदर्भ में कई उदाहरण दिये हैं. एक उदाहरण और है: जय-मेरु-श्री-करण-मंगलम्, द्रष्टव्य, ई० हुल्श का लेख 'इंस्क्रिप्शंस ऑफ़ राजराज 1, क्र० 50, **साउथ इण्डियन इंस्क्रिप्शंस,** 3, पृ 103.

5 न कि अंतिम द्वीप, जैसाकि उमाकांत प्रेमानंद शाह लिख गये है, वही, पृ 118.

6 जिनप्रभ-सूरि के **विविध-तीर्थकल्प** 1934, शांतिनिकेतन, पृ 48-49. में 'नंदीश्वर-द्वीप-कल्प' मे पर्वतों आदि के नामों में साधारण-सा अंतर है.

नंदोत्तरा और नंदिघोषा; दक्षिण में अरजा, बिरजा, अशोका और वीताशोका; पश्चिम में विजया, वैजयंती, अयंती और अपराजिता; उत्तर में रम्या, रमानुजा, सुप्रभा और सर्वतोभद्रा।

सरोवर वनों के मध्य में हैं, जिनमें क्रमशः, अशोक, सप्तच्छद या सप्तपर्ण, चंपक और आम्र-वृक्ष विशेष रूप से हैं। ऐसे वन चौंसठ हैं। प्रत्येक के मध्य एक-एक प्रासाद है जिनमें सपरिवार व्यंतर देव रहते हैं। ये प्रासाद चतुष्कोण हैं और इनकी लंबाई से ऊँचाई दोगुनी है।

पर्वतों के अग्रभाग पर एक-एक अकृत्रिम जिनालय है, सब बावन हैं।[1] प्रत्येक अकृत्रिम चैत्यालय १०० योजन लंबा, उससे आधा चौड़ा और ७० योजन ऊँचा है और उसके चारों ओर द्वार हैं, मंदिरों में १६ योजन के आयताकार तथा ८ योजन ऊँचे मणिपीठक हैं। उनपर देवच्छंदक अर्थात् रत्नमय मंच हैं जो मणिपीठकों से अधिक लंबे-चौड़े हैं। इन देवच्छंदकों पर तीर्थंकरों की एक सौ आठ शाश्वत पर्यंकासनस्थ प्रतिमाएँ विराजमान हैं। ये रत्न-निर्मित हैं और प्रत्येक के परिकर में एक नाग, दो यक्ष, दो भूत, दो कलशवाहक और एक छत्र-धारक है। मंचों पर धूप-पात्र, पुष्पहार, घण्टियाँ अष्ट-मंगल द्रव्य, ध्वज, बंदनवार, पेटक, मंजूषा और आसन तथा पूर्ण-घट आदि सोलह अलंकार होते हैं। इन प्रासादों में मुख-मण्डप, प्रेक्षा-मण्डप, अक्ष-वाटक अर्थात् अखाड़े, मणिपीठक, स्तूप, मूर्तियाँ चैत्य-वृक्ष, इंद्र-ध्वज और कमल-सरोवर भी इसी क्रम से हैं।

इन बावन चैत्यालयों में देव-वर्ग प्रतिवर्ष तीन बार आष्टाह्निक पर्व का आयोजन करते हैं जिसका अनुकरण आज भी जैन समाज में चल रहा है। यह उत्सव आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन के शुक्ल पक्षों के अंतिम आठ दिनों में मनाया जाता है। बृहत् जैन शब्दार्णव[2] में उल्लिखित नंदीश्वर-पंक्तिव्रत कदाचित् इसी आष्टाह्निक उत्सव का प्रतिरूप है। प्रवचन-सारोद्धार[3] के अनुसार, ऐसा ही एक उत्सव नंदीश्वर तप के नाम से श्वेतांबर जैनों द्वारा नंदीश्वर-पट की पूजा के साथ संपन्न किया जाता है।

ठक्कुर फेरु ने मंदिर के भेदों में द्वापंचाशत्-जिनालय का भी विधान किया है, यह बावन लघु मंदिरों का एक समूहमात्र है (रेखाचित्र ४८) जिनमें मध्यवर्ती मुख्य मंदिर भी सम्मिलित है (रेखाचित्र ४९) और जिनकी संयोजना सत्रह-सत्रह की दो पार्श्व-पंक्तियों में, आठ की अग्र-पंक्ति में

---

1 यह संख्या बावन ही है, अधिक नहीं, जैसा कि शाह ने संदेह व्यक्त किया है; जिसे वे 'शाश्वत जिनालय-सहित मध्यवर्ती पर्वत' कहते हैं वह वस्तुतः अंजन है जिसके बिना बावन की संख्या पूरी नहीं होती. इस संदेह की पुष्टि में उन्होंने जो प्राचीन ग्रंथों के संदर्भ दिये हैं उनसे भी इस संख्या के बावन से अधिक होने का समर्थन नहीं होता. द्रष्टव्य, शाह, वही, पृ 120.

2 भाग 2, 1934, सूरत, पृ 512.

3 इसपर सिद्धसेन गणी की टीका विशेष रूप से द्रष्टव्य है, 1952, बंबई. गाथा 1915.
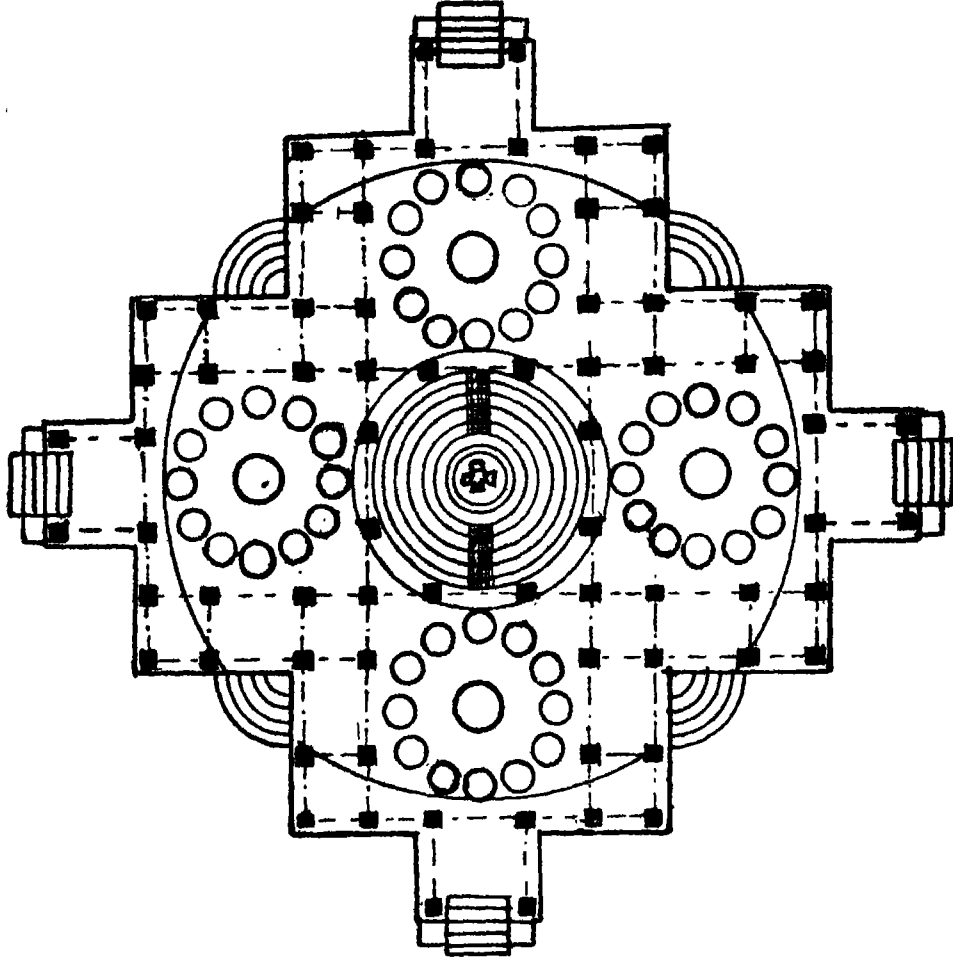
रेखाचित्र 48. नंदीश्वर-द्वीप प्रासाद (प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा के अनुसार)

और नौ की पृष्ठ-पंक्ति में होती है। यह संख्या बावन और नंदीश्वर द्वीप के जिनालयों की संख्या के अनुरूप अवश्य है किन्तु इस द्वापंचाशत् जिनालय की निर्दिष्ट रूपरेखा और नंदीश्वर द्वीप की लोकविद्या के अंतर्गत निर्दिष्ट रूपरेखा में पर्याप्त भिन्नता है, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि द्वापंचाशत् जिनालय भी नंदीश्वर-द्वीप-जिनालय का एक सरलीकृत रूपांतर है।

मंदिर में पूर्वोक्त (पृष्ठ ५२५), पच्चीस भेदों में जो नंदिशाल और नंदीश नाम हैं उन्हें नंदीश्वर द्वीप-जिनालय के ही रूपांतर माना जा सकता है पर विवरण के अभाव में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। पहले (पृष्ठ५२८) जिन बावन जिन-प्रासादों की नामावली दी गयी है उन्हें नंदीश्वर-द्वीप-जिनालय माना जाये तो नंदीश्वर द्वीप के बावन जिनालयों के नाम और कुछ विशेषताएं ज्ञात हो सकेंगी, अन्यथा ये अज्ञात ही हैं।
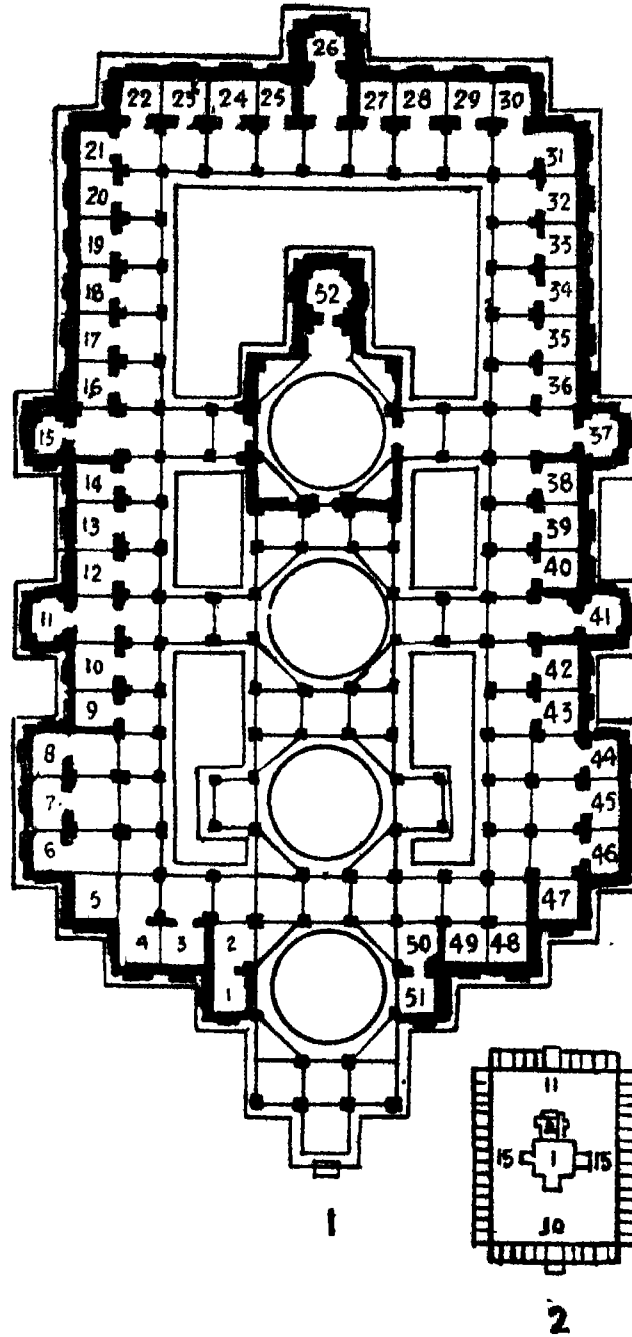
रेखाचित्र 49. नंदीश्वर-द्वीप प्रासाद के विविध रूप (प्रभाशंकर ओ० सोमपुरा के अनुसार) : 1. बावन जिन-चैत्यों का विभाजन; 2. बावन जिन-चैत्यों की सामान्य प्रस्तुति.

कला के क्षेत्र में नंदीश्वर-द्वीप की पाषाण[1] या कांस्य की अनुकृतियाँ बनीं तथा पच्चीकारी और चित्रांकन में भी उसे स्थान मिला, किन्तु स्थापत्य में वह कदाचित् गत शताब्दी में ही प्रस्तुत किया गया जब गुजरात के शत्रुंजय पर्वत पर इस नाम के दो मंदिरों का निर्माण हुआ [2] ये दोनों विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं क्योंकि उनमें बावन लघु मंदिरों के मध्य में एक-एक अतिरिक्त मंदिर भी है जो शत्रुंजय पर्वत का प्रतिरूप है। कुछ दिन पूर्व बिहार के मधुवन नामक स्थान पर दिगंबर जैनों ने एक नंदीश्वर-द्वीप-जिनालय का निर्माण कराया है। मूर्तिकला में नंदीश्वर-द्वीप के शिल्पांकन के लिए दिगंबर चार पीठों की वेदी पर या मंदिर की अनुकृति पर चारों ओर तीर्थंकरों की लघु-मूर्तियाँ उत्कीर्ण करते हैं किन्तु श्वेतांबर पाषण-शिला या धातु-फलक पर तेरह-तेरह के चार वर्गों में मंदिरों की बावन आकृतियाँ विभिन्न कलात्मक रूपों में उत्कीर्ण करते हैं।

समवसरण

तीर्थंकर[3] की दिव्य-ध्वनि समवसरण में ही उच्चरित होती है जिसकी रचना सौधर्म इंद्र के आदेश पर कुबेर द्वारा माया से की जाती है। तीर्थंकर का प्रस्थान होते ही वह समवसरण विघटित हो जाता है और अन्य स्थान पर उसकी रचना पुनः की जाती है। सूर्य-मण्डल की भाँति वर्तुलाकार यह रचना एक ऐसी वास्तु-कृति के समान है जिसे विशाल सोद्यान-प्रेक्षागृह या पार्क-कम-ऑडिटोरियम कहा जा सकता है, किन्तु इसका विस्तार १२ योजन होता है।[4]

उसके उत्तुंग अधिष्ठान पर चारों ओर से दो-दो हजार सोपानों से पहुँचा जाता है, प्रत्येक सोपान एक हस्त ऊँचा होता है। तब, दोनों ओर वेदिकाओं से सुरक्षित वीथियाँ या विस्तृत मार्ग प्रारंभ होते हैं। चारों ओर से आगे बढ़ती ये वीथियाँ नीलमणियों के क्षेत्र से होती हुई समवसरण के केंद्र तक पहुँचती हैं। स्फटिक मणियों से जटित वेदिकाओं के सतोरण गोपुरों पर लहराते ध्वज और बंदनवार आकृष्ट करते हैं।

---

1 रामचंद्रन् (टी एन) ने एक पाषाण-निर्मित लघु नंदीश्वर-द्वीप का उल्लेख किया है, उसका आकार चतुष्कोण पीठ पर निर्मित विमान की भाँति है जिसके चारों ओर एक-एक देवकोष्ठ है। समूचे विमान पर शिखर की संयोजना से यह कृति एक भव्य जिन-प्रसाद की अनुकृति-सी बन पड़ी है। द्रष्टव्यः **तिरुप्परुत्तिक्कुण्रम् एण्ड इट्स टेम्पल्स**, 1934, मद्रास, पृ 181, चित्र 21, रेखाचित्र 4.

2 फर्ग्यूसन (जे) **हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर**, (संशोधित संस्करण), 1967, दिल्ली, भाग 2. पृ 29-30. रेखाचित्र 279, वहाँ इन मंदिरों का विस्तृत परिचय भी दिया गया है.

3 तीर्थंकर केवल कर्मभूमियों में उत्पन्न होते हैं, भोगभूमियों में नहीं.

4 उत्तरोत्तर तीर्थंकरों के समवसरणों का विस्तार क्रमशः कम होता गया है, पर विदेह क्षेत्रों में वह आद्योपांत 12 योजन ही रहता है.

सर्वप्रथम धूलिशाल अर्थात् मिट्टी का प्राचीर मिलता है जिसकी चारों दिशाओं के विजय, वैजयंती, जयंत और अपराजित नामक चारों दिशाओं के द्वार त्रि-तल वास्तु-कृतियाँ होती हैं जिनकी शोभा मंगल-द्रव्य, नव-रत्न, और धूप-पात्र धारण करती विशाल प्रतिमाएँ बढ़ाती हैं। द्वारों के बाहर मकर-तोरण और भीतर रत्न-तोरण होते हैं, दोनों ओर मध्य में नाट्यशाला होती है; रत्न-दण्ड धारण किये देव इन द्वारों की रक्षा करते हैं।

धूलिशाल के भीतर १½ कोश का क्षेत्र चैत्य-प्रासाद भूमि कहलाता है। इस वलयाकृति या चूड़ी के आकार की विस्तृत भूमि की भीतरी सीमा पर वेदिका होती है और मध्य में प्रासादों की पंक्तियाँ। चैत्य-प्रासाद भूमि का नाम सार्थक है क्योंकि उसमें पाँच-पाँच प्रासादों के पश्चात् एक-एक चैत्य या जिनालय होता है। यहाँ से आगे बढ़ती उपर्युक्त चारों वीथियों के किनारे नाट्यशालाएँ और नृत्यमण्डप होते हैं।

इस क्षेत्र में जिन स्थानों पर ये चारों वीथियाँ प्रवेश करती हैं वहाँ एक-एक उत्तुंग मान-स्तंभ अर्थात् मान वाले स्तंभ होते हैं जिनका अधिष्ठान तीन पीठ वाला होता है। नीचे के पीठ में आठ और मध्य और ऊपर के पीठों में चार-चार सोपान होते हैं। अधिष्ठान की तीसरी वेदिका के द्वारों पर चारों दिशाओं में एक-एक स्फटिकोज्ज्वल सरोवर होता है। प्रत्येक सरोवर की अपनी द्वार-सहित वेदिका होती है, उसके सोपान मणि-खचित होते हैं और प्रत्येक के साथ दो-दो लघु सरोवर और होते हैं। मान-स्तंभ की ऊँचाई संबद्ध तीर्थंकर की ऊँचाई से बारहगुनी होती है और उसके तीन वृत्तखण्ड होते हैं, नीचे के खण्ड में वज्र की भाँति दुर्भेद्य वज्रद्वार होते हैं, दूसरा खण्ड स्फटिकमय होता है और ऊपर का वैडूर्यमय। चारों ओर चमर, घण्टियाँ, क्षुद्र-घण्टिकाएँ या किंकिणियाँ, मणिमालाएँ, ध्वज आदि की छटा बिखरी होती है। मान-स्तंभ के शीर्ष पर चारों ओर एक-एक तीर्थंकर-मूर्ति होती है जो इंद्र के द्वारा इस अवसर के लिए विशेष रूप से किसी अकृत्रिम चैत्यालय से लायी जाती है और जो अष्ट प्रातिहार्यों अर्थात् अशोक वृक्ष, सिंहासन, छत्र-त्रय, भामण्डल, दिव्य-ध्वनि देव-कृत पुष्पवृष्टि, चमर डुलाते चौंसठ यक्ष और दुंदुभि-वादक से मण्डित होती है। इस क्षेत्र की भीतरी सीमा की वेदिका में चारों ओर एक-एक द्वार होता है।

इस वेदिका के भीतर जलमय क्षेत्र अर्थात् खातिका भूमि होती है। स्फटिकोज्ज्वल जल, कमलनियों और जल-जंतुओं से भरपूर खातिका भूमि के सोपान मणिमय होते हैं।

खातिका भूमि की भीतरी सीमा पर भी एक वेदिका होती है जिसके भीतर वल्ली भूमि अर्थात् वन होता है। यह तीसरा क्षेत्र प्रथम से दोगुना विस्तृत होता है और आकर्षक दृश्य, सघन वृक्षों के मध्य लता-कुंज और मुक्ताकाश में उपलब्ध आसन इस क्षेत्र को सुविधा-संपन्न बनाते हैं। वल्ली भूमि की भीतरी सीमा पर समवसरण का दूसरा प्राचीर होता है जिसके चारों ओर यक्ष-रक्षित और शिखराकार द्वारों पर पशुओं और नारी-आकृतियों के चित्रांकन आकृष्ट करते हैं।

दूसरे प्राचीर के भीतर उपवनभूमि होती है। अशोक, चंपक, आम्र और सप्तपर्ण नामक वृक्षों से शोभायमान मार्गों से विशिष्ट इस चौथी भूमि का विस्तार प्रथम भूमि के विस्तार से दोगुना होता है। यहाँ भी नाट्यशिलाएं होती हैं जिनमें नृत्य और संगीत का क्रम स्थायी रूप से चलता रहता है। चैत्य वृक्ष अर्थात् वृक्षाकार मंदिर इस भूमि को अत्यधिक उल्लेखनीय बनाते हैं। इसकी भीतरी सीमा तीसरा प्राचीर बनाता है।

प्रथम प्राचीर से दोगुने आकार के और उसी की भाँति द्वारों से विशिष्ट इस प्राचीर पर विशेषतः उसके द्वारों के समीप, इतने ध्वज लहराते होते हैं कि उसके भीतर की भूमि का नाम ही ध्वज-भूमि होता है। इन लाखों ध्वजों पर सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चंद्र या वस्त्र-खण्ड, सूर्य या माला, हंस, कमल और चक्र के चिह्न अंकित होते हैं। इस भूमि की भीतरी सीमा बनाने वाला प्राचीर द्वारों और संगीत-मण्डपों की दृष्टि से धूलिशाल के समान, परंतु आकार में दोगुना होता है।

और तब, समवसरण के छठे क्षेत्र कल्प-वृक्ष भूमि का आरंभ होता है जिसके वन-प्रांतरों में एक अद्भुत क्रम से बिखरे वृक्षाकार भूखण्ड अर्थात् कल्प-वृक्ष अपने चमत्कार से दर्शक को आकृष्ट किये बिना नहीं रहते। कल्प-वृक्षों के दस भेद यथानाम तथा गुण होते हैं : पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, माल्यांग, और ज्योतिरंग। इनके मध्य यत्र-तत्र नाट्य-शालाएँ और संगीत-मण्डप होते हैं और इन कल्प-वृक्षों की स्वर्णमय पीठिका पर तीर्थंकर-मूर्तियाँ विराजमान होती हैं। प्रथम क्षेत्र से दोगुना विस्तृत यह क्षेत्र भीतर की ओर चौथे प्राचीर द्वारा सीमित होता है जिसके द्वारों की रक्षा नागकुमार करते हैं।

अब भवन भूमि में प्रवेश होगा जो समवसरण का सातवाँ क्षेत्र होता है और जिसका आकार प्रथम क्षेत्र के समान है। इसमें बहुमूल्य पाषाणों और धातुओं से निर्मित अगणित भवन तथा अन्य आवासगृह होते हैं और इसकी चारों वीथियों में नौ-नौ स्तूपों की एक-एक पंक्ति होती है, जिनके नाम हैं : लोक, मध्यम-लोक, मंदर, ग्रैवेयक, सर्वार्थसिद्धि, सिद्धि, भव्य, मोह और बोधि। इनमें तीर्थंकरों और सिद्धों की मूर्तियाँ विराजमान होती हैं, और दो-दो स्तूपों के मध्य सौ-सौ मकर-तोरण होते हैं। इस क्षेत्र की भीतरी सीमा पर स्थित प्राचीर आकाश-स्फटिक शाल कहलाता है क्योंकि वह श्वेत स्फटिक से निर्मित होता है। यह सभी दृष्टियों से धूलिशाल के समान होता है किन्तु इसके द्वारपाल कल्पवासी होते हैं।

इसके अनंतर एक योजन गुणित एक योजन का वह स्वच्छ और उन्मुक्त क्षेत्र होता है जिसके मध्य में श्री-मण्डप या लक्ष्मीश्वर-मण्डप नामक वर्तुलाकार प्रेक्षा-गृह घड़ी के अनुकरण पर बारह समान कोष्ठों में विभक्त होता है ; प्रति दो वीथियों के मध्य चार कोष्ठ होने से इन सबकी विभाजक भित्तियों की संख्या सोलह होती है। ये भित्तियाँ स्फटिक से बनी होती हैं और इन्हें स्वर्णमय स्तंभ आधार देते हैं। श्रोता निर्धारित कोष्ठों में ही स्थान ग्रहण करते हैं; उनका क्रम है : तीर्थंकर के पट्ट-शिष्य गणधर तथा अन्य मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, सभी महिलाएं तथा आर्यिकाएँ, ज्योतिष्क

देवांगनाएँ, व्यंतर देवांगनाए, भवनवासिनी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यंतर देव, ज्योतिष्क देव, कल्पवासी देव, मनुष्य तथा उनके शासक, सामंत आदि, और पशु-पक्षी ।

समवसरण के मध्य-बिन्दु पर गंध-कुटी होती है। उसकी बाहरी और श्री-मण्डप की भीतरी सीमा बनाती है वह वेदिका जो समवसरण में पाँचवीं तथा अंतिम होती है और जो चौथे प्राचीर के अनुरूप होती है । गंध-कुटी वस्तुत: तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि के विस्तार के लिए एक विशाल मंच के समान है, वह तीन वर्तुलाकार पीठों पर निर्मित एक चतुष्कोण वास्तु-कृति होती है । पूर्वोक्त मान-स्तंभ के पीठों की भाँति आकार-प्रकार के ये मणिमय पीठ विभिन्न प्रतीकों और मंगल द्रव्यों से अलंकृत होते हैं और उनकी चारों दिशाओं में यक्षेंद्र मस्तक पर धर्म-चक्र धारण किये खड़े रहते हैं । नीचे के पीठ में सोलह-सोलह सोपानों की सोलह वीथियाँ होती हैं । चार सोपान-वीथियाँ तो उन चार वीथियों से आरंभ होती हैं जो समूचे समवसरण में होकर आयी होती हैं, और शेष बारह सोपान-वीथियाँ बारह कोष्ठों से आरंभ होती है जिनसे आकर गणधर आदि श्रोता तीर्थंकर की प्रदक्षिणा करके पूजा करते हैं और अपने कोष्ठ में चले जाते हैं । बीच के पीठ पर मणिदण्डों पर लहराते ध्वज स्थापित होते हैं जिनपर सिंह, वृषभ, कमल, चक्र, माला, गरुड, और गज के चिह्न अंकित होते हैं । इसी पीठ पर धूप-पात्र नव-निधियाँ, पूजा की वस्तुएँ, और मंगल-द्रव्य स्थापित होते हैं । इस पीठ में और ऊपर के पीठ में भी चारों दिशाओं में आठ-आठ सोपानों की एक-एक वीथि होती है । तीसरे पीठ के मध्य में स्थित गंध-कुटी अपने नाम के अनुरूप गोशीर, मलय-चंदन, कालागुरु आदि धूपों की सुगंध बिखेरती रहती है । चमर, किंकिणियाँ, मणि-मालाएँ, ध्वज और दीप गंध-कुटी की शोभा में वृद्धि करते हैं। उसके मध्य में वह भव्य सिंहासन होता है जिसका निर्माण इस लोक और स्वर्ग-लोक की सर्वोत्कृष्ट मणि-मुक्ताओं से किया जाता है । उसपर स्थापित प्रफुल्ल सहस्र-दल कमल पर, तीर्थंकर इस तरह विराजमान होते हैं कि वे उससे छूते नहीं बल्कि उससे चार अंगुल ऊपर अधर में ही विराजमान रहते हैं । उनके समीप अशोक वृक्ष और मस्तक पर उज्ज्वल छत्र-त्रय का आयोजन होता है । चौंसठ यक्ष उन्हें चमर डुलाते हैं । उनकी पृष्ठभूमि पर प्रकाशमान भामण्डल शोभायमान होता है । आकाश देवकृत दुंदुभि-ध्वनि से गूँज उठता है । अब उनका विशेषण तीर्थंकर पूरी तरह सार्थक होता है क्योंकि वे सब ओर से ऐसे दीख पड़ते हैं मानों उसी ओर मुख किये बैठे हों, यद्यपि वे बोलते हैं पूर्व की ओर मुख करके । उनकी दिव्य-ध्वनि सर्वार्थ-मागधी भाषा में ऐसे उच्चरित होती है मानो उफनता समुद्र गर्जना कर रहा हो । उनकी ध्वनि प्रत्येक दर्शक को उसकी अपनी ही भाषा में समझ में आती है क्योंकि वह सर्वांग से निकलती है, इसीलिए उस ध्वनि को अनक्षरी वाणी कहा जाता है ।

गणधर उनकी वाणी सभी को समझाते हैं और उसे बारह मुख्य भेदों में अर्थात् द्वादशांग या द्वादशार के रूप में संकलित करते हैं, पूर्व नामक बारहवें अंग के चौदह भेद किये जाते हैं । ध्वनि के संपन्न होते ही सौधर्मेंद्र अपनी संगीत-मण्डली को आदेश देकर अपनी भक्ति का प्रदर्शन करता है; और तब तीर्थंकर मंगल-विहार करते हैं कि तभी समवसरण विघटित हो जाता है और पुन: यथास्थान उसकी रचना होती है ।

पौराणिक प्रतीकों समवसरण, मान-स्तंभ, गंध-कुटी, अष्टापद आदि, लोकविद्या-संबंधी मेरु, नंदीश्वर द्वीप आदि और इसी तरह मूर्तिशास्त्र-संबंधी प्रतीकों के व्यावहारिक रूप अपने-अपने ग्रंथों के विधानों के पूर्णतया अनुरूप बहुत कम ही दृष्टिगत हुए हैं, यहाँ तक कि उनकी अनुरूपता साहित्यिक संदर्भों से भी अपर्याप्त होती है, यद्यपि ये संदर्भ विशेष रूप से प्रतीकों के विषय में, कई कारणों से विषय-विशेष के ग्रंथों का ही काम करते है। सच तो यह है कि समवसरण, नंदीश्वर-द्वीप आदि विशाल तथा जटिल रचनाओं को विस्तृत वास्तु-कृतियों के रूप में भी पूर्णतया यथावत् प्रतिष्ठित करना किसी भी स्थपति या मूर्तिकार के लिए प्रायः असंभव है।[1]

गोपीलाल अमर

---

1 इस अध्याय के रेखाचित्रों का आधार अग्रलिखित है। भगवानदास जैन द्वारा सपादित **वत्थुसार-पयरण** (पृ510, टिप्पणी 5); प्रभाशंकर ओघडभाई सोमपुरा द्वारा संपादित विश्वकर्मा का **दीपार्णव** (पृ510, टिप्पणी 1); और मुज़फ़्फ़रपुर से 1957 में प्रकाशित ब्रह्मचारी मुख्त्यानंद सिंह की **मोक्षशास्त्र-कौमुदी.**

भाग 10

संग्रहालयों में कलाकृतियाँ

अध्याय 37

विदेशों के संग्रहालय

ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन

ब्रिटिश म्यूजियम में जैन मूर्तिकला की प्रारंभिक कृतियाँ मथुरा-क्षेत्र की हैं जो गुप्तकाल में लगभग पाँचवीं शताब्दी की निर्मित हैं। इनमें से तीर्थंकरों की तीन प्रतिमाओं के मात्र शीर्ष-भाग ही यहाँ उपलब्ध हैं जो उल्लेखनीय हैं। ये सफेद धब्बोंवाले लाल पत्थर से निर्मित हैं। इन सब प्रतिमाओं में तीर्थंकरों के केश लहरदार घुंघराले छल्लों में प्रसाधित हैं तथा दायीं ओर परिवृत्त हैं। इन प्रतिमाओं के प्रायः गोल चेहरे, धनुषाकार भौंहें, चौड़े गाल तथा सुपुष्ट होंठ मथुरा-क्षेत्र के गुप्तकालीन मूर्तिकारों की कलात्मक प्रतिभा का परिचय देते हैं। मात्र एक प्रतिमा में तीर्थंकर के केश रेखाओं द्वारा चिह्नित उतार-चढ़ावदार क्रम में व्यवस्थित हैं। तीर्थंकर के एक सुंदर आवक्ष प्रतिमा-खण्ड में केशावलि को योजनावत् कुण्डलित रूप में अंकित किया गया है (चित्र ३१५ क)। प्रतिमा के वक्षस्थल पर श्री-वत्स-चिह्न अंकित है जो मथुरा एवं अन्य क्षेत्रों में निर्मित गुप्तकालीन समसामयिक तीर्थंकर-प्रतिमाओं में भी पाया जाता है। तीर्थंकर के सिर के पीछे एक अलंकृत कमलवत् प्रभा-मण्डल है जिसकी बाह्य-परिधि पर मोतियों की किनारी तथा लहरियादर डिजाइनें हैं, जिससे ज्ञात होता है कि ये कुषाणकालीन कलात्मक प्रवृत्तियाँ गुप्तकालीन प्रतिमाओं तक में भी प्रचलित रही हैं।

इस संग्रहालय में मध्यकालीन मध्य भारतीय जैन मूर्तिकला को भी अच्छा प्रतिनिधित्व मिला है। इनमें एक प्रतिमा अष्टभुजी यक्षी की है जो अभिलेखांकित पादपीठ से उभरते हुए पद्म-पुष्प पर ललितासन-मुद्रा में है (चित्र ३१५ ख)। वह अपनी सबसे ऊपर की भुजाओं में एक पुष्प-माला धारण किये है; उसकी ये भुजाएँ मुकुट-युक्त शीर्ष के पीछे की ओर उठी हुई हैं।[1] उसकी एक दायीं भुजा में झूलती झालर वाला चक्र है तथा अन्य दोनों भुजाएँ अभय और वरद-मुद्रा में हैं। बायीं ओर की भुजाओं में वह एक वृत्ताकार दर्पण, एक शंख और संभवतः एक प्याले-जैसी वस्तु लिये है जो आंशिक रूप से खण्डित हो चुकी है। यक्षी के पार्श्व में दोनों ओर सेवि-

---

1 ऊपरी हाथों में पुष्पमाला धारण किये हुए प्रायः ऐसी ही मुद्रा में प्रदर्शित एक आकृति डीडवाना की योग-नारायण प्रतिमा में देखी जा सकती है. देखिए सिंह (एस) एवं लाल (डी), **कैटेलॉग एण्ड गाइड टू सरदार म्यूज़ियम, जोधपुर**, 1960-61. जयपुर, पृष्ठ 8, चित्र 6.

काएँ हैं। यक्षी की दायीं ओर खड़ी एक वामनिका को वीणावादन करते हुए दिखाया गया है और उसकी बायीं ओर के घुटने के पास उसका वाहन गज अंकित है।[1] यक्षी के कमलाकार प्रभा-मण्डल के पार्श्व में दोनों ओर दो पुष्पमाला-धारिणी अप्सराएँ अंकित हैं। प्रतिमा के शीर्ष पर एक तीर्थंकर-प्रतिमा है जिसमें तीर्थंकर ध्यानमग्न पद्मासीन-मुद्रा में अंकित हैं और उनके पार्श्व में एक चमरधारी है। पादपीठ के सम्मुख-भाग पर इस देवी का नाम सुलोचना उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा लगभग नौवीं शताब्दी की एक अत्युत्तम कृति है। इसकी समकालीन इसी क्षेत्र की एक अन्य देवी-प्रतिमा है जिसपर उसका नाम धृति अंकित है। यह देवी अपने वाहन, संभवतः गरुड़ पर, आलीढ-मुद्रा में आसीन है जिसमें वक्षस्थल के समीप उसके हाथ उपासना-मुद्रा में जुड़े हुए हैं (चित्र ३१६ क)।[2] उसकी दायीं भुजाओं में पुष्पों का गुच्छ, दण्ड-सदृश कोई वस्तु, माला तथा पुनः पुष्प अंकित है जबकि बायीं ओर की भुजाओं में कुछ पद्म-पुष्प, सर्प और एक आयुध परशु है। उसकी निचली दो भुजाएँ टूट चुकी हैं जो संभवतः अभय और वरद-मुद्राओं में रही होंगी। देवी की केश-सज्जा एक बड़े जूड़े के रूप में है जो पुष्पों से अलंकृत है। इस प्रकार की केश-सज्जा मध्य एवं पूर्वी भारत की समसामयिक प्रतिमाओं में भी पायी जाती है।[3] देवी के पार्श्व में दोनों ओर त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी सेविकाओं की आकृतियाँ हैं। कमलाकार प्रभा-मण्डल के पार्श्व में दोनों ओर कमनीय मुद्रा में एक-एक वीणा-वादिनी अंकित हैं। प्रतिमा के शीर्ष पर मध्य में ध्यानस्थ तीर्थंकर की प्रतिमा अंकित है जिनके पार्श्व में दोनों ओर सेवक हैं। यद्यपि यह अब अत्यंत क्षति-ग्रस्त हो चुकी है तथापि अपना मूर्तिपरक महत्त्व रखती है।[4]

देवी धृति की समसामयिक इसी क्षेत्र की एक संयुक्त प्रतिमा में एक यक्ष और यक्षी को एक दूसरे के पार्श्व में दो अलंकृत भित्ति-स्तंभों के मध्य एक देवकुलिका में बैठे हुए दर्शाया गया है (चित्र ३१६ ख)। दोनों प्रतिमाओं में दो-दो भुजाएँ अंकित की गयी हैं, दायीं ओर की अभय-मुद्रा में हैं और अंशतः नष्ट हो चुकी हैं, बायीं ओर की भुजाओं में नीबू है जो खण्डित हो चुका है। इस प्रतिमा का एक रोचक विशेषांकन यह है कि इसमें तीन बौनों को एक ऐसे मूर्ति-फलक को आधार प्रदान किये हुए दर्शाया गया है जिसपर एक देव-युगल अंकित है। यक्ष-यक्षी की केंद्रवर्ती प्रतिमा के पार्श्व में दोनों ओर वीणा जैसे वाद्य-यंत्र को बजाती हुई दो नारी-आकृतियाँ हैं। मुख्य

---

1 इस प्रतिमा की तुलना उदयपुर संग्रहालय स्थित बनसी से प्राप्त जैन कुबेर की प्रतिमा से कीजिए. देखिए सोलंकी (पी), **हैण्डबुक टु विक्टोरिया हॉल म्यूज़ियम, उदयपुर.** जयपुर. पृष्ठ 17-18. चित्र 6.

2 विष्णु या लक्ष्मी-नारायण, वैष्णवी (सात-मातृकाओं में से एक) और जैन यक्षी चक्रेश्वरी को गरुड़ पर जब बैठे हुए दर्शाया जाता है तो वे सदैव आलीढ-मुद्रा में होती हैं.

3 शर्मा (बी एन). अनपब्लिश्ड पाल एण्ड सेन स्कल्पचर्स इन द नेशनल म्यूज़ियम, न्यू देहली, **ईस्ट एण्ड वेस्ट,** 19, 3-4; पृ 413-14, चित्र 1 तथा 2.

4 ये दोनों देवी-प्रतिमाएं शैलीगत रूप में मध्य प्रदेश के सोहागपुर क्षेत्र से संबद्ध हैं जहां से अभिलेख-युक्त अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं और वे धुबेला-संग्रहालय में प्रदर्शित हैं. तुलना कीजिए दीक्षित (एस के). **ए गाइड टु द स्टेट म्यूज़ियम, धुबेला,** नौगाँव 1957, रेखाचित्र 10 क.

फलक के शीर्ष पर एक देवकुलिका है जिसमें तीर्थंकर की पद्मासन प्रतिमा है। देवकुलिका के ऊपर कुण्डलाकार शिखर है जिसके आमलक धारीदार हैं। आमलक के दोनों ओर एक-एक विद्याधर-युगल है जो तीर्थंकर की ओर हाथों में मालाएँ लिये उड़ते हुए आ रहे हैं। पादपीठ पर एक पंक्ति का अभिलेख अंकित हैं जिसमें अनंतवीर्य लिखा हुआ है, जो संभवतः यक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है।

एक प्रतिमा जैन यक्षी की है जो संभवतः पद्मावती की है, जिसकी चारों भुजाओं में, घड़ी की सुई के क्रम से क्रमशः खड्ग की मूँठ (तलवार खण्डित हो चुकी है), सर्प, ढाल तथा कमल हैं (चित्र ३१७ क)। यक्षी का सिर थोड़ा दायीं ओर झुका हुआ है और वह तीन फण वाले नाग-छत्र के नीचे त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी है। यक्षी का ऊँचा करण्ड-मुकुट, गले का आभूषण-हार, करधनी, तथा देह-यष्टि का कमनीय प्रतिरूपण आदि विशेषताएँ इंगित करती हैं कि यह प्रतिमा दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के मालवा-क्षेत्र के किसी प्रतिभा-संपन्न परमारकालीन मूर्ति-शिल्पी की अत्युत्तम कृति है।[1] यक्षी के वाहन सर्प को उसके पैरों के समीप रेंगते हुए दर्शाया गया है। यक्षी के पार्श्व में दोनों ओर अंकित सेविकाओं की आकृतियाँ पूर्णरूपेण खण्डित हो चुकी हैं। नाग-फण-छत्र के केंद्रवर्ती फण के ऊपर सेवकों सहित तीर्थंकर की एक लघु प्रतिमा अंकित है।[2]

देवी सरस्वती की उपासना हिंदुओं, बौद्धों और जैनों में समान रूप से लोकप्रिय रही है। जैन धर्म में वह छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की यक्षी के रूप में मान्य रही है। सरस्वती की मध्य-कालीन कुछ प्रतिमाएँ पल्लू[3], लाडनू[4] और देवगढ़[5] से प्राप्त हुई हैं। इस संग्रहालय में एक श्वेत संगमरमर की सरस्वती-प्रतिमा सुरक्षित है जो संभवतः दक्षिण-पश्चिम राजस्थान-क्षेत्र की है। इस प्रतिमा में सरस्वती को अभिलेखांकित पादपीठ पर कमनीय त्रिभंग-मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है (चित्र ३१७ ख)।[6] प्रतिमा की दायीं भुजाएँ खण्डित हो चुकी हैं, बायीं भुजाओं में वह अक्षमाला और पुस्तक लिये है। इस प्रतिमा का विशद करण्ड-मुकुट, मोहक आभूषण और कटिसूत्र से सँभाली गयी

---

1 चंदा (राम प्रसाद). **मेडिवल इण्डियन स्कल्पचर इन द ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन**. पृ 41-42. चित्र 9.

2 इस प्रतिमा की तुलना धार से प्राप्त ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन स्थित प्रसिद्ध सरस्वती की प्रतिमा से की जा सकती है. शर्मा (बी एन) **सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ़ नार्दर्न इण्डिया** (लगभग सन् 1000-1200). 1972. नई दिल्ली. चित्र 9.

3 गोएत्ज़ (हरमन). **आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ़ बीकानेर स्टेट**. 1950. ऑक्सफ़ोर्ड, चित्र 9-10.

4 हाण्डा (डी) एवं अग्रवाल (जी). 'ए न्यू जैन सरस्वती फ्रॉम राजस्थान,' **ईस्ट एण्ड वेस्ट**, 23, 1-2 पृ 169-170 तथा चित्र.

5 भट्टाचार्य (बी सी) **जैन आइकोनोग्राफ़ी**. 1974. दिल्ली. चित्र 41.

6 रोथेंस्टीन (डब्ल्यू) **एक्ज़ाम्पल्स ऑफ़ इण्डियन स्कल्पचर इन द ब्रिटिश म्यूज़ियम**. 1923. लंदन. चित्र 6.

पारदर्शी साड़ी हमें पल्लू से प्राप्त उस प्रसिद्ध सरस्वती-प्रतिमा का स्मरण कराती है जो नयी दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संग्रहालय में प्रदर्शित है (देखिए अध्याय ३८)। इस प्रतिमा के पार्श्व में दोनों ओर ध्यानासीन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं। सरस्वती-प्रतिमा के ऊपरी भाग में तीर्थंकर पद्मप्रभ की लघु आकृति अंकित है जिसमें पुष्पमालाएँ हाथ में लिये उड़ते हुए विद्याधर-दंपतियों की आकृतियाँ भी हैं। देवी के पैरों के समीप दो खड़ी हुई सेविकाओं तथा दान-दाता-दंपति की आकृतियाँ अंकित हैं। इस प्रतिमा के लिए बारहवीं शताब्दी का परमारकालीन समय निर्धारित किया जा सकता है।

यद्यपि, गुजरात के चौलुक्यों तथा उनके उत्तरवर्ती काल में तीर्थंकरों और जैन धर्म के देवी-देवताओं की असंख्य धातु-निर्मित प्रतिमाओं की रचना हुई किन्तु उनमें से अधिकांश एक-जैसी ही हैं। क्योंकि वे एक बड़े पैमाने पर बहुत बड़ी संख्या में जैन धर्मानुयायियों, विशेष कर श्वेतांबरों के लिए उपासना-हेतु निर्मित की गयीं इसलिए उनकी सुदरता और सौंदर्य-बोध पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इस संग्रहालय में महावीर सहित पंच-तीर्थिका भी है जिसमें उन्हें सिंहासन पर बिछे आसन पर एक के ऊपर दूसरा पैर रखे ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। उनके एक पार्श्व में कायोत्सर्ग-मुद्रा में एक तीर्थंकर तथा दूसरे पार्श्व में एक सेवक अंकित है। अन्य दो ध्यानावस्थित तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उनके प्रभा-मण्डल के आस-पास प्रदर्शित हैं। मुख्य प्रतिमा के शीर्ष के ऊपर की देवकुलिका में एक हाथी है जिसके ऊपर एक छत्र है। महावीर के लांछन सिंह को सम्मुख-भाग में उन दो झुके हुए सिंहों के मध्य अंकित किया गया है जो उनके सिंहासन को आधार प्रदान किये हुए हैं। सिंहासन के पार्श्व में एक ओर मातंग यक्ष को और दूसरी ओर सिद्धायिका यक्षी को, जो महावीर के यक्ष-यक्षी हैं, बैठे हुए दर्शाया गया है। पादपीठ के सम्मुख-भाग के केंद्र में धर्म-चक्र का प्रतीक बना हुआ है जिसकी दोनों ओर हरिण और नवग्रह अंकित है। दो मानव-आकृतियाँ जो इस प्रतिमा के दान-दाताओं की हैं, हाथों को अंजलि-मुद्रा में आबद्ध किये दोनों ओर के छोरों पर अंकित हैं। इनकी बड़ी-बड़ी उभरी हुई आँखें, सपाट नाक, गोल और भारी होंठ तथा सपाट धड़-भाग की विशेषताएँ इस प्रतिमा के लिए उत्तरवर्ती, संभवतः पंद्रहवीं शताब्दी के समय का संकेत देती हैं।

तीर्थंकर की एक अन्य प्रतिमा भी इस संग्रहालय में है जो कुशलता से नहीं गढ़ी गयी है। यह प्रतिमा संभवतः बिहार की है जिसमें उन्हें एक छत्र के नीचे ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है और पार्श्व में दोनों ओर एक-एक चमरधारी हैं। प्रतिमा के मध्यवर्ती फलक पर एक नर और नारी की एक दूसरे के पार्श्व में बैठी हुई आकृतियाँ अंकित हैं जो संभवतः तीर्थंकर के यक्ष और यक्षी हैं। पुरुष अपनी गोद में एक बालक को बैठाये है तथा दूसरे हाथ में एक पुष्प धारण किये है। नारी का दायाँ हाथ खण्डित हो गया है। वह एक बालक को अपनी गोद में दायीं ओर और दूसरे को बायीं ओर बैठाये है। किसी लाक्षणिक चिह्न के अंकित न होने से इन आकृतियों को पहचानना संभव नहीं है। सबसे निचले फलक में पाँच बौनी आकृतियाँ विभिन्न हाव-भाव और मुद्राओं में अंकित हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश से प्राप्त एक प्रतिमा, जो इस समय भारत कला भवन वाराणसी में प्रदर्शित है, इस प्रतिमा के साथ तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त रहेगी। शैलीगत

आधार पर इस प्रतिमा के लिए लगभग आठवीं शताब्दी का प्रारंभिक पाल काल निर्धारित किया जा सकता है।

एक आयताकार पादपीठ पर ध्यान-मुद्रा में बैठे तीर्थंकर की धातु-प्रतिमा भी उपलब्ध है। यह प्रतिमा बुरी तरह क्षति-ग्रस्त हो चुकी है। संभवतः यह प्रतिमा बिहार-क्षेत्र से संबंधित है। यद्यपि तीर्थंकर का लांछन दिखाई नहीं देता तथापि कंधों पर लहराते हुए केश-गुच्छों के कारण उन्हें निश्चित रूप से तीर्थंकर ऋषभनाथ के रूप में पहचाना जा सकता है। अलंकरण-विहीन वृत्ताकार प्रभा-मण्डल, जिसकी परिधि से अग्नि-ज्वालाएँ निकल रही हैं यह संकेत देता है कि इस प्रतिमा की रचना नवीं-दसवीं शताब्दी में पाल-काल में हुई होगी।

पूर्व-गंग शैली में निर्मित उड़ीसा की चार प्रतिमाएँ, जिन्हें पिछली शताब्दी में भारत से ले जाया गया, इस समय ब्रिटिश म्यूजियम के डिपार्टमेण्ट ऑफ दि ओरिएण्टल एण्टीक्विटीज के अंतर्गत ब्रिज कलेक्शन के नाम से प्रसिद्ध मूर्ति-संग्रह में सुरक्षित हैं। अत्यंत कुशलता से उत्कीर्ण एक पाषण-प्रतिमा में ऋषभनाथ और महावीर को दिगंबर अवस्था में एक दूसरे के पार्श्व में खड़े आजानु-बाहु कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है (चित्र ३१८ क)। ऋषभनाथ के सिर पर केशों का एक उन्नत जटा-मुकुट है और केश कंधों पर लहरा रहे हैं।

महावीर के केश छोटे-छोटे घुँघराले छल्लों के रूप में हैं तथा उन्हें मस्तक पर उभरा हुआ अंकित किया गया है। सप्राण आकृतियाँ, लंबे कान घुटनों तक पहुँचने वाली लंबी वेलनाकार भुजाएँ, सानुपातिक देह-यष्टि की विशेषताएँ तथा नासाग्र-दृष्टि, नेत्रों का अंकन उनके शांत, सौम्य एवं करुण भाव का प्रकाशन करता है। प्रतिमा के पादपीठ पर ऋषभनाथ का लांछन बैठा हुआ वृषभ तथा महावीर का लांछन सिंह अंकित है। इन लांछनों के साथ पादपीठ के केंद्र में ऐरावत हाथी पर आरूढ़ इंद्र की एक लघु आकृति तथा दायें कोने पर इस प्रतिमा के दान दाता-दंपति की आकृति अंकित है। मुख्य प्रतिमा के दोनों पार्श्वों में एक-एक और चमरधारी सेवक खड़ा है। यह प्रतिमा ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभिक गंग-काल का एक उत्तम निदर्शन है।

पार्श्वनाथ की दो प्रतिमाओं में से एक में नाग की कुण्डली के आगे पार्श्वनाथ कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए हैं। उनके दिव्य शरीर के ऊपर नाग के सात फण दिखाई दे रहे हैं। तीर्थंकर के केश घुँघराले छल्लों के रूप में हैं तथा सिर के ऊपर ऊँचे उभरे हुए हैं। तीर्थंकर की इस दिगंबर प्रतिमा के पार्श्व में एक चमरधारी सेवक है तथा प्रत्येक दिशा में चार नक्षत्र अंकित हैं। इस प्रतिमा के लिए बारहवीं शताब्दी का समय निश्चित किया जा सकता है।

इसके समसामायिक पार्श्वनाथ की एक अन्य उत्कृष्ट प्रतिमा में, जो कई जगह से खण्डित हो चुकी है, एक सुंदर प्रस्तुति देखने को मिलती है। हम प्रतिमा के पृष्ठ-भाग में नाग

की क्षैतिजिक क्रम में व्यवस्थित कुण्डलाकार एक विशाल आकृति है जिसके समक्ष कायोत्सर्ग-मुद्रा में पार्श्वनाथ अंकित है। इस प्रतिमा में उपरोक्त प्रतिमा की भाँति नक्षत्रों का अंकन नहीं है।

जैनों में लोकप्रिय अंबिका यक्षी को, जिसे शिशुओं सहित आम्र-वृक्ष के नीचे अनेक प्रतिमाओं में उत्कीर्ण पाया जाता है, चित्र ३१८ ख में एक अप्सरा की-सी लचीली मुद्रा में आकर्षक रूप से खड़ी हुई अंकित किया गया है; इसके ऊपरी भाग में तीर्थंकर नेमिनाथ की एक लघु आकृति अंकित है। यक्षी के पार्श्व में दोनों ओर उत्कीर्ण लताओं में बंदर आदि का विभिन्न प्रमोदकारी मुद्राओं में अंकन किया गया है। यक्षी जूड़ा बाँधे हुए तथा चौड़ा पट्टीदार गले का हार एवं उत्तरीय धारण किये है। उत्तरीय का एक सिरा उसके बायें वक्षस्थल को ढँकता हुआ ऊपर की ओर तथा दूसरा सिरा दायें हाथ के पार्श्व से नीचे की ओर होकर जाता हुआ दर्शाया गया है। यक्षी की पारदर्शी साड़ी घुटनों से भी ऊँची बँधी हुई है तथा उसके कटि-भाग पर रत्न-जड़ित मेखला आबद्ध है। अंबिका का ज्येष्ठ शिशु शुभंकर उसकी दायीं ओर खड़ा हुआ अंबिका के दायें हाथ में लगे हुए आम्र-फलों के गुच्छे में से एक फल तोड़ने की चेष्टा कर रहा है, यक्षी बायें हाथ से अपने कनिष्ठ शिशु प्रभंकर को सँभाले हुए है। पादपीठ के समक्ष भाग पर बैठे हुए सिंह तथा इस प्रतिमा के दान-दाता की आकृति अंकित है। यह प्रतिमा हमें उड़ीसा से प्राप्त प्राय: इसकी समकालीन देवी प्रतिमा का स्मरण कराती है जो इस समय अमरीका की स्टेण्डहल गैलरीज में सुरक्षित है।[1] इस प्रतिमा के लिए लगभग ग्यारहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है।

दक्षिण भारत से लायी गयी आदिनाथ की चौबीसी में पंच-रथ प्रकार के पादपीठ पर कायोत्सर्ग तीर्थंकर प्रदर्शित हैं। दायीं ओर के ऊपरी भाग में उत्कीर्ण प्रतिमाएँ खण्डित और लुप्त हो चुकी हैं। अब जो भाग शेष बचा है उसपर ध्यान-मुद्रा में अंकित बैठी हुई तीर्थंकर-प्रतिमाएँ देखी जा सकती हैं। मोती के आकार के दानों से अलंकृत परिधि-युक्त प्रभा-मण्डल और कंधों पर लहराते हुए केश-गुच्छ प्रमाणित करते हैं कि यह प्रतिमा तीर्थंकर ऋषभनाथ की होनी चाहिए। पादपीठ के सम्मुख-भाग पर यक्ष और यक्षी अंकित हैं जो अपनी चारों भुजाओं में अपने-अपने विशेष उपादान ग्रहण किये हुए हैं। यहाँ यह उल्लेख करना रोचक रहेगा कि तीर्थंकर के वक्ष पर श्रीवत्स का चिह्न अंकित नहीं है जब कि उत्तर भारत (बंगाल के अतिरिक्त) की तीर्थंकर-प्रतिमाओं में श्रीवत्स का अंकन होता है लेकिन दक्षिण भारत और दक्षिणापथ की तीर्थंकर-प्रतिमाएँ बिना श्रीवत्स-चिह्न के अंकित की गयी हैं।[2] इस तथ्य को दक्षिण भारत की ऐसी ही समस्त प्रतिमाओं में देखा जा सकता है।

---

1 डेविडसन (जे लेरोय). आर्ट ऑफ़ दि इण्डियन सब-कॉण्टीनेण्ट फ्रॉम लॉस एंजिल्स कलेक्शन्स. 1968. लॉस एंजिल्स. चित्र 36.

2 शिवराम मूर्ति (सी). 'ज्योग्राफ़िकल एण्ड क्रोनोलॉजीकल फ़ैक्टर्स इन इण्डियन आइकोनोग्राफ़ी,' एंशिएण्ट इण्डिया 6, 1950. पृ 44-46.
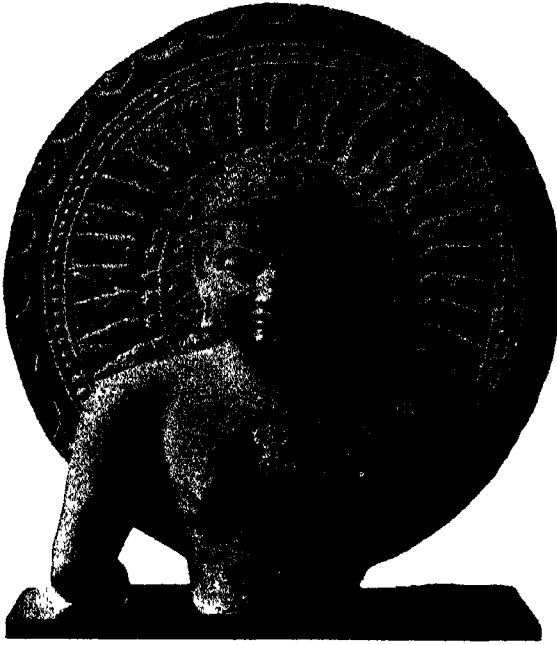
(क) ब्रिटिश म्यूजियम : एक तीर्थंकर-मूर्ति का धड़ (मथुरा)

(ख) ब्रिटिश म्यूजियम : यक्षी बुलोरबना (मध्य भारत)

चित्र 315

(क) ब्रिटिश म्यूज़ियम : यक्षी मूर्ति (मध्य भारत)

(ख) ब्रिटिश म्यूज़ियम : एक युगल (मध्य भारत)

चित्र 316
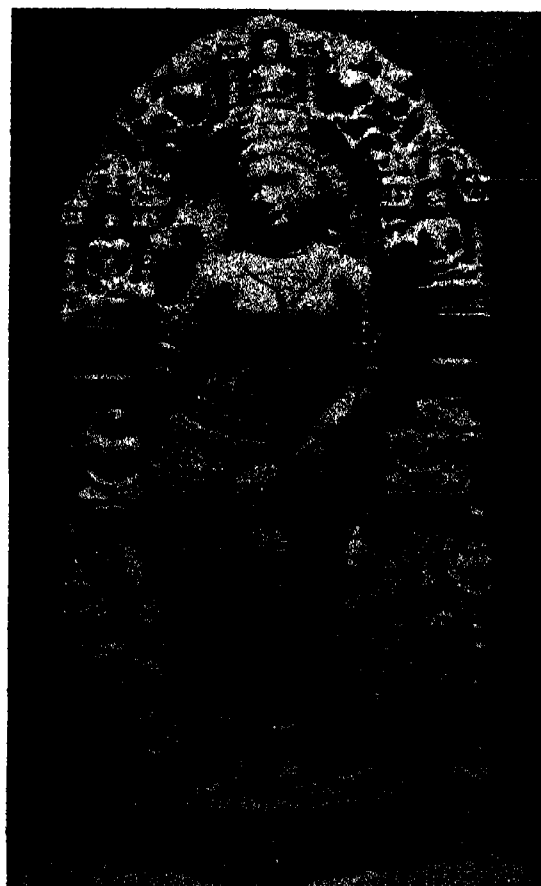
(ख) ब्रिटिश म्यूज़ियम : सरस्वती (दक्षिण-पश्चिम राजस्थान)

(क) ब्रिटिश म्यूज़ियम : यक्षी पद्मावती (मध्य भारत)

चित्र 317
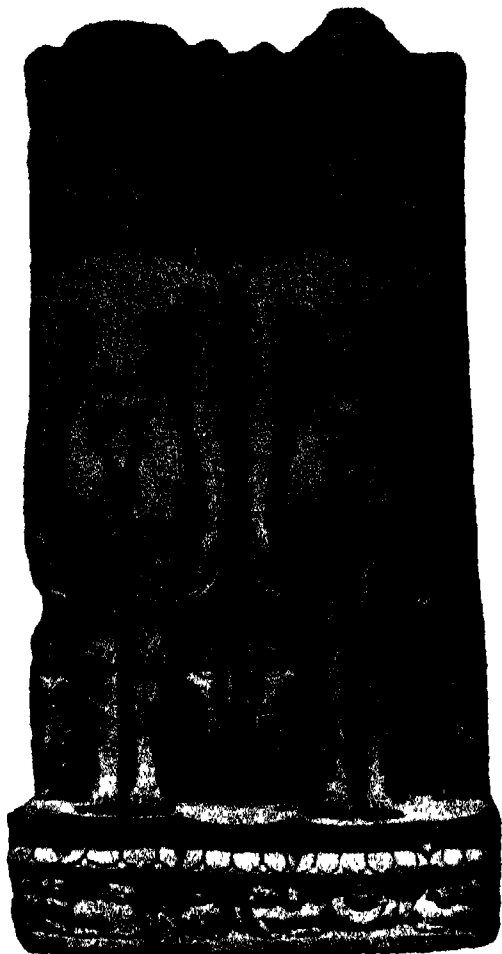
(क) ब्रिटिश म्यूज़ियम : ऋषभनाथ और महावीर (उड़ीसा)

(ख) ब्रिटिश म्यूज़ियम . यक्षी अंबिका (उड़ीसा)

चित्र 318

(ख) ब्रिटिश म्यूजियम : कांस्य-निर्मित सरस्वती (कर्नाटक)

(क) ब्रिटिश म्यूजियम : तीर्थंकर पार्श्वनाथ (कर्नाटक)

चित्र 319

ब्रिटिश म्यूजियम : कांस्य-निर्मित तीर्थंकर पार्श्वनाथ (दक्षिण भारत)

चित्र 320
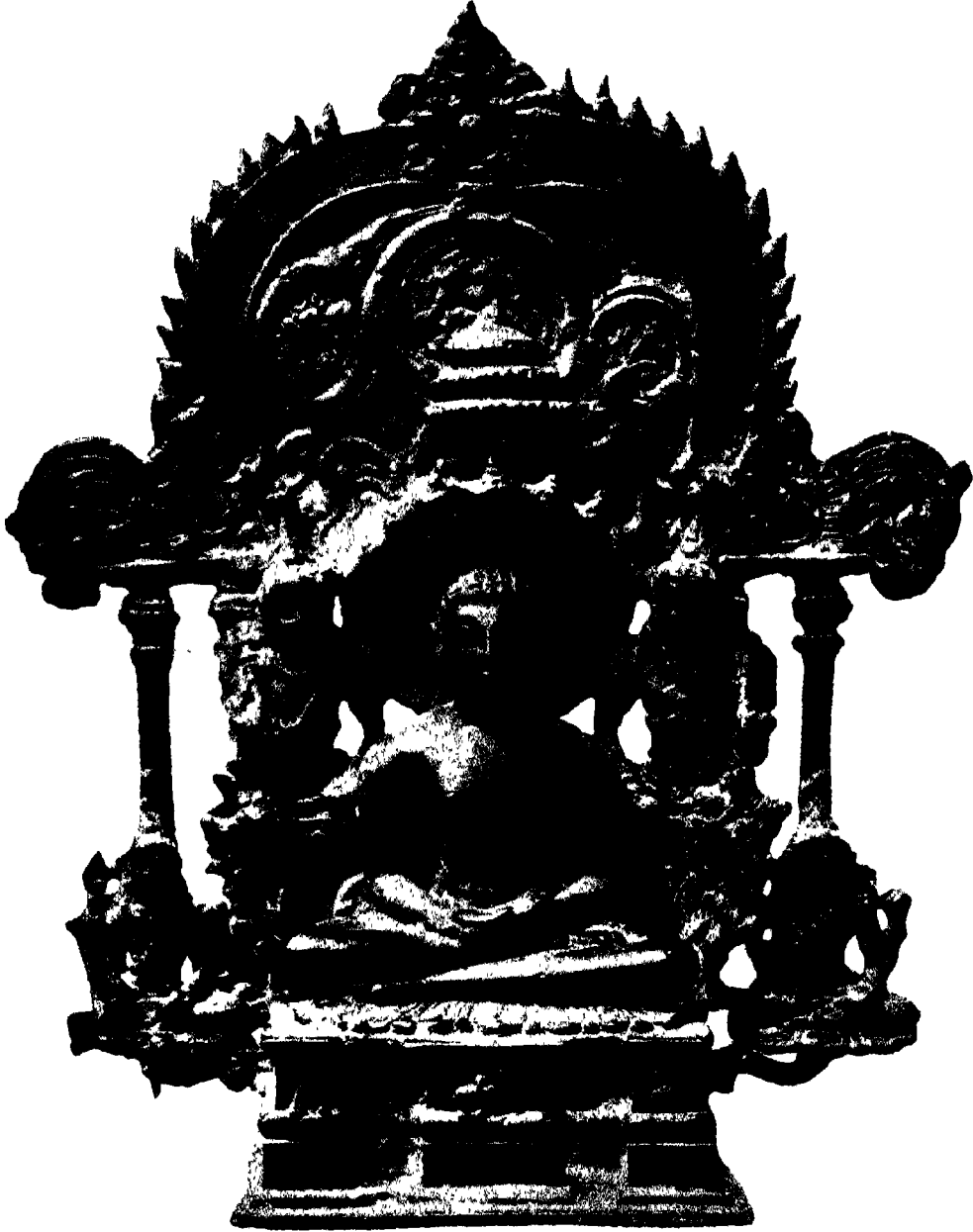
(क) विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूज़ियम : तीर्थंकर-मूर्ति (मथुरा)

(ख) ब्रिटिश म्यूज़ियम : तीर्थंकर पार्श्वनाथ (ग्यारसपुर)

चित्र 321
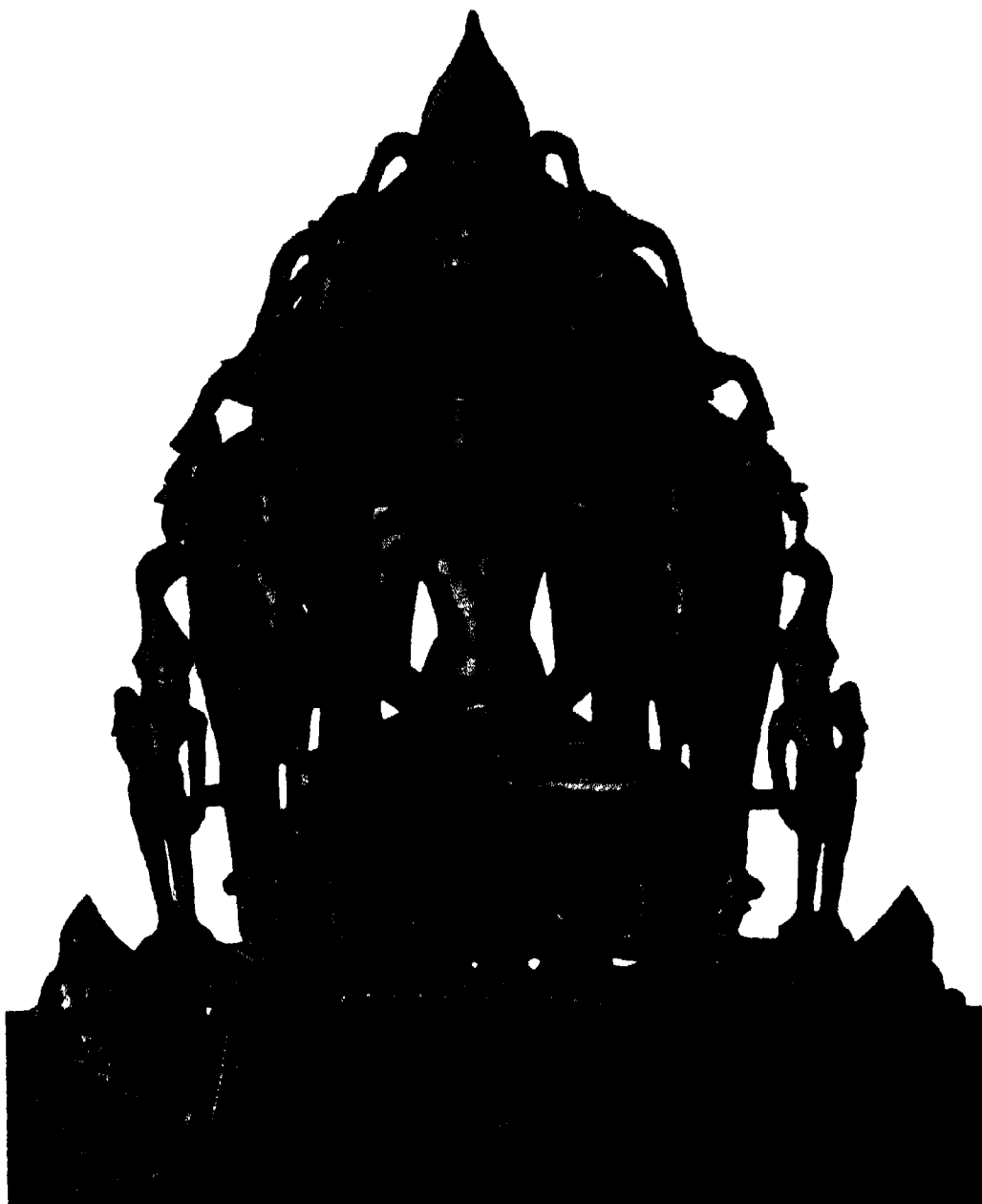
विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूज़ियम : तीर्थंकर-मूर्ति (पश्चिम भारत)

चित्र 322

जिनका विवेचन नीचे किया जा रहा है। इस प्रतिमा पर लगभग बारहवीं शताब्दी का एक समर्पण संबंधी अभिलेख अंकित है।

तीर्थंकर की एक अन्य चौबीसी में मुख्य प्रतिमा की दोनों ओर अंकित आलंकारिक पटों के भीतरी भाग में तेईस तीर्थंकरों की लघु प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। गोल-गोल लंबे अवयवों, सपाट धड़ तथा विशेष उभरे हुए घुटनों वाले तीर्थंकर की दिगंबर प्रतिमा में उस आकर्षण एवं जीवंतता का अभाव है जो दक्षिणापथ की अनेक जैन प्रतिमाओं में पायी जाती है। इसमें तीर्थंकर के शासन-देवता उनके पार्श्व में बैठे दर्शाये गये हैं। इस प्रतिमा के लिए बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है।

दक्षिणापथ से प्राप्त चालुक्यकालीन दिगंबर तीर्थंकर-प्रतिमा में उन्हें सामान्य मुद्रा में एक तिहरे छत्र के नीचे दर्शाया गया है। प्रतिमा के शीर्ष-भाग पर एक कीर्ति-मुख अंकित है। तीर्थंकर की यक्ष-यक्षी की प्रतिमाओं में उनके विशेष उपादान नष्ट हो चुके हैं। तीर्थंकर की प्रतिमा के पार्श्व में एक ओर एक शैलीबद्ध मकर पर आरूढ़ आकृति अंकित है। पादपीठ के सम्मुख-भाग पर लगभग बारहवीं शताब्दी का एक अभिलेख अंकित है जो प्रायः नष्ट हो चुका है।

पार्श्वनाथ की एक सुदक्षतापूर्ण अंकित प्रतिमा में उन्हें ध्यानवस्था में बैठे हुए दर्शाया गया है जिसमें उनके हाथ गोद में रखे हुए हैं जिनकी हथेलियाँ ऊपर की ओर हैं (चित्र ३१६ क)। सात फण वाला नाग अपने फण-छत्र से पार्श्वनाथ के शीर्ष-भाग पर छाया किये है, नागफण के ऊपर तीन छत्र और एक कीर्ति-मुख है जिससे पुष्पांकित-पट्ट निस्सृत हो रहा है, इस प्रकार वह प्रतिमा की देह-यष्टि के लिए अलंकरण की रचना करता है। तीर्थंकर के मुख-मण्डल की भावाभिव्यक्ति प्रकट करती है कि वे सांसारिक बंधनों से मुक्ति पा चुके हैं। उनके सिर के समीप पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक खड़े हैं जो उन्हें फल जैसी कोई वस्तु भेंट कर रहे हैं। उनका यक्ष धरणेंद्र और यक्षी पद्मावती अपने-अपने वाहन, क्रमशः हाथी और सर्प पर आरूढ़ तीनफण वाले नाग-छत्र के नीचे बैठे हैं। इस प्रतिमा को लगभग बारहवीं शताब्दी के चालुक्यकालीन मूर्ति-कला की एक अत्यंत उत्कृष्ट कृति माना जा सकता है।

दक्षिण-भारत और दक्षिणापथ की अनेक जैन कांस्य-प्रतिमाओं में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा उल्लेखनीय है जिसे भ्रमवश महावीर की प्रतिमा के रूप में प्रकाशित किया गया है।[1] इस प्रतिमा में पार्श्वनाथ को सप्त-फणी नाग-छत्र के नीचे ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। नाग-छत्र के ऊपर, एक के ऊपर एक, तीन छत्र प्रदर्शित हैं (चित्र ३२०)। पार्श्वनाथ की पूर्वोक्त

1 हेक्वे (डब्ल्यू एस). 'नोट्स ऑन टू जैन मेटल इमेजेज', रूपम्. 17. जनवरी, 1924. कलकत्ता. पृ 48. तथा पृ 49 के समक्ष का चित्र.

प्रारंभिक प्रतिमा की भाँति इस प्रतिमा में भी तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक तथा उनका यक्ष धरणेंद्र और यक्षी पद्मावती अंकित हैं। उनके घुँघराली केशावलियों को उत्तम प्रकार से प्रसाधित किया गया है। उनके पीछे एक अलंकृत चौखटा ऊपर की ओर उठे हुए गोलाकार दो स्तंभों पर आधारित है। इन स्तंभों पर पुष्पलता-वल्लरियों की अभिकल्पनाओं से युक्त मकर-मुख अंकित हैं जो अपने मुख से अलंकृत पट्ट तथा बाह्य परिधि पर अग्नि की ज्वालाएँ निकाल रहे हैं। प्रतिमा के पृष्ठ-भाग पर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की कन्नड़ लिपि में एक अभिलेख उत्कीर्ण है।

सरस्वती की एक सुंदर प्रतिमा में, जो संभवतः कर्नाटक-क्षेत्र से उपलब्ध हुई है, देवी को एक कमनीय मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है जिसमें उसके शरीर का समस्त भार दायीं ओर के पैर पर है और बायाँ पैर आगे की ओर बढ़ा हुआ, घुटने से मुड़ा हुआ है (चित्र ३१९ ख)। उसकी दायीं भुजा में एक पद्मपुष्प की कली है तथा बायीं भुजा में एक पुस्तक है। वह नीचे की ओर देखती अपने उपासकों को ज्ञान-दान करने की मुद्रा में अंकित है। उसके ऊपरी भाग में एक छोटी-सी तीर्थंकर-प्रतिमा ध्यान-मुद्रा में प्रदर्शित है। यह अभिलेख-युक्त प्रतिमा हमें इसी क्षेत्र से प्राप्त सम-कालीन अंबिका की एक प्रतिमा का स्मरण कराती है जो इस समय लॉस एंजिल्स के काउण्टी म्यूज़ियम ऑफ आर्ट में प्रदर्शित हैं।[1] यह प्रतिमा लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की है।

इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त ब्रिटिश म्यूजियम के इण्डियन सेक्शन (भारतीय विभाग) में कुछ लघु आकार की जैन कांस्य-प्रतिमाएँ भी हैं। ये प्रतिमाएँ मुख्यतः दक्षिणापथ की हैं जिनमें से कायोत्सर्ग-तीर्थंकर की एक दिगंबर प्रतिमा कला की अत्युत्तम कृति है। यद्यपि तीर्थंकर की बायीं भुजा खण्डित हो चुकी है तथापि, इसकी उच्च श्रेणी की चमकदार पालिश उसे लगभग ग्यारहवीं शताब्दी की एक उत्कृष्ट कलाकृति के रूप में विशिष्ट स्थान दिलाती है। एक अन्य प्रतिमा में तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ को एक ऊँचे सिंहासन पर पंच-फणी सर्प के फण-छत्र के नीचे बैठे हुए दर्शाया गया है। यक्ष मातंग और यक्षी शांता को पादपीठ पर सम्मुख की ओर बैठे हुए अंकित किया गया है, पादपीठ पर एक पंक्ति में आठ नक्षत्रों को मानवीकृत रूप में खड़े दर्शाया गया है। इस प्रतिमा की तिथि दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी निर्धारित की जा सकती है।

दक्षिणापथ की अन्य जैन प्रतिमाओं में एक और सर्वाधिक उल्लेखनीय कांस्य-प्रतिमा है जिसमें एक दंपति को दर्शाया गया है जो संभवतः तीर्थंकर के माता-पिता हैं।[2] यह दंपति पादपीठ पर खड़ा हुआ है। पादपीठ के आधार पर आठ दिगंबर आकृतियाँ अंकित हैं। पुरुषाकृति के दायें हाथ में पद्म-पुष्प और बायें हाथ में नीबू फल है। इसी प्रकार नारी-आकृति के दायें हाथ में पद्म और बायें हाथ में फल अंकित हैं। दोनों आकृतियाँ समसामयिक वस्त्राभूषणों से अलंकृत हैं। लगभग बारहवीं शताब्दी की

1 पाल (पी). **द सेक्रेड एण्ड सेक्यूलर इन इण्डियन आर्ट**. 1974. लॉस ऐंजिल्स, चित्र 26.

2 शाह (उमाकांत प्रेमानंद). **स्टडीज इन जैन आर्ट**. 1955. बनारस, चित्र 17. रेखाचित्र 45 से तुलना कीजिए.

इस प्रतिमा के पृष्ठ-भाग में स्थित अलंकृत चौखटे के शीर्ष पर ध्यान-मुद्रा में तीर्थंकर की एक छोटी-सी प्रतिमा अंकित है। इनके अतिरिक्त इस संग्रहालय में तीर्थंकरों की कुछ अन्य प्रतिमाएँ हैं जो बहुत उत्तरवर्ती काल की और अकुशलता से गढ़ी गयी हैं। इनमें तीर्थंकरों को बैठे या खड़े हुए सामान्य मुद्राओं में दर्शाया गया है अतः इनपर विचार करने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा

विक्टोरिया एण्ड एल्बर्ट म्यूज़ियम, लंदन

विक्टोरिया एण्ड एल्बर्ट म्यूजियम में जैन कला से संबंधित सबसे प्रारंभिक कृति एक तीर्थंकर की प्रतिमा है जिसका शीर्ष-भाग खण्डित हो चुका है। तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं जिसमें उनके हाथ धड़-भाग के साथ दोनों पार्श्व में लंब रूप में सटे हुए हैं (चित्र ३२१ क)। यह प्रतिमा सफेद धब्बे वाले लाल पत्थर से उत्कीर्ण है। प्रतिमा दिगंबर है और उसके वक्षस्थल पर कुषाण-कालीन परंपरा में श्रीवत्स-चिह्न अंकित है। संग्रहालय के दस्तावेजों में इस प्रतिमा को त्रुटि से इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ बताया गया है। वस्तुतः इस प्रतिमा के कंधों पर लहराते हुए केश-गुच्छों से यह स्पष्ट है कि यह प्रतिमा तीर्थंकर ऋषभनाथ की है।[1] इस प्रतिमा का यद्यपि शीर्ष खण्डित है तथापि कमलाकार प्रभा-मण्डल का जो अंश अवशिष्ट है उसके किनारों पर लहरदार उत्कीर्णन हैं। तीर्थंकर की दायीं भुजा खण्डित है। प्रतिमा पर परिसज्जा का अभाव है जो यह संकेत देता है कि यह प्रतिमा दूसरी शताब्दी की कुषाणकालीन कला-कृति है।

ऋषभनाथ की एक अन्य प्रतिमा जो मिर्जापुर क्षेत्र की है, कमनीय प्रतिरूपण और उच्च-स्तरीय परिसज्जा के लिए उल्लेखनीय है।[2] यह प्रतिमा छठी शताब्दी की उत्तर गुप्तकालीन कला-कृति है जिसका शीर्ष खण्डित है; यह प्रतिमा अत्यंत क्षतिग्रस्त हो चुकी है। इसमें दोनों पार्श्व से दो सिंहों पर आधारित सिंहासन पर तीर्थंकर को ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर के केश-गुच्छ कंधों पर लहरा रहे हैं तथा उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिह्न अंकित है। सम्मुख-भाग में उनका लांछन वृषभ अंकित है। उनके दायें पार्श्व में एक सेवकप्रदर्शित है जिसका शीर्ष खण्डित हो चुका है जबकि बायीं ओर अंकित सेवक की समूची आकृति नष्ट हो चुकी है। तीर्थंकर के घुटनों के समीप यक्ष और यक्षी-प्रतिमाएँ अंकित हैं जो नष्ट हो चुकी हैं।

---

1 कुमारस्वामी (आनंदकुमार) **कैटेलॉग ऑफ द इण्डियन कलेक्शन इन द म्यूज़ियम ऑफ फ़ाइन आर्ट्स, बोस्टन**, 1923. पृ 86 चित्र 43, तथा भट्टाचार्य, पूर्वोक्त, के सम्मुख चित्र में ऋषभनाथ की प्रतिमा को त्रुटि से महावीर की प्रतिमा बताया गया है.

2 बूथ (मार्क एच). **विक्टोरिया एण्ड एल्बर्ट म्यूज़ियम, इण्डियन स्कल्पचर, ए ट्रैवलिंग एग्ज़िबीशन.** 1971. लंदन, रेखाचित्र 14.

पार्श्वनाथ की एक अन्य उत्कृष्ट प्रतिमा (चित्र ३२१ ख) में, जो किसी समय विदिशा जिले में ग्यारसपुर के एक जैन मंदिर में प्रतिष्ठित थी, तीर्थंकर को सिंहासन पर पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है, उनके पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक हैं। इस प्रतिमा में अंकित एक असामान्य विशेषता यह है कि मेघ-कुमार (बादलों के राजकुमार) द्वारा प्रचण्ड झंझावात सहित आक्रमण के समय तीर्थंकर को धातकी वृक्ष के नीचे बैठे हुए 'आतापन योग' की उग्र साधना करते हुए दर्शाया गया है। प्रतिमा में सर्पराज धरणेंद्र को तीर्थंकर के शीर्ष पर अपने सत-फणी छत्र द्वारा छाया करते हुए तथा उसकी रानी नागी पद्मावती को उनके ऊपर श्वेत रंग का छत्र ताने हुए अंकित किया गया है। नाग-छत्र के पार्श्व में दोनों ओर आकाश में उड़ते हुए पुष्पमालाधारी गंधर्वों का तथा उनके ऊपर नगाड़े बजाते हुए हाथों का अंकन है जो झंझावात की गर्जन-ध्वनि को प्रदर्शित करता है। पादपीठ के सम्मुख-भाग पर एक बौनी मानव-आकृति को हाथों में चक्र धारण किये हुए अंकित किया गया है। प्रतिमा में आकर्षक विधि से पूर्व प्रचलित गुप्त शैली की परंपरा का निर्वाह परिलक्षित होता है जो संकेत देता है कि इस प्रतिमा का रचनाकाल सातवीं शताब्दी रहा है। बिहार से उपलब्ध एक दूसरी समसामयिक, प्रायः इसी प्रकार की प्रतिमा, जिसमें तीर्थंकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है, इस समय कलकत्ता के इण्डियन म्यूजियम में देखी जा सकती है।[1]

चौलुक्यकालीन पश्चिम-भारत की धातु-प्रतिमाओं की लोकप्रियता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। एक त्रि-तीर्थिका में एक तीर्थंकर को आसन पर ध्यान-मुद्रा बैठे हुए दिखाया गया है। इन तीर्थंकर को पहचाना नहीं जा सका है। तीर्थंकर के पार्श्व में एक ओर कायोत्सर्ग-मुद्रा में एक तीर्थंकर तथा दूसरी ओर चमरधारी सेवक खड़े हैं (चित्र ३२२)। खड़े हुए तीर्थंकर के केश घुंघराले हैं तथा वे पट्टियों के रूप में सुव्यस्थित हैं। दोनों तीर्थंकरों के श्रीवत्स-चिह्न और आँखें उसी प्रकार चाँदी निर्मित और पच्चीकारी द्वारा लगायी गयी हैं जिस प्रकार इस काल की अधिकांशतः कांस्य-तीर्थंकर-प्रतिमाओं में पायी जाती हैं। चौड़ा चेहरा, सुपुष्ट ठोढ़ी तथा सेवकों एवं यक्ष-यक्षियों के करण्ड-मुकुटों से सकेत मिलता है कि यह प्रतिमा लगभग दसवीं शताब्दी के परमारकालीन मूर्तिकार की रचना है। यक्ष और यक्षी द्वारा भुजाओं में धारण किये हुए अपने विशेष उपादानों से ज्ञात होता है कि वे गोमेध और अंबिका हैं जो तीर्थंकर नेमिनाथ के शासन-देवता हैं। तीर्थंकर नेमिनाथ का लांछन शंख इस प्रतिमा पर अंकित नहीं है।

चाहमान-कला की एक सर्वोत्तम कृति तीर्थंकर शांतिनाथ की कांस्य-प्रतिमा है जो संभवतः राजस्थान से संबंधित है। इस आकर्षक प्रतिमा में तीर्थंकर को ध्यान-मुद्रा में आसन पर बैठे हुए दर्शाया गया है (देखिए इसी भाग का सम्मुख-चित्र)। तीर्थंकर के घुंघराले छल्लेदार केश योजनावत् ढंग से व्यवस्थित हैं। उनके वक्ष पर सुस्पष्ट श्रीवत्स-चिह्न है जो राजस्थान में पिलानी के निकट नरहद नामक स्थान से पायी गयीं नेमिनाथ और मुनि सुव्रतनाथ दो तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के श्रीवत्स-

1 भट्टाचार्य, पूर्वोक्त, चित्र 28.

चिह्न के समान हैं।[1] लंबे कान, तीव्र भौंहें एवं नाक, शुण्डाकार अंगुलियाँ, मानव-आकृतियों का सुंदर प्रतिरूपण तथा आलंकारिक अभिकल्पनाएँ इस विशाल प्रतिमा में इस दक्षता से अंकित की गयी हैं कि यह सुदक्ष अंकन हमें राजस्थान के पल्लू नामक स्थान से प्राप्त सरस्वती की उन उल्लेखनीय प्रतिमाओं का स्मरण कराता है जो नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय[2] तथा बीकानेर संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।[3] इस प्रतिमा की पृष्ठ-भूमि के चौखटे पर गंधर्वों एवं हाथियों पर सवार आकृतियों के अतिरिक्त अन्य अनेक मानव-आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।[4] इस प्रतिमा पर विक्रम संवत् १२२४ (सन् ११६८ का तिथि-युक्त एक अभिलेख भी अंकित है।

इस संग्रहालय में चालुक्यकालीन तीर्थंकरों की दो उल्लेखनीय प्रतिमाएँ भी सुरक्षित हैं, जिनमें से पहली प्रतिमा में पार्श्वनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है। पार्श्वनाथ सर्प की कुण्डलियों के सामने खड़े हैं और सर्प के फण उनके शीर्ष के ऊपर हैं (चित्र ३२३ क)। उनका लांछन सर्प पादपीठ के सम्मुख-भाग पर अंकित है। इस प्रतिमा को लगभग बारहवीं शताब्दी की चालुक्य-कालीन कला की कृति माना जा सकता है। पार्श्वनाथ की दूसरी प्रतिमा में उन्हें पहले की भाँति सप्त-फणी नाग-छत्र के नीचे खड़े हुए दर्शाया गया है (चित्र ३२३ ख), इनके शीर्ष के समीप पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक खड़े हैं तथा नाग-फण के ऊपर तिहरे छत्र हैं। तीर्थंकर के पैरों के समीप दोनों ओर यक्ष धरणेंद्र एवं यक्षी पद्मावती अपनी भुजाओं में अंकुश एवं पाश आदि धारण किये हुए हैं। यक्ष-यक्षी को नाग-छत्र के नीचे बैठे हुए दर्शाया गया है। प्रतिमा के पादपीठ के सम्मुख-भाग पर एक अभिलेख अंकित है जिसके अनुसार जैन संप्रदाय के उत्पीड़न-काल के उपरांत बारहवीं शताब्दी में गुलबर्गा स्थित पार्श्वनाथ-मंदिर के पुनरुद्धार के समय यह प्रतिमा मंदिर में स्थापित कराने के लिए निर्मित करायी गयी।

इस संग्रहालय में अंबिका यक्षी की भी एक प्रतिमा है जो पाषाण-निर्मित है (चित्र ३२४)। यह प्रतिमा उड़ीसा से प्राप्त की गयी है। अंबिका को दोहरे पद्म-पादपीठ पर विश्राम-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। उसने अपना बायाँ पैर दोहरा मोड़कर तथा दायाँ पैर आराम से सीधा फैलाकर

---

1 शर्मा (दशरथ). **अर्ली चौहान डायनेस्टीज**. 1959. दिल्ली. पृ 228 के सामने का चित्र.

2 शर्मा (ब्रजेन्द्र नाथ). 'सम मेडीएवल स्कल्पचर्स फ्रॉम राजस्थान इन द नेशनल म्यूजियम, **रूपलेखा**, नई दिल्ली, 35, 1 एवं 2, पृ 31, चित्र 1.

3 श्रीवास्तव (वी एस). **कैटेलॉग एण्ड गाइड टू गंगा गोल्डन जुबली म्यूजियम, बीकानेर**. 1960-61. पृ 13. चित्र 3. (उपर्युक्त चित्र 154 भी देखें—संपादक.)

4 बारहवीं शताब्दी के चाहमानकालीन, राजस्थान से एक विशाल तीर्थंकर-प्रतिमा की पृष्ठभूमि के एक चौखटे का चित्र इस लेख के लेखक ने **जर्नल ऑफ़ दि ओरिएंटल इंस्टीट्यूट**, बड़ौदा, 19, पृ 275-78, तथा चित्र 'जैन ब्रॉंजेज इन नेशनल म्यूजियम, नई दिल्ली' शीर्षक अपने लेख के साथ प्रकाशित कराया था. यह प्रतिमा इस समय प्राप्य नहीं है.

अलंकृत पादपीठ पर टिका रखा है। उनके केश घुँघराले हैं और पीछे की ओर एक बड़े से जूड़े के रूप में व्यवस्थित हैं। केश-सज्जा रत्नजटित शृंखलाओं से अलंकृत है। वह कानों में उत्कृष्ट आभूषण, गले में चार लड़वाला केंद्रवर्ती टिकड़े-युक्त गलहार धारण किये हुए है। उसकी पारदर्शी साड़ी के ऊपर कटि-भाग में अति अलंकृत मेखला आबद्ध है। उसकी मंद मृदु मुसकान, पूर्ण उन्नत पुष्ट स्तन, क्षीण कटि तथा पीन नितंब उस नारी-सौंदर्य को मूर्तिमान करते हैं जिसकी अवधारणा भारतीय कलाकारों और कवियों ने अपनी कलाओं में की है। उसके दोनों शिशुओं में एक को उसकी गोद में बायीं ओर तथा दूसरे को उसके दायें पैर के पास दर्शाया गया है। उसके वाहन सिंह को सम्मुख-भाग में अंकित किया गया है। तीर्थंकर नेमिनाथ की एक प्रतिमा में उन्हें एक बड़े प्रभा-मण्डल सहित एक छत्र के नीचे ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए प्रदर्शित किया गया है। उनके पार्श्व में एक ओर एक सेवक और दूसरी ओर एक विद्याधर अंकित है। यह प्रतिमा अत्यधिक शैलीबद्ध है। इस प्रतिमा को शैलीगत रूप में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की उत्तरवर्ती पूर्वी गंग-शैली से संबद्ध किया जा सकता है।

ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा

म्यूज़े गीमे, पेरिस

पेरिस के इस संग्रहालय में जैन कला की सबसे प्रारंभिक कला-कृति मथुरा-क्षेत्र के सफेद धब्बेदार लाल पत्थर में उत्कीर्ण एक तीर्थंकर-प्रतिमा का शीर्ष-भाग है। तीर्थंकर के केशों को मस्तक-भाग के ऊपर अंकित एक रेखा द्वारा इंगित किया गया है किन्तु इनमें ऊर्णा-बिन्दुओं का अंकन नहीं है। कान और नाक खण्डित हो चुके हैं तथा होंठ भी थोड़े-से क्षति-ग्रस्त हैं। प्रायः गोल चेहरा और उसके फैले हुए गाल संकेत देते हैं कि यह कुषाणकालीन कला-कृति है।

उड़ीसा से लायी गयी ग्यारहवीं शताब्दी की एक पाषाण-निर्मित प्रतिमा में तीर्थंकर ऋषभनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है जिसमें उनकी भुजाएँ धड़ के साथ सटी हुई लंब रूप में हैं (चित्र ३२५ क)। तीर्थंकर के सिर पर एक आकर्षक जटा-मुकुट है। केश-गुच्छ उसी प्रकार श्रेणी-बद्ध रूप में व्यवस्थित हैं जिस प्रकार लंदन स्थित ब्रिटिश म्यूज़ियम की तीर्थंकर ऋषभनाथ की एक प्रतिमा में दर्शाये गये हैं।[1] केशावलियाँ कंधों पर लहरा रही हैं। कान की लटकनें लंबी हैं, सिर के पीछे एक सादा वृत्ताकार प्रभा-मण्डल है, उसके ऊपर एक तिहरा छत्र तथा उस वट-वृक्ष के पत्तों का अंकन है जिसके नीचे उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त किया। पद्मवत् पादपीठ के नीचे एक छोटा-सा वृषभ अंकित है। पादपीठ के सम्मुख-भाग में एक किनारे पर इस प्रतिमा का दान-दाता दंपति और दूसरे किनारे पर नैवेद्य अंकित हैं। तीर्थंकर के पार्श्व में एक ओर चमरधारी सेवक भक्तिपरक मुद्रा में खड़ा हुआ है तथा तीर्थंकर के दोनों ओर आठ नक्षत्र, जिसमें केतु नहीं है, अपने विशेष उपादानों

---

1 शाह (उमाकांत प्रेमानंद) पूर्वोक्त, चित्र 35

सहित सामान्य रूप से अंकित हैं। ऋषभनाथ की इस प्रतिमा के लिए बारहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है। तीर्थंकर की यह आकृति कठोर दिखती है और उसमें कोमलता का अभाव है।

कुछ जैन प्रतिमाओं से अंकित एक सरदल भी इस संग्रहालय में प्रदर्शित है जिसके उपरी केंद्र-वर्ती फलक में एक देवकुलिका में तीर्थंकर को पद्मासन-जैसी मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर के हाथ गोद में रखे हुए हैं। मुख्य प्रतिमा के पार्श्व में दोनों ओर कायोत्सर्ग-मुद्रा में दो तीर्थंकर खड़े हैं। उनके नीचे ध्यान-मुद्रा में एक पंक्ति में सात तीर्थंकर बैठे हुए हैं। सात तीर्थंकरों के इस समूह के पार्श्व की देवकुलिकाओं में दो अन्य तीर्थंकर उसी मुद्रा में अंकित है जिसमें उपर्युक्त तीर्थंकर हैं।

सरदल के एक किनारे पर हाथ में तलवार लिये, मकर से लड़ते हुए एक योद्धा को दर्शाया गया है। इस प्रकार का अभिप्राय इस क्षेत्र की मध्योत्तरकालीन प्रतिमाओं में सामान्यतः पाया जाता हैं। आकृतियाँ अनगढ़ और शैलीबद्ध हैं जो हमें मध्य काल के दौरान पश्चिम-भारत में निर्मित ऐसी ही अनगढ़ और शैलीबद्ध जैन कांस्य-प्रतिमाओं का स्मरण कराती हैं। बलुआ पत्थर में उत्कीर्ण राजस्थान-क्षेत्र की इस प्रतिमा का रचना-काल लगभग तेरहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है।

इस संग्रहालय में तीर्थंकर महावीर की एक प्रतिमा है जिसमें उन्हें सिंहासन पर ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है (चित्र ३२५ ख)। यह प्रतिमा दक्षिणापथ की जैन कला के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण कला-कृति है। तीर्थंकर एक तिहरे छत्र के नीचे बैठे हैं, उनके सादा प्रभा-मण्डल के पार्श्व में एक चमरधारी सेवक अंकित है। उनका लांछन सिंह सम्मुख-भाग में प्रदर्शित है। उनकी दायीं ओर कुण्डलित सर्प के समक्ष कायोत्सर्ग-मुद्रा में पार्श्वनाथ खड़े हैं। सर्प का फण-छत्र उनके सिर के ऊपर फैला हुआ है। इस प्रतिमा की एक उल्लेखनीय रोचकता यह है कि महावीर की बायीं ओर बाहुबली की प्रतिमा है। इस प्रकार के एक समूह में इस तपस्वी का अंकन दुर्लभ है। यह यदा-कदा ही मिलता है।[1] बाहुबली एक राजकुमार थे जो बाद में तपस्वी हो गये। इनकी प्रतिमा में उनके शरीर को लताओं द्वारा चारों ओर से आलिंगित दर्शाया गया है। पादपीठ के पार्श्व से निकलते हुए पद्म-पुष्पों पर महावीर के यक्ष और यक्षी बैठे हुए हैं। पादपीठ के सम्मुख-भाग पर धर्मचक्र तथा प्रतीकात्मक रूप में बिन्दुओं द्वारा नवग्रहों को दर्शाया गया है। पृष्ठ-भाग के चौखटे के केंद्र में नगाड़ा बजाते हुए हाथों का तथा हाथ में माला लिये हुए एक विद्याधर का अंकन है। इसके ऊपर केंद्रवर्ती

---

1 तिवारी (एम एन पी). 'ए नोट ऑन द बाहुबली इमेज फ्रॉम नॉर्थ इंडिया' **ईस्ट एण्ड वेस्ट**, 23, 3-4, पृ 347-53.

भाग में एक कीर्ति-मुख है। यह प्रतिमा नौवीं-दसवीं शताब्दी की चालुक्यकालीन कृति निर्धारित की जा सकती है।[1]

ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा

म्यूज़ियम फूर इण्डिशे कुन्स्त, बर्लिन-दालेम

बर्लिन-दालेम स्थित म्यूज़ियम फूर इंडिशे कुन्स्त की उल्लेखनीय निम्नलिखित जैन प्रतिमाओं की जानकारी हमें बोन विश्वविद्यालय के सेमीनार ऑफ़ ओरिएण्टल आर्ट-हिस्ट्री विभाग के डॉ० क्लॉउज़ फ़िशर ने प्रदान की है। उन्होंने हमें उन प्रतिमाओं के फोटोग्राफ भी भेजे हैं जिनमें से दो प्रतिमाओं के फोटोग्राफ यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। डॉ० फ़िशर ने हमें लिखा है कि ये फोटोग्राफ म्यूज़ियम के डायरेक्टर प्रो० एच० हर्टल ने उन्हें दिये हैं तथा प्रतिमाओं का विवरण सहायक निदेशक डॉ० वी० मौएलर ने।

(१) लाल पत्थर का तीर्थंकर का शीर्ष-भाग। मथुरा-क्षेत्र। प्रारंभिक कुषाणकाल।

(२) एक अलंकृत वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थंकर की कांस्य-प्रतिमा दो भागों में विभक्त। यह प्रतिमा कहाँ पायी गयी इसका उल्लेख यहाँ उपलब्ध नहीं है (चित्र ३२६ क)।

(३) कायोत्सर्ग तीर्थंकर और उनकी चारों ओर पद्मासनस्थ तीर्थंकर, पादपीठ पर अभिलेख-युक्त कांस्य-प्रतिमा। दक्षिण भारत। मध्यकालीन (चित्र ३२६ ख)।

(४) कायोत्सर्ग महावीर की पाषाण-निर्मित प्रतिमा, उपासकों एवं सेवकों की आकृतियाँ नीचे तथा आठ ग्रह ऊपरी भाग में अंकित हैं। दक्षिण भारत। मध्यकालीन।

(५) कायोत्सर्ग ऋषभनाथ की पाषाण-निर्मित प्रतिमा, निचले भाग पर सेवक-आकृतियाँ तथा तीर्थंकर के पार्श्व में तीन-तीन कायोत्सर्ग तीर्थंकरों के चार समूह उत्कीर्ण हैं। पल्मा, जिला मानभूम[2]। मध्यकालीन।

संपादक

---

1 [म्यूज़े गीमे संबंधी यह लेख म्यूज़े गीमे के क्यूरेटर मैदेमोइसेल एम. बेनेक तथा नेशनल रिसर्च सेंटर, पेरिस की भूतपूर्व कार्यकर्त्री मैडम ओदेत्ते वियेनौत द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ और संपादक को दी गयी सूचना पर आधारित है. मैडम ओदेत्ते वियेनौत्त ने इस संग्रहालय की जैन प्रतिमाओं के फोटोग्राफ भेजे हैं जिनके लिए ज्ञानपीठ उनका आभारी है—संपादक.]

2 पल्मा प्रतिमा के लिए चित्र 158 (ख) देखें.

(क) विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूजियम : तीर्थंकर पार्श्वनाथ (दक्षिणापथ)

(ख) विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूजियम तीर्थंकर पार्श्वनाथ (गुलबर्गा)

चित्र 323

विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूज़ियम : यक्षी अंबिका (उड़ीसा)

चित्र 324
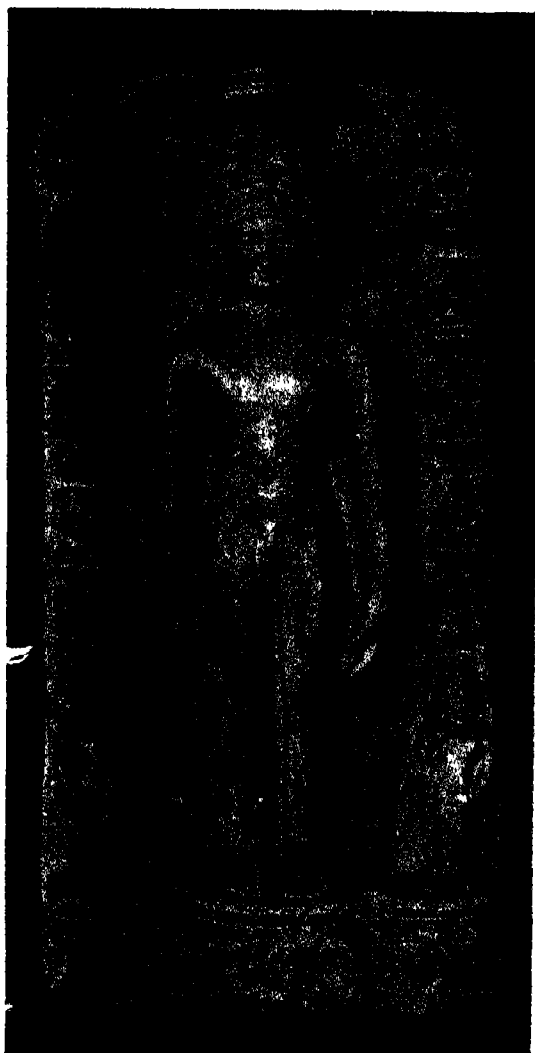
(क) म्यूज़े गीमे तीर्थंकर ऋषभनाथ (उड़ीसा)

(ख) म्यूज़े गीमे : तीर्थंकर महावीर (दक्षिणापथ)

चित्र 325

(ख) म्यूज़ियम फूर इन्दिशे कुन्स्त, बर्लिन दालेम : तीर्थंकर की कांस्य-मूर्ति (दक्षिण भारत)

(क) म्यूजियम फूर इन्दिशे कुन्स्त, बर्लिन-दालेम : तीर्थंकर की कांस्य-मूर्ति

चित्र 326
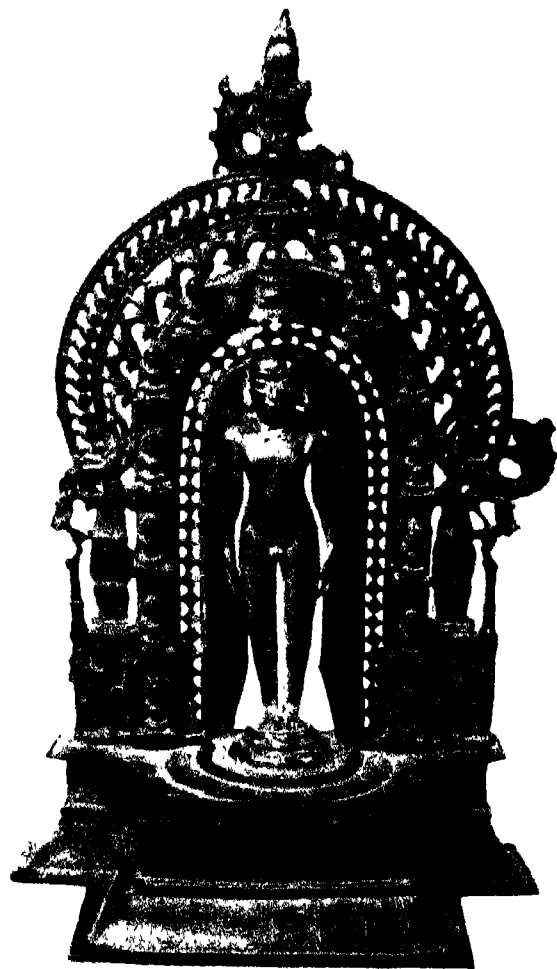
(क) निजी संग्रह, न्यूयार्क : तीर्थंकर पार्श्वनाथ की कांस्य-मूर्ति (मध्य भारत)
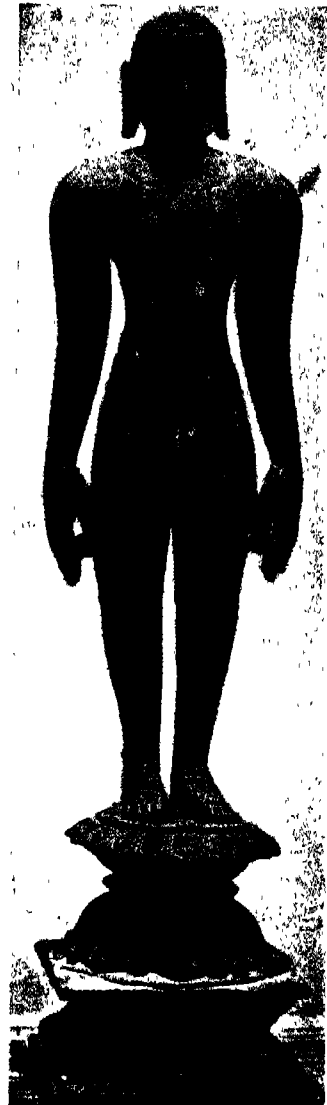
(ख) निजी संग्रह, न्यूयार्क : तीर्थंकर संभवनाथ (?) (कर्नाटक)
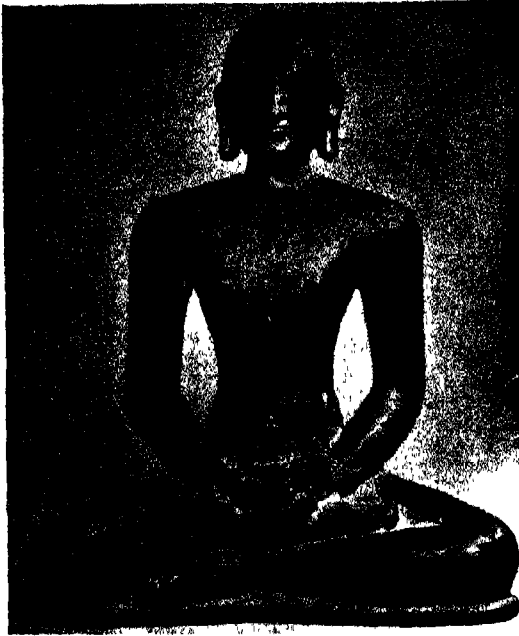
चित्र 327

(क) लॉस् एँजल्स काउण्टी म्यूजियम ग्रॉफ़ ग्रार्ट (नसली एण्ड एलिस हीरामानेक कलेक्शन) तीर्थंकर की कांस्य-मूर्ति (दक्षिण भारत)

(ख) उपरोक्त . बुद्ध की कास्य-मूर्ति (नेपाल)

चित्र 328

(ख) लॉस ऐंजल्स काउण्टी म्यूजियम ऑफ आर्ट
(श्री और श्रीमती जे.जे क्लेजमैन द्वारा उपहृत)
कांस्य-निर्मित त्रि-तीर्थिकर (गुजरात)
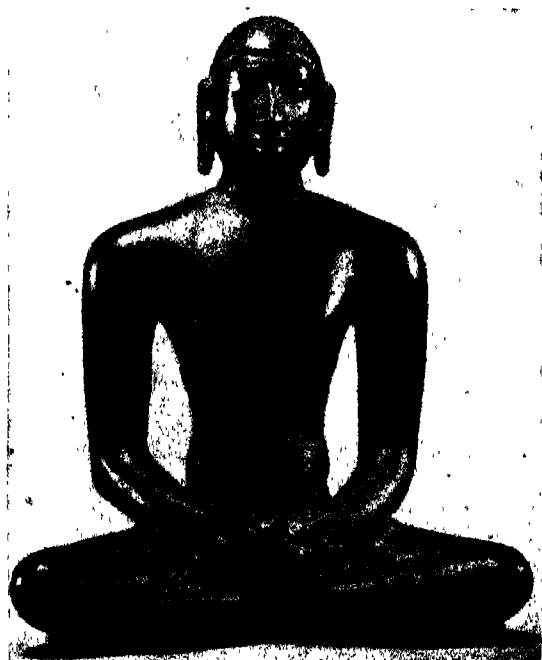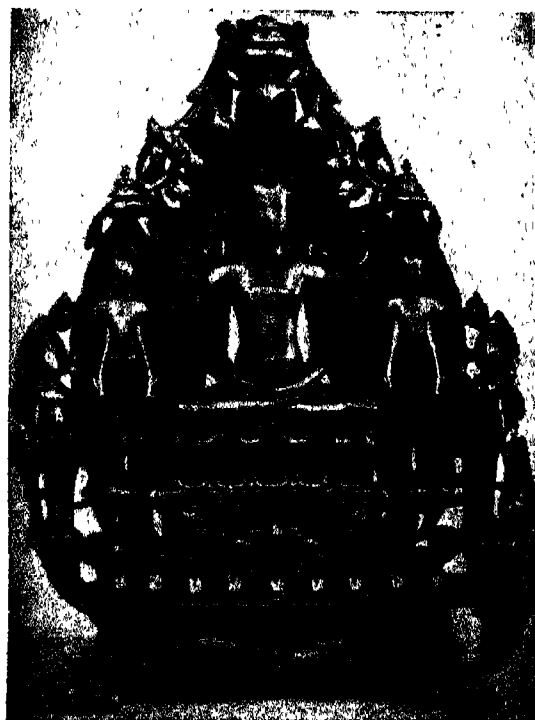
(क) एट्किन्स म्यूज़ियम (नेल्सन फंड, नेल्सन गेलरी) :
तीर्थंकर-मूर्ति (दक्षिण भारत)

चित्र 329

चित्र 329 क के अनुसार : आंशिक दृश्य

चित्र 330
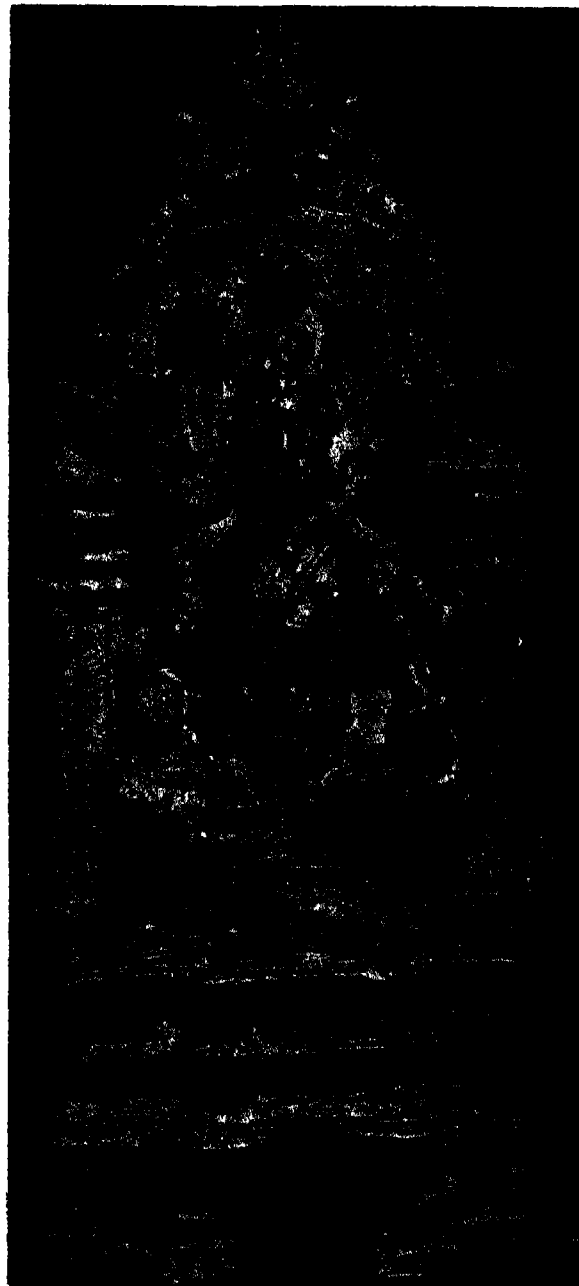
सियाट्ल आर्ट म्यूज़ियम (ए जैन फ़ुलर मेमोरियल कलेक्शन) : यक्ष धरणेंद्र (दक्षिणापथ)

चित्र 331

पाल एफ वाल्टर कलेक्शन, न्यू यार्क कांस्य-निर्मित त्रि-तीर्थंकर (दक्षिणापथ)

चित्र 332
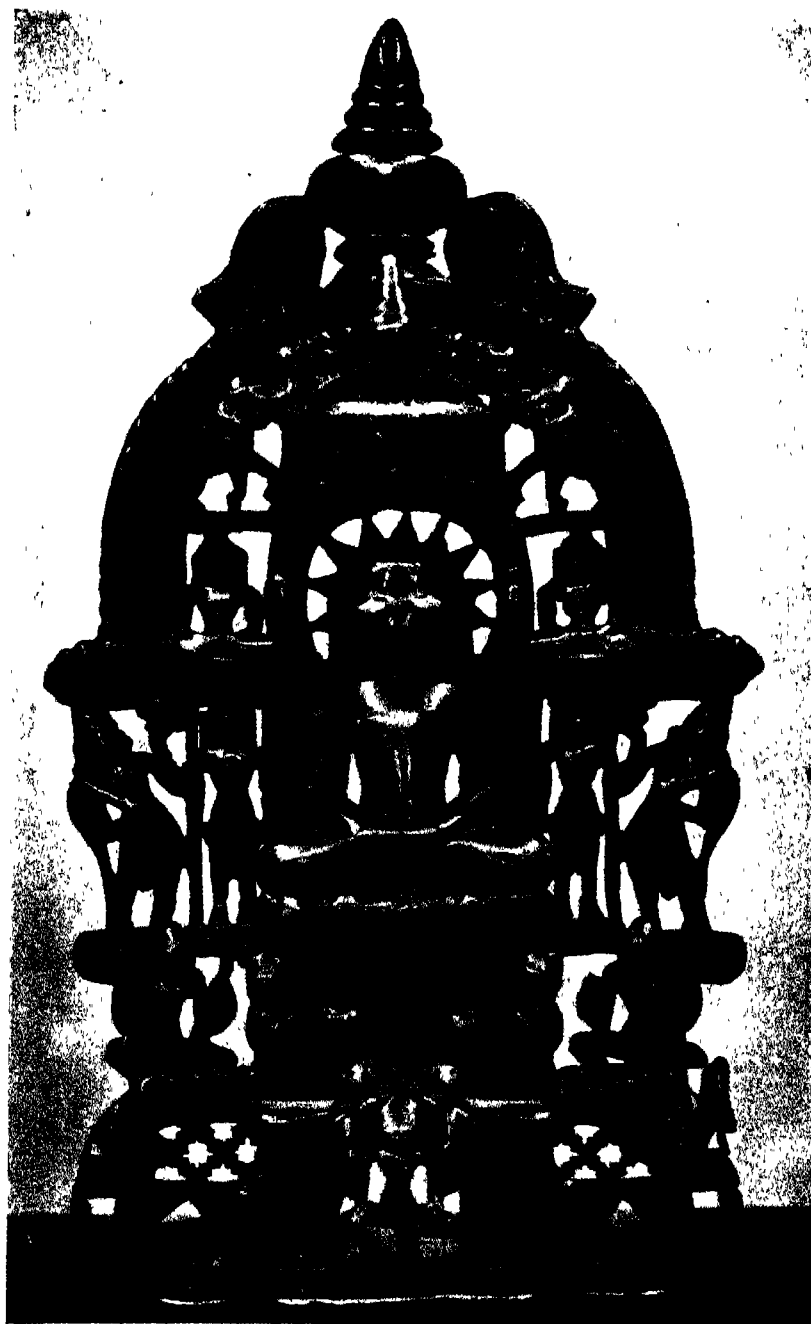
लॉस ऍंजल्स काउण्टी म्यूज़ियम (पाल ई० मैनहीम द्वारा उपहृत) : विमलनाथ-सहित पंच-तीर्थिका (पश्चिम भारत)

चित्र 333

लॉस ऐंजल्स काउंटी म्यूज़ियम ऑफ़ आर्ट (पाल ई० मैनहीम द्वारा उपहृत)
शांतिनाथ सहित चतुर्विंशति-पट्ट (पश्चिम भारत)

चित्र 334

अमरीकी संग्रहालयों में कुछ जैन कांस्य-प्रतिमाएं

अमरीकी संग्रहालयों में अनेक जैन कांस्य-प्रतिमाएं हैं जिनपर यदि पूर्ण रूप से विचार किया जाये तो इन प्रतिमाओं में कुल मिलाकर उतनी अधिक विविधता नहीं पायी जाती जितनी भारतीय संग्रहालयों की प्रतिमाओं में पायी जाती है। फिर भी यहाँ ऐसी अनेक प्रतिमाएं हैं जो जैन कला के अध्ययन की दृष्टि से रोचक हैं तथा कुछ ऐसी भी प्रतिमाएँ हैं जो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हम यहाँ इस प्रकार की ही प्रतिमाओं की चर्चा करेंगे।

अमरीका के एक संग्रहालय में जो सबसे प्रारंभिक ज्ञातव्य कांस्य-प्रतिमा है वह तीर्थंकर पार्श्वनाथ की है (चित्र ३२७ क)। पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित तो की जा सकती है, फिर भी इस प्रतिमा में उनके कलात्मक अंकनों को उनका व्यक्ति-चित्रण नहीं माना जा सकता। इस प्रतिमा में उन्हें एक बहुफणी नाग-छत्र के नीचे खड़े हुए दर्शाया गया है जो उनके एक आदर्शात्मक चित्रांकन का प्रस्तुतीकरण है। बहुत संभव है कि अब अमरीका में स्थित यह प्रतिमा छठी शताब्दी की हो, लेकिन यह प्रतिमा के उस प्रकार को श्रृंखलाबद्ध करती है जो बहुत पहले एक रूढ़िबद्ध रूप ग्रहण कर गयी होगी। बंबई के प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम में भी पार्श्वनाथ की एक कांस्य-प्रतिमा है जिसके विषय में यह दावा किया जाता है कि यह प्रतिमा ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी की रचना है।[1] इस प्रतिमा के लिए इतनी प्रारंभिक तिथि को चाहे हम स्वीकार करें या न करें परंतु यह निश्चित है कि अमरीकी संग्रहालय की जिस प्रतिमा की चर्चा हम कर रहे हैं उसके लिए इस प्रतिमा ने आदि रूप का कार्य किया होगा। इसमें एक आश्चर्यजनक दुराग्रह यह है कि इस आकृति का जो मूलभूत प्रकार है वह आगे की कई शताब्दियों तक तीर्थंकर-प्रतिमाओं के अंकन के लिए निरंतर प्रयुक्त होता रहा है (चित्र ३२७ ख)। वास्तविकता यह है कि भारतीय सौंदर्य-शास्त्रीय परंपराओं में जैन परंपरा सर्वाधिक पुरातनवादी रही है।

आज अमरीकी संग्रहालयों में जितनी भी जैन कांस्य-प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं संभवतः उन सबमें सबसे अधिक सुंदर प्रतिमा लॉस एंजिल्स काउण्ट्री म्यूजियम ऑफ आर्ट में है (चित्र ३२८ क)। इस प्रतिमा का रचना-काल तो हमें निश्चित रूप से ज्ञात है लेकिन यह किस क्षेत्र से संबंधित रही है यह हमें ज्ञात नहीं हो सका है। हीरामानिक कैटेलॉग ने सुझाया है कि यह प्रतिमा शायद नौवीं शताब्दी की है और इसकी रचना संभवतः मैसूर में हुई होगी।[2] इस प्रतिमा में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनका संबंध प्रारंभिक चोल कांस्य-प्रतिमाओं से है। अतः इन प्रतिमापरक समानताओं के आधार पर प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा दक्षिण-भारत क्षेत्र से संबद्ध है। इसपर यदि और अधिक

---

1 शाह (उमाकांत प्रेमानंद). स्टडीज इन जैन आर्ट. 1955. बनारस. चित्र, 1, रेखाचित्र 3, पृ 8-9. [देखिए अध्याय 8 तथा अध्याय 38—संपादक.]

2 दि आर्ट्स ऑफ़ इण्डिया एण्ड नेपाल : द नास्ली एण्ड एलिस हीरामानेक कलेक्शन. 1966 बोस्टन. पृ 92-93.

गहाराई से विचार किया जाये तो यह प्रतिमा पुदुक्कोट्टाई-क्षेत्र से संबद्ध प्रतीत होती है क्योंकि इसकी शैलीगत समानताएं सित्तनवासल की उन बैठी हुई तीर्थंकर-प्रतिमाओं में देखी जा सकती हैं जो एक पहाड़ी चट्टान में उत्कीर्ण हैं।[1]

इस दक्षिण-भारतीय कांस्य-प्रतिमा में जो कुछ दर्शाया गया है उसमें कुछ असामान्यता नहीं है क्योंकि यह प्रतिमा एक ऐसी अवधारणा को एक प्रकार का रूप प्रदान करती है जो स्वयं भारतीय सभ्यता जितनी प्राचीन है। इस प्रतिमा को एक योगी का ऐसा रूपाकार माना जा सकता है जिसकी अवधारणा मूर्तिकार ने अनुभूति के धरातल पर की है और उसे सर्वोत्कृष्ट द्रष्टव्य रूप में प्रस्तुत कर दिया है जिसमें योगी के भौतिक शरीर का अंकन तो है ही, साथ ही उसमें आध्यात्मिक सार-तत्त्वों का भी भली-भाँति समावेश है। जैसी कि संभावना की जाती है यह दिगंबर जैन संप्रदाय की प्रतिमा है जिसमें योगी को पर्यंकासन-मुद्रा में ध्यानावस्थित एवं दिगंबर दर्शाया गया है। इस योगी का स्वरूप ठीक वैसा ही है जैसा कि भगवद्गीता हमें बतलाती है: 'जो उस सांसरिक बंधनरहित आनंद (आह्लाद) को जानता है जो इंद्रियातीत है और जो मात्र प्रज्ञा द्वारा ही जाना जाता है तथा जो सत्य से विचलित नहीं होता वह योगी एक ऐसे दीप के समान होता है जो वायु-शून्य स्थान पर रखा हो और जिसकी लौ अकंपायमान हो।' योगी ऐसा ही होता है।

योगी की इसी प्रकार की रूढ़िबद्ध आकृति को बौद्धों और जैनों ने अपनी कला-कृतियों में बुद्ध अथवा तीर्थंकरों के अंकन के लिए अपनाया है। इस तथ्य का बहुत ही स्पष्ट साक्ष्य हम लॉस एंजिल्स की तीर्थंकर-प्रतिमा (चित्र ३२८ क) की ध्यानावस्थित बुद्ध की प्रतिमा (चित्र ३२८ ख) से तुलना करने पर देख सकते हैं। दोनों ही लगभग एक-जैसी मुद्रा में बैठे हुए हैं और दोनों की आकृतियों से एक सिद्धि-प्राप्त योगीजन्य आत्मिक शांति का प्रसार हो रहा है। इन दोनों प्रतिमाओं के शरीरकार मूर्तिकार द्वारा मानसिक धरातल पर अवधारित आदर्शात्मक संरचित रूपाकार पर आधारित हैं। लेकिन जहाँ बुद्ध का योगी-रूप ऐंद्रियिक आकर्षण से समन्वित है वहाँ तीर्थंकर भावाभिव्यंजना में अपार्थिव हैं।

बुद्ध और तीर्थंकर की इन प्रतिमाओं में जो अंतर है वह अंतर वस्तुतः इन दोनों धर्मों की सैद्धांतिक मान्यताओं का अंतर है। बौद्ध मत बुद्ध को मानवीय रूप में अंकित किये जाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं देता। किसी प्रकार से एक बार प्रवृत्ति मान्य हो गयी तब से उन्हें मानवीय रूप में चित्रित करना सहज हो गया है। लेकिन बौद्ध धर्मानुयायियों के लिए बुद्ध एक गुरु के रूप में ही रहे हैं जिन्हें उनके अनुयायियों द्वारा सरलता से पाया जा सकता था, तथा किसी भी व्यक्ति द्वारा उनके साथ सीधा और व्यक्तिगत संपर्क-संबंध बनाया जा सकता था। उनकी प्रतिमा को उनके त्रि-काय की अवधारणा के कारणा उनकी उपस्थिति का प्रतीक माना गया है।[2]

---

1 ललित कला, 9, 1961, चित्र 20, रेखाचित्र 22.

2 त्रिकाय सिद्धांत के अनुसार यह माना जाता है कि बुद्ध के तीन काय हैं—धर्म-काय, संभोग-काय तथा निर्माण काय. कला में उनके निर्माण-काय का ही रूपांकन होता है.

लेकिन जहाँ तक तीर्थंकरों का प्रश्न है वे मानव-रूपाकारों से कहीं बहुत परे हैं। । जैसा कि हेनरिख़ ज़िम्मर ने कहा है, 'जैन तीर्थंकर सृष्टि के वितान अर्थात् अग्रभाग में निवास करते हैं। वह स्थान प्रार्थनाओं की पहुँच से परे है, अतः यह संभव नहीं है कि इतने उच्च तथा ज्योतिर्मय देदीयमान स्थल से उतरकर उनकी सहायता मानव के सकाम प्रयासों तक जा सके। भवसागर पर सेतु बनाने वाले अर्थात् तीर्थंकर सांसारिक घटनाओं तथा जीवन की समस्याओं से परे हैं। वे लोकातीत नित्य, सर्वज्ञ, अचल तथा अनंत शांति में निमग्न हैं।'[1]

इस प्रकार जैन तीर्थंकरों का अत्यंत सादा और सरल अंकन इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के विपरीत है। तीर्थंकर की प्रतिमाएं चाहे पद्मासन-मुद्रा में अंकित हों अथवा कायोत्सर्ग-मुद्रा में, वे ऐंद्रियिक आकर्षण से परे गणितीय यथार्थता में बुद्धिसंगत अंकन से निर्मित हैं। उनकी देह अनिवार्य रूप से अति-मानवीय है जिसमें उनके विशाल स्कंध वृषभ की भाँति चौड़े हैं, धड़-भाग सिंह के समान, जिसमें उनका वक्ष विशेष रूप से चौड़ा है। ये विशेषताएं उनकी विपुल आंतरिक शक्ति का द्योतन करती हैं। कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े तीर्थंकर की प्रतिमा उनकी अचल दृढ़ता और अक्षय शक्ति का यथार्थतः मूर्तमंत स्वरूप है, जो लंबे और गरिमामय शाल वृक्ष (शाल-प्रांशु) से भिन्न नहीं होती। 'सांसरिक बंधनों से मुक्त तीर्थंकरों की प्रतिमाएं न तो सप्राण होती हैं और न निष्प्राण, अपितु वे एक अलौकिक एवं कालातीत शांति से व्याप्त होती हैं।'[2] जैसा कि लॉस एंजिल्स की तीर्थंकर-प्रतिमा (चित्र ३२८ क) में द्रष्टव्य है, तीर्थंकरों की प्रतिमाएं पृथक् रूप से देखे जाने पर वे निःसंदेह अपने दृश्यमान रूप तथा अध्यात्मपरक रूप में अत्यंत गतिमान् दिखाई पड़ती हैं।

लॉस एंजिल्स की इस तीर्थंकर-प्रतिमा से बहुत कुछ मिलती-जुलती एक अन्य कांस्य-प्रतिमा (चित्र ३२९ क) कैंसास नगर-स्थित नेल्सन गैलरी में सुरक्षित है। मुखाकृति और आकार संबंधी विशेषताओं में अंतरों के अतिरिक्त ये दोनों प्रतिमाएं प्रायः एक समान हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इन दोनों को एक ही साँचे में ढाला गया हो। कैंसास सिटी की प्रतिमा के नेत्रों का आकार असामान्य है, नासिका का अग्रभाग किंचित् क्षति-ग्रस्त है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि ये दोनों कांस्य-प्रतिमाएं निश्चित रूप से समसामयिक हैं और यह भी संभव है कि ये दोनों एक ही कला-केंद्र से निर्मित हुई हों।

जहाँ एक ओर लॉस एंजिल्स और कैंसास सिटी की तीर्थंकर-प्रतिमाएं जैन परंपरा की योगपरक सरलता और गरिमामय सौंदर्य को परिलक्षित करती हैं वहाँ भड़ौंच से प्राप्त सन् ९८८ की निर्मित एक अलंकृत मंदिराकृति (चित्र ३२९ ख, ३३०) इसके दान-दाता व्यापारी जैन धर्मानुयायी की समृद्धि और वैभवपरक अभिरुचि को प्रदर्शित करती है। इस देवकुलिका की केंद्रवर्ती प्रतिमा तीर्थंकर

---

1 ज़िम्मर (एच). फ़िलोसोफ़ी ऑफ़ इंडिया. 1953. न्यूयॉर्क. पृ 181-82.

2 वही, पृष्ठ 211.

पार्श्वनाथ की है जिसमें नाग-छत्र के अंकन के अतिरिक्त पूर्व वर्णित दक्षिण-भारत की तीर्थंकर-प्रतिमाओं से कोई दृष्टिगोचर मूर्तिपरक अंतर नहीं है। तीर्थंकर कमलाकार पादपीठ पर ध्यानावस्था में निमग्न बैठे हैं। पादपीठ के कमलाकार आसन का कमल-दल समान रूप से संलग्न है। तीर्थंकर के आस-पास अन्य प्रतिमाएं हैं। उनके पार्श्व में दो तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं। इस प्रकार यह प्रतिमा एक त्रि-तीर्थिका है। दोनों तीर्थंकर अलंकृत अग्नि-ज्वाल के प्रकाश-मण्डल के अंकन-युक्त चौखटे से आबद्ध हैं तथा दोनों तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में पृथक्-पृथक् पद्म-पादपीठों पर स्थित हैं। इन दोनों में प्रत्येक तीर्थंकर के पार्श्व में दो ओर आकर्षक त्रिभंग-मुद्रा में अंकित देवी प्रतिमाएं हैं जो अपने अत्यंत कमनीय शरीर और तज्जन्य ऐंद्रियिक सौंदर्य को प्रदर्शित कर रही हैं। अधिक संभावना यह है कि ये प्रतिमाएं पद्मावती और सरस्वती की हैं। एक पाँचवी नारी-आकृति में एक देवी को शिशु सहित बैठे हुए दिखाया गया है। यह देवी यक्षी अंबिका है जो जैनों की सर्वाधिक लोकप्रिय देवी है। इनके अतिरिक्त नाग-छत्र के दोनों ओर दो उड़ते हुए विद्याधरों की आकृतियाँ हैं जो तीर्थंकर के लिए माला लेकर उनकी ओर आ रहे हैं। सिंहासन के पादपीठ पर दो सिंह तथा दो हरिणों सहित एक चक्र अंकित है। यह चक्र धर्म का प्रतीक है जो बौद्धों में भी लोकप्रिय रहा है।

इससे भी अधिक उल्लेखनीय, पादपीठ के सम्मुख-भाग पर एक पंक्ति में नौ मानव-शीर्षों का अंकन है जो सिद्धचक्र के नव-देवताओं का प्रतीकांकन है। सिद्धचक्र जैनों का एक लोकप्रिय प्रतीक रहा है जो जैन धर्म पर पड़े तांत्रिक प्रभाव को सूचित करता है। सिद्धचक्र के संप्रदायगत विधान को जैन धर्म का उत्तरवर्ती विकास माना जाता है।[1] यदि वस्तुत: ये शीर्ष सिद्धचक्र या नवदेवता के प्रतीक हैं तो इससे यह प्रमाणित होता है कि दसवीं शताब्दी जैसे प्रारंभिक समय में जैन धर्म में यह संप्रदायगत विधान न्यूनाधिक प्रचलन में आ चुका था।

यह अत्यंत चमकदार मुलम्मे से युक्त कांस्य-प्रतिमा बनावट की सुघड़ता और सूक्ष्मांकन दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इस प्रतिमा में मूर्तिकार ने जिस सफलता के साथ आकार-मूलक आकृतियों एवं आलंकारिक तत्त्वों का परस्पर तालबद्ध सुसंतुलित समायोजन किया है वह अद्भुत है। प्रत्येक प्रतिमा पृष्ठ-भूमि से असंपृक्त है इसलिए उसका सुगठित रूपाकार अपनी ही महत्ता रखता है। अलंकरण तथा उरेखन-कार्य उनकी बनावट की विभिन्नता और संपन्नता प्रदर्शित करता है, परंतु इसके उपरांत भी अलंकरण की यह तकनीक प्रतिमा के ऊपर अतिशय रूप से अभिभूत नहीं दिखाई देती। तीर्थंकरों की सादा एवं सरलीकृत आकृतियाँ अपने अलंकृत परिवेश के साथ एक उल्लेखनीय विरोधाभास प्रदर्शित करती हैं। वस्तुत: यह वैभवपूर्ण संयोजन तीर्थंकरों के उस विरक्ति-भाव को सुस्पष्ट रूप से दर्शाते हैं जो स्वर्ण दीप्ति से मण्डित तो हैं किन्तु उसकी चमक से वंचित हैं।

सियाटल आर्ट म्यूजियम में एक सुरिपचित प्रतिमा (चित्र ३३१) है जो पूर्व-वर्णित प्रतिमाओं से कुछ प्रारंभिक काल की है। यह प्रतिमा यद्यपि लॉस ऐंजिल्स की पार्श्वनाथ प्रतिमा की भाँति

---

1 शाह, पूर्वोक्त, पृ 97-103.

वैभवपूर्ण तो नहीं है तथापि, अपने अतिरिक्त गुण के कारण वह अन्य प्रतिमाओं से अधिक प्रसिद्ध है। इस प्रतिमा में एक पुरुषाकृति को सतह-युक्त पादपीठ पर रखे कमल पर सत्त्व-पर्यंकासन-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। पुरुष की प्रतिमा संपन्न रूप से रत्न-जटित है। इसकी दायीं भुजा तो खण्डित हो चुकी है परंतु बायें हाथ में एक बीज-पूरक है। एक बहु-फणी छत्र, जैसा पार्श्वनाथ की प्रतिमा में प्रदर्शित है, उसके शीर्ष-भाग के पीछे प्रभा-मण्डल की रचना कर रहा है। यह प्रतिमा एक चौखटे से आबद्ध है। चौखटे में दोनों ओर दो स्तंभ हैं और ऊपरी भाग शीर्ष-स्तंभों से आबद्ध है। इन शीर्षों से एक अलंकृत तोरण की रचना हुई है, जिसके ऊपरी सिरे पर एक उल्लेखनीय कीर्ति-मुख है।

कुछ वर्ष पूर्व डगलस बैरेट ने एक बहुत ही संभाव्य सुझाव दिया था कि यह प्रतिमा पार्श्वनाथ के सेवक यक्ष धरणेंद्र की हो सकती है।[1] जैन देव-शास्त्र के प्रसार की प्रक्रिया प्रायः वही रही है जो हिंदुओं और बौद्धों में है। प्रत्येक मुख्य देवता या प्रत्येक तीर्थंकर के साथ एक सेविका-यक्षी और कम से कम एक सेवक-यक्ष का विधान किया गया। लॉस एंजिल्स की पार्श्वनाथ-प्रतिमा (चित्र ३२९ ख) में हम तीर्थंकर की दो सेवक-यक्षियों को अंकित देख चुके हैं। सियाटल आर्ट म्यूजियम की इस कांस्य-प्रतिमा में नाग-फण-छत्र के अंकित होने से निश्चित ही इस प्रतिमा का संबंध पार्श्वनाथ से होना चाहिए क्योंकि नाग-फण-छत्र पार्श्वनाथ का एक विशेष चिह्न है। फिर यह भी हमें भली-भाँति ज्ञात है कि जैन यक्षों को इसी भाँति हाथ में बीज-पूरक लिये हुए अंकित किया जाता रहा है।[2] जिससे स्पष्ट है कि यह प्रतिमा पार्श्वनाथ और उनके यक्ष की है।

इस प्रतिमा के रचना-क्षेत्र के बारे में, जैसा कि बैरेट ने सुझाया है, दक्षिणापथ ही अधिक संभाव्य प्रतीत होता है; लेकिन अकोटा-क्षेत्र की संभावना को भी एकदम अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रतिमा की मुखाकृति अकोटा के जीवंतस्वामी की प्रतिमा की मुखाकृति से भिन्न नहीं है।[3] फिर इन दोनों आकृतियों के मुकुट भी निश्चित रूप से एक ही प्रकार के हैं। यह बात अलग है कि जीवंतस्वामी की प्रतिमा कहीं अधिक विशद रूप से अलंकृत है। इस प्रतिमा का रचना-क्षेत्र कोई भी रहा हो किन्तु यह निश्चित है कि यह जैन सेवक-यक्ष की एक दुर्लभ प्रतिमा है।

लॉस एंजिल्स म्यूजियम स्थित पार्श्वनाथ-प्रतिमा की त्रि-तीर्थिका (चित्र ३२९ ख) जैसी एक अन्य प्रतिमा (चित्र ३३२) पाल बाल्टर संग्रह में है। इसमें तीनों तीर्थंकरों को साथ-साथ खड़े हुए दर्शाया गया है। तीनों तीर्थंकरों के वक्ष पर पच्चीकारी से निर्मित श्रीवत्स-चिह्न हैं और ये पूर्णरूपेण दिगंबर हैं। प्रतिमाओं के स्तंभों जैसे रूपाकारों और मुद्राओं की कठोरता से

---

1 बैरेट (डगलस). 'ए ग्रुप ऑफ़ ब्रोंजेज फ्रॉम द डक्कन', ललित कला, 3-4, 1956-57. पृ 44-45.

2 शाह, पूर्वोक्त, चित्र 15, रेखाचित्र 40, चित्र 17, रेखाचित्र 47.

3 क्रेम्रिश (स्टैला). दि आर्ट ऑफ़ इंडिया. 1965. लंदन. चित्र 56. [प्रथम भाग में चित्र 68 ख देखें—संपादक.]

सिंहासन के पृष्ठ-भाग पर उत्कीर्ण पशु-आकृतियों का आकर्षक-मोहक अंकन तथा सेवकों की सजीव आकृतियाँ किंचित् छुटकारा दिला देती हैं। प्रतिमा के पीछे की ओर अंकित तिथि-युक्त अभिलेख के अनुसार यह प्रतिमा सन् १०२० की निर्मित है।

लॉस एंजिल्स के संग्रह में दो और कांस्य-प्रतिमाएँ हैं जो विशुद्ध मूर्तिपरक प्रवृत्ति के आधार पर अंकित हैं। एक प्रतिमा में पाँच तीर्थंकरों के एक समूह का अंकन है (चित्र ३३३)। ऐसी प्रतिमा को पंच-तीर्थिका के नाम से जाना जाता है। दूसरी प्रतिमा में समस्त चौबीसों तीर्थंकरों का अंकन है (चित्र ३३४)। ये समस्त तीर्थंकर-प्रतिमाएँ नितांत ज्यामितीय रूपरेखा में संयोजित हैं। इस पंच-तीर्थिका का रचनाकाल सन् १४३० है जिसमें केंद्रवर्ती प्रतिमा तीर्थंकर विमलनाथ की है जबकि चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा में केंद्रवर्ती प्रतिमा शांतिनाथ की है।[1] इससे यह स्पष्ट प्रमाणित है कि पूर्वोक्त तीर्थंकर-प्रतिमाओं के समान आदर्शात्मक रूपपरक रूढ़िगत आकृतियों का उपयोग मात्र विभिन्न तीर्थंकरों को अंकित करने के लिए ही नहीं होता रहा अपितु इनके उपयोग की परंपरा लगभग दो हजार साल तक प्रचलित रही।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम सामान्यतः यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ जैन सौंदर्य-परंपरा में सदैव मूलभूत रूप से अमूर्तन के प्रति अभिरुचि रही है वहाँ बारहवीं शताब्दी की उत्तरवर्ती निर्मित जैन प्रतिमाओं में ज्यामितीय रूपाकारों के प्रति पूर्वानुराग रहा है। इन कांस्य-प्रतिमाओं के संयोजन में कुल मिलाकर विभिन्न रैखिक व्यवस्थाएँ हैं जिनकी समरूपी विशेषताओं पर नितांत बल दिया गया है। इन प्रतिमाओं में प्रारंभिक प्रतिमाओं के मृदु गुण उत्तरवर्ती प्रतिमाओं में परिलक्षित नहीं हैं बल्कि उनमें कोणीय अंकन के प्रति बढ़ती हुई प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

अंत में इन प्रतिमाओं की जिन विशेषताओं ने हमें प्रभावित किया है वे इनकी पारस्परिक समानताएँ नहीं हैं बल्कि उनकी परस्पर असमानताएँ हैं जो आपस में एक दूसरे से वैभिन्य दर्शाती हैं। यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कुछ मूलभूत सूत्रों का दृढ़तापूर्वक परिपालन तथा मूर्ति-कला और शैली इन दोनों की सीमाओं में आबद्ध रहकर कार्य करने के उपरांत यह प्रत्येक प्रतिमा मूर्तिकार की व्यक्तिगत रचना बन सकी है।

प्रतापादित्य पाल

---

1 यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस प्रतिमा के पृष्ठ-भाग पर अंकित अभिलेख में इसे एक चतुर्विंशति-पट्ट बताया गया है.

अध्याय 38

भारतीय संग्रहालय

राष्ट्रीय संग्रहालय

पाषाण-प्रतिमाएँ

राष्ट्रीय संग्रहालय में देश के विभिन्न भागों से उपलब्ध जैन प्रतिमाओं का एक समृद्ध संग्रह है। इन प्रतिमाओं में कुषाणकालीन आयाग-पट को छोड़कर शेष समस्त प्रतिमाएँ मध्यकालीन हैं।

उत्तर प्रदेश

आयाग-पट (जे० २४९;[1] ऊँचाई ६३ सेंटीमीटर); इस आयाग-पट में जैन मूर्तिकला की प्रारंभिक अवस्था का अंकन है जिसमें चार संयुक्त तिलक-रत्नों की केंद्रवर्ती देवकुलिका में ध्यान-मुद्रा में एक तीर्थंकर का अंकन है, तीर्थंकर के शीर्ष के ऊपर एक चक्र अंकित है और उपरिवर्ती फलक में एक मत्स्य-युग्म, देव-विमान, श्रीवत्स-चिह्न तथा एक चूर्ण-मंजूषा है। नीचे की ओर के फलक में एक तिलक-रत्न, एक पूर्ण विकसित पद्म-पुष्प, वैजयंती तथा एक मंगल-कलश दर्शाया गया है। यह उपासना-पट चारों ओर से स्तंभों द्वारा परिवृत है और ऊपर गजशीर्ष तथा धर्म-चक्र से मण्डित है। पट पर एक अभिलेख भी उत्कीर्ण है जो कनिष्क से पूर्व का है।

पार्श्वनाथ (५९.२०२; ऊँचाई १ मीटर) इस प्रतिमा में पार्श्वनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित किया गया है। उनके पीछे एक कुण्डली-बद्ध नाग खड़ा है जो अपने सप्त-फण छत्र से पार्श्वनाथ के शीर्ष पर छाया कर रहा है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर उपासना-मुद्रा में नागियाँ खड़ी हैं। तीर्थंकर के वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिह्न अंकित है। यह प्रतिमा बारहवीं शताब्दी की गाहड़वालकालीन कला-कृति है (चित्र ३३६ क)।

राजस्थान

पार्श्वनाथ (६२.४३४; ऊँचाई ३० सें० मी०) इस प्रतिमा में सात फण वाले नाग-छत्र के नीचे पार्श्वनाथ को सिंहासन पर रखे गद्दीनुमा आसन पर बैठे हुए दर्शाया गया है। उनके शीर्ष के ऊपर दोनों ओर दिव्य वाद्य-वादकों तथा कायोत्सर्ग तीर्थंकरों को दर्शाया गया है, पार्श्वनाथ की एक ओर

---

1 यह और इसी प्रकार की आगे आने वाली संख्या संग्रहालय की क्रमांक-संख्या की सूचक है.

हाथ में नाग को धारण किये हुए यक्ष धरणेंद्र तथा अपने दायें हाथ में आम्र-गुच्छ धारण किये हुए यक्षी पद्मावती का अंकन है। पीले बलुआ पत्थर से निर्मित यह प्रतिमा प्रतीहारकालीन है (चित्र ३३५)।

नेमिनाथ (६६.१३२; ऊँचाई १.१८ मीटर) : कुछ वर्ष पूर्व राजस्थान में पिलानी के निकट नरहद में मुनिसुव्रत तथा नेमिनाथ की दो प्रतिमाएँ खुदाई में प्राप्त हुई थीं जिनमें से नेमिनाथ की प्रतिमा को राष्ट्रीय संग्रहालय ने प्राप्त कर लिया। इस प्रतिमा में तीर्थंकर कायोत्सर्ग--मुद्रा में खड़े हैं तथा उनके दोनों ओर चमरधारी-सेवकों को खड़े हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर के वक्ष पर चार कमलदल वाला श्रीवत्स-चिह्न अंकित है। तीर्थंकर एक पारदर्शी धोती पहने हैं। उनका लांछन शंख पादपीठ के सम्मुख-भाग पर अंकित है। यह प्रतिमा उस कसौटी पत्थर की बनी है जिसपर कसकर सोने की शुद्धता की परख की जाती है। यह बारहवीं शताब्दी की चाहमान-शैली की एक अत्युत्तम कृति है (चित्र ३३६ ख)।

सरस्वती (१/६-२७८; ऊँचाई १.४८ मीटर) : बीकानेर के अंतर्गत पल्लू नामक स्थान से प्राप्त श्वेत संगमरमर निर्मित इस सरस्वती-प्रतिमा में देवी एक पूर्ण विकसित पद्म-पुष्प पर आकर्षक त्रि-भंग मुद्रा में खड़ी हुई दर्शायी गयी है। वह अपनी विभिन्न भुजाओं में अक्षमाला, श्वेत कमल, ताडपत्रीय पाण्डुलिपि जो रेशमी डोरी से बंधी हुई है तथा जल-कलश धारण किये हुए है। वह एक अति-अलंकृत शिरोभूषण, तथा अन्य आभूषण, और पारदर्शी साड़ी धारण किये है। साड़ी कटि-भाग पर एक अत्यंत अलंकृत मेखला से आबद्ध है। मोतियों से गुँथी लटकन तथा फुँदने आकर्षक रूप से उसकी जंघाओं पर लटक रहे हैं। देवी के पार्श्व में दोनों ओर वीणा-वादक सेविकाएँ खड़ी हैं। देवी के सिर के पीछे कमलाकार भामण्डल के समीप तीर्थंकर की एक लघु प्रतिमा अंकित है। इस प्रतिमा के दानदाता और उसकी पत्नी को पादपीठ के क्रमशः बायें तथा दायें सिरे पर अंकित दिखाया गया है। पादपीठ के सम्मुख-भाग में देवी का वाहन हंस है। यह प्रतिमा बारहवीं शताब्दी की चाहमान-कला की एक उत्कृष्ट कृति है (चित्र ३३७)।

मध्य-प्रदेश

नेमिनाथ (७३.२३; ऊँचाई ६९.५ सें०मी०) : यह प्रतिमा एक आयताकार पादपीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े तीर्थंकर नेमिनाथ की है। उनके बाल छोटे-छोटे छल्लों में प्रसाधित हैं तथा उनके वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न अंकित है। उनका लांछन शंख पादपीठ पर उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा खुजराहो की प्रतिमाओं के अनुरूप है। यद्यपि इसमें सामान्य सुरुचि-संपन्नता का अभाव है तथापि शैलीगत आधार पर इसे चंदेल-शैली की कृति माना जा सकता है।

गुजरात

तीर्थंकर (५०.२७७; ऊँचाई ५४.४ सें० मी०) : मेहसाना जिले के लाडोल नामक स्थान से प्राप्त संगमरमर की इस अचिह्नित तीर्थंकर-प्रतिमा में उन्हें कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया

गया है। तीर्थंकर को धोती पहने अंकित किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा श्वेतांबर जैनों के लिए उपासना हेतु निर्मित की गयी थी। तीर्थंकर की दायीं ओर एक चमरधारी सेवक तथा ऊपरी भाग में मकर-शार्दूल अंकित है। यह प्रतिमा चालुक्यकालीन बारहवीं शताब्दी की है।

पूर्व-भारत

ऋषभनाथ (६०.१४७६; ऊँचाई ५२ सें० मी०) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर ऋषभनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है। तीर्थंकर जटा-मुकुट धारण किये हुए हैं तथा उनके पार्श्व में दोनों ओर एक-एक सेवक तथा एक उड़ता हुआ गंधर्व अंकित है। काले पत्थर से निर्मित यह प्रतिमा बिहार से प्राप्त हुई और ग्यारहवीं शताब्दी की है (चित्र ३३८ क)।

पंच-तीर्थिका (६०.५६४; ऊँचाई ५० सें० मी०): काले पत्थर में निर्मित उपरोक्त ऋषभनाथ-प्रतिमा की समकालीन तथा इसी क्षेत्र से प्राप्त एक अन्य प्रतिमा तीर्थंकर चंद्रप्रभ की पंच-तीर्थिका है जिसमें तीर्थंकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है। उनका लांछन अर्ध-चंद्र पादपीठ के सम्मुख-भाग पर उत्कीर्ण है।

अंबिका (६३.६४०; ऊँचाई ६७ सें० मी०): इस प्रतिमा में तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी अंबिका आम्र-वृक्ष के नीचे एक पद्म-पुष्प पर खड़ी हुई दर्शायी गयी है। वह दायें हाथ में आम्र-गुच्छ धारण किये है। और उसके बायें हाथ की अंगुली को एक शिशु पकड़े है। उसका दूसरा शिशु दायें पैर के समीप खड़ा है। देवी शिरोभूषण, गलहार, भुज-बंध, कंकण, मंगलसूत्र तथा अधोवस्त्र धारण किये है। उसकी दोनों ओर एक-एक नृत्य-रत आकृतियाँ अंकित हैं। देवी के सिर के ऊपरीभाग में एक तीर्थंकर-प्रतिमा और दो कमल-पुष्प उत्कीर्ण हैं। उसका वाहन सिंह पाद-पीठ के सम्मुख-भाग पर अंकित है। यह प्रतिमा बिहार के पाल-शैली के कलाकारों की कृति है (चित्र ३३८ ख)।

तीर्थंकर के माता-पिता (६०.१२०४; ऊँचाई ४६ सें० मी०) : दशवीं शताब्दी की पाल कला-शैली की इस प्रतिमा में तीर्थंकर के माता-पिता को एक वृक्ष के नीचे ललितासन में दर्शाया गया है। वृक्ष की एक शाखा पर बंदर भी अंकित है। नारी-आकृति को अपनी गोद में एक शिशु को लिये बैठे हुए दिखाया गया है। पुरुष और महिला-आकृति को जो मुकुट तथा अन्य वस्त्राभूषण पहने दिखाया गया है वे विशेष रूप से पाल-कला के उपादान हैं। पादपीठ के सम्मुख भाग पर सात उपासकों को हाथ जोड़े हुए दर्शाया गया है। वृक्ष की दोनों ओर एक-एक गणधर भी अंकित है। बंगाल से प्राप्त इसी विषय-वस्तु को प्रदर्शित करने वाली एक अन्य आकर्षक प्रतिमा (६०.१५३; ऊँचाई ३६ सें० मी०) भी यहाँ है जिसमें तीर्थंकर के माता-पिता को ठीक इसी प्रकार बैठे हुए दर्शाया गया है। पुरुष और महिला दोनों ही आकृतियाँ अपनी-अपनी गोद में एक-एक बालक को लिये बैठी हैं। यह दंपति आभूषण और अधोवस्त्र ठीक वैसे ही पहने हुए है जैसे

बंगाल की प्रतिमाओं में दर्शाये जाते हैं । वृक्ष के ऊपर दो तथा पादपीठ के सम्मुख-भाग पर पाँच आकृतियाँ भी अंकित हैं । यह प्रतिमा लंबाकार है तथा शीर्ष पर नुकीली हो गयी है जिससे वह ग्यारहवीं शताब्दी की प्रतीत होती है (चित्र ३३९ क) ।

ऋषभनाथ (७४.६५; ऊँचाई ५७ सें० मी०) : उड़ीसा से प्राप्त इस प्रतिमा में तीर्थंकर एक चौकोर पादपीठ पर ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए हैं । तीर्थंकर के सिर पर एक विशद जटा-मुकुट है तथा लहरदार केश-गुच्छ दोनों कंधों पर लहरा रहे हैं । उनके दोनों ओर एक-एक पूर्ण विकसित पद्म-पुष्प अंकित हैं । यह प्रतिमा बारहवीं शताब्दी की है ।

तीर्थंकर-प्रतिमा (७४.८७; ऊँचाई ४८ सें० मी०) : उड़ीसा-कला-शैली की यह अत्युत्तम प्रतिमा एक अचिह्नित तीर्थंकर की है जो धड़-भाग के नीचे से खण्डित है । यह प्रतिमा कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े तीर्थंकर की थी । प्रतिमा के ऊपरी सिरे पर एक त्रि-तोरण है जिसके नीचे तिहरे छत्र हैं जो तीर्थंकर के शीर्ष-भाग के ऊपर हैं । तोरण आदि पत्र-पुष्पों की डिजाइन से अलंकृत हैं । तीर्थंकर के बाल छोटे-छोटे छल्लों में प्रसाधित हैं तथा सिर के ऊपरी भाग में शंक्वाकार उभारदार रचना का रूप ग्रहण किये हुए हैं । तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर उड़ते हुए गंधर्वों, संगीतज्ञों एवं नव-ग्रहों का अंकन है । इस प्रतिमा का समय बारहवीं शताब्दी निर्धारित किया जाता है ।

दक्षिणापथ

ऋषभनाथ (१३५३; ऊँचाई ९१.५ सें० मी०): काले पत्थर में उत्कीर्ण इस प्रतिमा में तीर्थंकर को ध्यान-मुद्रा में बैठे दर्शाया गया है । उनके लहरदार बालों के गुच्छे कंधों पर पड़े हुए हैं तथा वह एक कसा हुआ अंतरीय पहने हुए हैं । वारंगल से प्राप्त इस प्रतिमा का समय दसवीं शताब्दी निर्धारित किया जाता है ।

स्थापत्यीय पट्ट (५८.९/१; ऊँचाई ८९ सें० मी०) : इस पट्ट में सहस्र-कूट का अंकन है । यह मण्डपाकार है और शीर्ष भाग शंक्वाकार है जो संकीर्ण होती पट्टियों तथा एक आमलक से मण्डित है । इस मण्डप के चारों ओर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े तीर्थंकरों की एक-एक प्रतिमा का अंकन है । इसके ऊपर चारों दिशाओं में क्षैतिजिक चित्र हैं जिसमें क्रमशः, चार, तीन, और एक तीर्थंकर-प्रतिमाएँ ध्यान-मुद्रा में बैठी हुई दिखाई गयी हैं । यह पट्ट गहरे भूरे पत्थर से निर्मित है । इसके लिए दसवीं शताब्दी, चालुक्य-काल निर्धारित किया जाता है ।

तीर्थंकर प्रतिमा (५९.१५३/१४६; ऊँचाई १.५९ मी०): यह प्रतिमा सिंहासन पर ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए एक तीर्थंकर की है जिनके पीछे प्रभा-मण्डल अंकित है । तीर्थंकर के वक्ष पर दायीं ओर श्रीवत्स-चिह्न अंकित है । भामण्डल के समीप चमरधारी सेवक खड़े हैं । तीर्थंकर के ऊपर घुमावदार तोरण का अंकन है । दुर्दांत सिंह के ऊपर मकर-मुख तथा तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर सिंह अंकित हैं । यह प्रतिमा विजयनगरकालीन, पंद्रहवीं शताब्दी की है (चित्र ३३९ ख) ।

दक्षिण भारत

तीर्थंकरों की प्रतिमाएं (५६.१५३/१७३; ऊँचाई २.१६ मी०) : एक प्रतिमा में पार्श्वनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए दिखाया गया है। पार्श्वनाथ के पीछे एक कुण्डलीबद्ध नाग खड़ा हुआ है जो अपने फण-छत्र से तीर्थंकर के सिर पर छाया कर रहा है। तीर्थंकर के सिर के ऊपरी भाग में पांच समकेंद्रक अर्ध वृत्ताकारों का समूह तथा पत्र-पुष्पों की डिजाइनें उत्कीर्ण हैं। यह प्रतिमा चोलकालीन दसवीं शताब्दी की (चित्र ३४० क) है। दूसरी तीर्थंकर-प्रतिमा (५६.१५३/२; ऊँचाई १.३८ मी०), जो इसी काल की है, में तीर्थंकर को एक गद्दी युक्त सिंहासन पर बैठे हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर का प्रभा-मण्डल मकर-मुख तथा उसपर सवार मानवाकृति से अलंकृत है। सिंहासन के दोनों ओर आरोही सहित दुर्दांत शार्दूल अंकित है। मकर-मुख से निकली हुई पत्र-पुष्पों की डिजाइन से युक्त अर्ध-वृत्ताकार भामण्डल उनके सिर के पीछे अंकित है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक पत्र-पुष्पों के नीचे खड़े हैं जिनके सिरों पर करण्ड-मुकुट सुशोभित है। तीसरी तीर्थंकर-प्रतिमा (५६.१५८/१७७; ऊँचाई १.१६ मी०) में सुपार्श्वनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है। तीर्थंकर के पीछे एक कुण्डलीबद्ध नाग खड़ा है जो अपने पाँच फणी छत्र से उनके सिर पर छाया कर रहा है। तीर्थंकर के वक्ष पर दायें चूचुक के ऊपर श्रीवत्स-चिह्न तथा उनका लाँछन शंख उनके दायें कंधे के ऊपर अंकित है। इस प्रतिमा का समय प्रारंभिक चोल-काल, दसवीं शताब्दी निर्धारित किया जाता है (चित्र ३४० ख)। चौथी तीर्थंकर-प्रतिमा (५६.१५३/३२१; ऊँचाई ३५ सें० मी०) में, जो समकालीन है, एक भामण्डल-युक्त तीर्थंकर को ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर के सिर के पीछे भामण्डल और उनके पार्श्व में दोनों ओर सेवकों को खड़े हुए दर्शाया गया है।

एम० के० चतुर्वेदी

धातु-प्रतिमाएँ

राष्ट्रीय संग्रहालय में जैन कांस्य-प्रतिमाओं का एक उत्तम संग्रह है। अधिकांशः प्रतिमाएँ पर्याप्त परवर्ती काल की और एक-जैसी ही हैं। तीर्थंकरों को आयताकार पादपीठ पर स्थित सिंहासन पर ध्यानमग्न पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए दिखाया गया है। इन प्रतिमाओं में अधिकतर संख्या पश्चिम-भारत से उपलब्ध प्रतिमाओं की है। तीर्थंकरों के ऊपर प्रायः तिहरेछत्र हैं जिनके पार्श्व में गंधर्व तथा हाथी अंकित हैं। कुछ प्रतिमाओं में तीर्थंकर की आकृतियाँ मकर-तोरणों से मण्डित हैं जिन्हें दो खड़ी हुई सेवक-आकृतियाँ आधार प्रदान किये हैं। कुछ प्रतिमाओं में अलंकृत तोरणों के शीर्ष पर पूर्ण-घट अंकित हैं। इन तोरणों के किनारे मणिभाकार अलंकृति से युक्त हैं तथा तोरणों से फुंदने लटके हुए दर्शाये गये हैं।

पादपीठों के सम्मुख-भाग पर नवग्रह, चक्र और उसके दोनों ओर एक-एक हिरण तथा दायें किनारे पर बैठे एक-एक उपासक अंकित किये गये हैं। ये प्रतिमाएँ पीतल अथवा तांबे से निर्मित

हैं। कुछ प्रतिमाओं में आँखें तथा श्रीवत्स-चिह्न और आसन का सम्मुख-भाग चाँदी से उरेकित है। किसी-किसी प्रतिमा पर तिथि अंकित है और उसके दाता का नाम भी अंकित है।

ऋषभनाथ (७०.४२) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर को ध्यान-मुद्रा में सिंहासन पर बैठे हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर के बाल ऊपर की ओर कढ़े हैं तथा कुछ केश-गुच्छ कंधों पर लहरा रहे हैं। तीर्थंकर के कान लंबे हैं तथा उनके वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न अंकित है। उनके पार्श्व में कायोत्सर्ग तीर्थंकर तथा एक सेवक अंकित किये गये हैं। प्रतिमा के शीर्ष-भाग में पुष्पमाला-वाहक विद्याधर, गजारोही तथा नगाड़े बजाने वाले अंकित हैं जो तीर्थंकर के केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेने की घोषणा कर रहे हैं। सिंहासन के पार्श्व में दोनों ओर यक्ष गोमुख तथा अपने वाहन गरुड पर आरूढ यक्षी चक्रेश्वरी अंकित है। सम्मुख-भाग में तीर्थंकर का लांछन वृषभ अंकित हैं। मानव-आकृति के शीर्षों के पृष्ठ-भाग में अंकित एक विशेष प्रकार का भामण्डल और सेवकों के अधोवस्त्रों के व्यवस्थित मोड़ तथा आकृतियों का प्रतिरूपण इस प्रतिमा को ग्यारहवीं शताब्दी की चेदि-कला की कृति निर्धारित करते हैं। वैसे भी इस प्रतिमा के पादपीठ पर संवत् ११११४ की तिथि-युक्त एक दान-संबंधी अभिलेख उत्कीर्ण है। (चित्र ३४१)।

अजितनाथ (४८.४/१६) : इस प्रतिमा में एक पाद-पीठ पर स्थित सिंहासन पर तीर्थंकर को ध्यानावस्थित मुद्रा में बैठा दर्शाया गया है। तीर्थंकर के सिर के पीछे एक भामण्डल है जिसमें से प्रकाश की किरणें विकीर्ण हो रही हैं। तीर्थंकर के ऊपर तिहरा छत्र है जिसके दोनों ओर हाथी अंकित हैं। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर दो बैठी हुई मुद्रा में तथा दो खड़ी मुद्रा में तीर्थंकर तथा एक सेवक हैं। पादपीठ पर यक्ष महायक्ष और यक्षी अजितबला तथा तीर्थंकर का लांछन हाथी सम्मुख-भाग में अंकित है। नव-ग्रह तथा उपासक-आकृतियाँ भी अंकित हैं। समूची प्रतिमा मकर-तोरण से मण्डित है। तोरण पर मणियों की किनारी है तथा उसके शीर्ष पर पूर्ण-घट स्थित है। प्रतिमा के पृष्ठ-भाग पर संवत् १४७१ का अभिलेख उत्कीर्ण है।

संभवनाथ (४८.४/२६) : यह प्रतिमा संभवनाथ की चौबीसी है। मध्य में तीर्थंकर संभवनाथ बैठे हैं जिनके चारों ओर दो तीर्थंकर-प्रतिमाएं खड़ी हुई तथा इक्कीस तीर्थंकर-प्रतिमाएं ध्यान-मुद्रा में बैठी हुई दर्शायी गयी हैं। पादपीठ के दोनों किनारों पर संभवनाथ के यक्ष त्रिमुख तथा यक्षी दुरितारी अंकित हैं। सिंहों के मध्य में तीर्थंकर का लांछन अश्व अंकित है। पृष्ठ-भाग के आधार पर दोनों ओर सिंह बने हुए हैं जो त्रिपर्ण मकर-तोरण से आवृत है। प्रतिमा में पीछे संवत् १५०७ की तिथि-युक्त एक अभिलेख है जिसमें प्रतिमा के दान-दाताओं और उसके गुरुओं के नाम का उल्लेख है।

अभिनंदन (४८.४/५८) : इस प्रतिमा में एक आयताकार पादपीठ पर स्थित सिंहासन पर तीर्थंकर को ध्यानावस्था में आसीन दर्शाया गया है। तीर्थंकर की आँखें श्री-वत्स चिह्न तथा आसन का सम्मुख भाग चाँदी और तांबे की पच्चीकारी से बना है। तीर्थंकर के भामण्डल से प्रकाश-किरणें

विकीर्ण हो रही हैं। उनके ऊपर तिहरे छत्र हैं जिनपर गंधर्व तथा दोनों ओर हाथी अंकित हैं। उनके पार्श्व में दो बैठे हुए तथा दो खड़े हुए तीर्थंकर और गंधर्व हैं। सिंहासन को दो हाथी आधार प्रदान किये हुए हैं। एक पच्चीकारी के फलक पर अभिनंदननाथ का लांछन बंदर अंकित है। सिंहासन के पार्श्व में एक ओर तीर्थंकर का यक्ष ईश्वर है तथा दूसरी ओर यक्षी काली है। पाद-पीठ के सम्मुख-भाग पर नव-ग्रह, एक चक्र और उसके दोनों ओर हिरण तथा कोनों पर हाथ जोड़े उपासक खड़े हैं। एक बैठी हुई नारी-आकृति एक कोष्ठ में आबद्ध है जिसकी बगल में चार तोरण हैं। समूची प्रतिमा मकर-तोरण से परिवृत है जिसे खड़े चमरधारियों की दो आकृतियाँ आधार प्रदान किए हैं। तोरण के शीर्ष पर पूर्ण-घट अंकित है। तोरण से फुंदने लटक रहे हैं। उसका किनारा मणिभ शृंखलाओं से आवद्ध है तथा पत्र-पुष्पों की डिज़ाइन से अलंकृत है। प्रतिमा के पृष्ठ-भाग पर संवत् १६१० का एक अभिलेख उत्कीर्ण है।

सुमतिनाथ (४८.४/४४) : तीर्थंकर सुमतिनाथ की इस पद्मासन प्रतिमा में उनकी आँखें, श्री-वत्स-चिह्न तथा चूचुक एवं आसन का सम्मुख-भाग चाँदी और तांबे की पच्चीकारी से बने हैं। उनके सिर के पीछे प्रकाश-किरण से युक्त भामण्डल है। तीर्थंकर के पार्श्व में दो पद्मासन तथा दो कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थंकर हैं। सिंहासन की एक ओर उनका यक्ष तुम्बुरु और दूसरी ओर यक्षी महा-काली बैठी है। दो सिंहों के मध्य में उनका लांछन चक्रवाक अंकित है। पाद-पीठ के सम्मुख भाग पर चार तोरण, नवग्रह, चक्र और उसके दोनों ओर दो हिरण, तथा कोनों पर बैठे हुए उपासक अंकित हैं। प्रतिमा के चारों ओर मकर-तोरण हैं जिसे दोनों ओर से दो खड़ी हुई आकृतियाँ आधार प्रदान किये हैं। प्रतिमा के पीछे संवत् १५३२ की तिथि का एक अभिलेख अंकित है।

पद्मप्रभ (४८.४/१८) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर पद्मप्रभ को पादपीठ पर आधृत एक सिंहासन पर बैठे हुए दर्शाया गया है। पादपीठ के सम्मुख भाग पर एक त्रिभुजाकार डिज़ाइन है। तीर्थंकर की आँखें और श्री-वत्स-चिह्न चाँदी की पच्चीकारी से निर्मित हैं। भामण्डल विकीर्ण प्रकाश-किरणों से युक्त है। तीर्थंकर के ऊपर तिहरा छत्र है जिसके पार्श्व में हाथी, गंधर्व आदि अंकित हैं। पादपीठ कर तीर्थंकर का यक्ष कुसुम और यक्षी श्यामा अंकित हैं तथा तीर्थंकर का लांछन (लाल) कमल दो सिंहों के बीच में अंकित है। प्रतिमा के पृष्ठ पर संवत् १४२३ का अभिलेख उत्कीर्ण है।

सुपार्श्वनाथ (६०.८३६) : इस प्रतिमा में सुपार्श्वनाथ को पादपीठ पर स्थित आसन पर ध्यान-मुद्रा में बैठा दिखाया गया है। तीर्थंकर के सिर पर नौ-फणी नाग-छत्र है। प्रतिमा के अंगो-पांग घिस चुके है। पादपीठ पर भाव संवत्सर १२५६ का अभिलेख उत्कीर्ण है।

चंद्रप्रभ (४८.४/५५) : पादपीठ पर स्थित सिंहासन पर तीर्थंकर को ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। प्रतिमा के सम्मुख-भाग में चार तोरण हैं। अधिकांश आकृतियाँ घिस चुकी हैं। श्री-वत्स-चिह्न और आसन का सम्मुख-भाग चाँदी की पच्चीकारी से निर्मित है। सिर के

पीछे विकीर्ण प्रकाश-किरण-युक्त भामण्डल है तथा तीर्थंकर के पार्श्व में दो पद्मासन तथा दो खड्गासन तीर्थंकर अंकित हैं। सिंहासन की एक ओर तीर्थंकर का यक्ष विजय और दूसरी ओर यक्षी भृकुटी अंकित है। पादपीठ के सम्मुख भाग पर तीर्थंकर का लांछन अर्धचंद्र अंकित है। इस काल की अन्य प्रतिमाओं की भाँति इस प्रतिमा के पादपीठ के सम्मुख-भाग पर नव-ग्रह तथा उपासक भी अंकित हैं। समूची प्रतिमा के चारों ओर एक अति-अलंकृत मकर-तोरण भी है। प्रतिमा के पृष्ठ-भाग पर संवत् १६१२ की तिथि का एक अभिलेख अंकित है।

शीतलनाथ (४८.४/४६) : सिंहासन पर पद्मासन-मुद्रा में बैठे तीर्थंकर शीतलनाथ की इस प्रतिमा की आंखें, श्री-वत्स चिह्न तथा आसन का सम्मुख-भाग चाँदी और ताँबे की पच्चीकारी से निर्मित हैं। तीर्थंकर के शीर्ष के पीछे विकीर्ण प्रकाश-किरणों से युक्त भामण्डल है। तीर्थंकर का लांछन श्री-वत्स दो सिंहों के मध्य में अंकित है। सिंहासन की एक ओर तीर्थंकर का यक्ष ब्रह्मा तथा दूसरी ओर यक्षी अशोका अंकित है। पादपीठ पर नव-ग्रह चक्र और उसके दोनों ओर हिरण तथा दोनों किनारों पर एक-एक उपासक अंकित हैं। समूची प्रतिमा मकर-तोरण से आवृत है जिसके शीर्ष पर पूर्ण-घट स्थित है। तोरण के किनारे मणिभ अलंकरण से आबद्ध हैं तथा तोरण से फुँदने निकले हुए हैं। प्रतिमा के पृष्ठ पर संवत् १५४२ की तिथि का एक अभिलेख भी है।

विमलनाथ (४८.४/२५) : यह तीर्थंकर विमलनाथ की पद्मासन-मुद्रा की प्रतिमा है जिसमें उनके ऊपर छाया करते हुए चार छत्र तथा उनकी बगल में गज-युग्म और गंधर्व आदि अंकित हैं। तीर्थंकर की आँखें, श्री-वत्स चिह्न तथा आसन का सम्मुख भाग आदि चाँदी की पच्चकारी से निर्मित हैं। विमलनाथ के पार्श्व में दोनों ओर दो-दो तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए हैं। पादपीठ के सम्मुख भाग में तीर्थंकर का लांछन वराह, नवग्रह तथा चक्र और उसकी दोनों ओर हिरण अंकित हैं। इसके पीछे उत्कीर्ण अभिलेख से ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा संवत् १५०२ में प्रतिष्ठित की गयी थी।

अनंतनाथ (४८.४/५२) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर अनंतनाथ तिहरे छत्र के नीचे सिंहासन पर पद्मासन-मुद्रा में अवस्थित हैं। सिंहासन के पार्श्व में दोनों ओर हाथी अंकित हैं। तीर्थंकर की आँखें, श्री-वत्स चिह्न आदि चाँदी और ताँबे की पच्चीकारी से निर्मित हैं। उनके सिर के पीछे प्रकाश-किरण-युक्त भामण्डल है। सिंहासन के पार्श्व में एक ओर तीर्थंकर का यक्ष पाताल तथा दूसरी ओर यक्षी अनंतमती बैठी हुई है। पादपीठ के सम्मुख-भाग पर नव-ग्रह आदि अंकित हैं। प्रतिमा की चारों ओर एक मकर-तोरण है। पीछे उत्कीर्ण अभिलेख में इस प्रतिमा के नाम तथा इसके दान-दाता और इसकी तिथि संवत् १५०७ का उल्लेख है।

धर्मनाथ (४८.४/५०) : ध्यान-मुद्रा में सिंहासनासीन तीर्थंकर की आँखें, श्री-वत्स चिह्न आदि चाँदी और ताँबे की पच्चीकारी से निर्मित हैं। भामण्डल प्रकाश-किरणों से युक्त है। उनके पाश्वों में दो पद्मासन और दो खड्गासन-मुद्रा में तीर्थंकर दिखाये गये हैं। पच्चीकारी के फलक पर

तीर्थंकर का लांछन वज्र दो सिंहों के मध्य में अंकित है। उनके यक्ष किन्नर और यक्षी कंदर्पा को उनकी सेवा करते हुए दिखाया गया है। पादपीठ के सम्मुख-भाग पर नव-ग्रह और चक्र तथा उसके पार्श्व में हिरणों आदि का अंकन है। इस प्रतिमा की अन्य आकृतियाँ आदि पूर्वोक्त प्रतिमाओं की भाँति ही हैं। संवत् १५७२ का अभिलेख भी इस प्रतिमा पर उत्कीर्ण है।

शांतिनाथ (४८.४/४०) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर को सिंहासन पर ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। उनकी आँखें, श्रीवत्स-चिह्न आदि चाँदी और ताँबे की पच्चीकारी से बने हैं। उनके पार्श्व में दोनों ओर बने आयताकार देवकोष्ठों में तीर्थंकरों को बैठे हुए दिखाया गया है। इनके नीचे भी कायोत्सर्ग तीर्थंकर अंकित हैं। सिंहासन के पार्श्व में तीर्थंकर के यक्ष एवं यक्षी अंकित हैं और पादपीठ के सम्मुख-भाग पर नव-ग्रह, चक्र और उसके दोनों ओर हिरण आदि अंकित हैं। सिंहासन के आगे सिंहों के मध्य में तीर्थंकर का लांछन हिरण अंकित है। प्रतिमा के पीछे संवत् १५२४ का अभिलेख उत्कीर्ण है।

कुंथुनाथ (४८.४/२४) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर को एक पादपीठ पर स्थित सिंहासन पर तिहरे छत्र के नीचे पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। छत्र के पार्श्व में दोनों ओर हाथी अंकित हैं। तीर्थंकर की आँखें, श्रीवत्स-चिह्न और आसन का सम्मुख भाग चाँदी की पच्चीकारी से बना है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर कायोत्सर्ग तीर्थंकर एवं सेवक खड़े हुए हैं। पादपीठ के सम्मुख भाग पर तीर्थंकर का लांछन बकरा अंकित है। सिंहासन के पार्श्व में यक्ष दंपति, गंधर्व और बला अंकित हैं। समूची प्रतिमा के चौखटे पर मणिभाकार किनारी तथा त्रिकोण डिजाइन है। प्रतिमा के पृष्ठ भाग पर संवत् १५०७ का अभिलेख है।

मल्लिनाथ (४७.१०६/१७०) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर को एक ऊँचे पादपीठ पर आधृत सिंहासन पर पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। तीर्थंकर के कान लंबे हैं, उनके सिर पर एक उष्णीष है और उसके ऊपर अलंकृत तिहरा छत्र है। छत्र की दोनों ओर हाथी हैं जिनके ऊपर शंख बजाते गंधर्व अंकित हैं। तीर्थंकर के शीर्ष की दोनों ओर आयताकार देवकोष्ठों में तीर्थंकरों को बैठे दिखाया गया है। इन देवकोष्ठों के उपरिवर्ती देवकोष्ठों में गंधर्व हैं। नीचे की ओर दो कायोत्सर्ग तीर्थंकरों को दो सेवकों सहित दिखाया गया है जो नितांत छोर की ओर हैं। सिंहासन की दोनों ओर तीर्थंकर के यक्ष कुबेर एवं यक्षी धरणप्रिया अंकित हैं। नव-ग्रह आदि को सामान्यतः प्रदर्शित किया गया है। प्रतिमा के पीछे संवत् १५३१ (विक्रम) और संवत् १४२७ (शक) का अभिलेख अंकित है।

मुनिसुव्रत (४८.४/२७) : सिंहासन पर ध्यानावस्था में बैठे तीर्थंकर की इस प्रतिमा में उनके ऊपर तिहरे छत्र छाया कर रहे हैं जिनके पार्श्व में दो हाथी और पद्मासनस्थ तीर्थंकर अंकित हैं। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर कायोत्सर्ग तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं। तीर्थंकर का सेवक-यक्ष वरुण और यक्षी नरदत्ता भी अंकित है। तीर्थंकर का लांछन कच्छप पूर्णतया नष्ट हो चुका है। प्रतिमा के पृष्ठ-भाग पर संवत् १५०९ का एक अभिलेख है।

नेमिनाथ (४८.४/३६) : यह प्रतिमा घिस चुकी है। इसमें तीर्थंकर को तिहरे छत्र के नीचे सिंहासन पर पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। उनके सिर के पीछे प्रकाश-किरणों से युक्त भा-मण्डल है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर देवकुलिका में बैठे हुए पद्मासन तीर्थंकर हैं तथा एक अन्य खड्गासन-मुद्रा में भी हैं। सिंहासन के दोनों ओर तीर्थंकर का सेवक यक्ष गोमेध तथा यक्षी अंबिका है। तीर्थंकर का लांछन शंख भी अंकित है। अन्य आकृतियाँ यथापूर्व हैं। प्रतिमा के पीछे संवत् १५१८ की तिथि का अभिलेख अंकित है।

पार्श्वनाथ (४८.४/२०) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर सिंहासन पर सप्त-फण नाग-छत्र के नीचे पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए हैं। तीर्थंकर के केश छोटे-छोटे छल्लों में प्रसाधित हैं। वे गलहार और भुजबंध पहने है। उनकी आँखें, श्री-वत्स-चिह्न तथा आसन का सम्मुख-भाग चाँदी और तांबे की पच्चीकारी से बना है। उनके पार्श्व में दोनों ओर दो पद्मासन तथा दो खड्गासन तीर्थंकर हैं। नाग-छत्र के ऊपर तथा पादपीठ के सम्मुख-भाग पर दोनों किनारों की ओर हाथी अंकित हैं। सिंहासन के पार्श्व में उनका सेवक यक्ष धरणेंद्र तथा यक्षी पद्मावती और पादपीठ के सम्मुख-भाग मे नवग्रह अकित हैं। उनका लांछन नाग भी अंकित है। प्रतिमा के पीछे सवत् १४८७ का एक अभिलेख उत्कीर्ण है।

महावीर (४८.४/१७) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर सिंहासन पर तिहरे छत्र के नीचे पद्मासन मुद्रा में प्रदर्शित हैं। छत्र के पार्श्व में हाथी और गंधर्व अंकित हैं। तीर्थंकर की आँखें, श्री-वत्स-चिह्न तथा आसन का सम्मुख-भाग चाँदी और ताँबे की पच्चीकारी से निर्मित है। उनके पार्श्व में दो चमर-धारी सेवक खड़े हैं तथा सिंहासन के पार्श्व में दोनों ओर उनका यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका है। उनका लांछन सिंह भी अंकित है। प्रतिमा के पीछे संवत् १३६२ का अभिलेख अंकित हैं।

कायोत्सर्ग तीर्थंकर (६४.४४४) : यह एक चालुक्यकालीन दुर्लभ कांस्य-प्रतिमा है जिसमें तीर्थंकर को कमल पर कायोत्सर्ग मुद्रा में दर्शाया गया है। तीर्थंकर के केश घुँघराले छल्लों में अति सुंदरता के साथ प्रसाधित हैं। तीर्थंकर के वक्षस्थल पर श्री-वत्स चिह्न अंकित नहीं है। शैलीगत आधार पर इस प्रतिमा के लिए दसवी शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है (चित्र ३४२ क)।

चौमुखी प्रतिमाएं : संग्रहालय में दो चौमुखी प्रतिमाएं भी हैं जिनमें से एक प्रतिमा (६३.११८७) छोटे आकार की है जिसके चारों ओर पद्मासनस्थ तीर्थंकरों की लघु आकृतियां अंकित हैं। इस प्रतिमा का शीर्ष-भाग अलंकृत तथा चैत्य गवाक्ष जैसा है जिसके शीर्ष पर कलश स्थित है। यह प्रतिमा लगभग दसवीं शताब्दी की है (चित्र ३४२ ख)।

दूसरी चौमुखी प्रतिमा (४७.१०६/२०७) में चारों ओर चार देव-कोष्ठ हैं जो सामान्यतः मण्डप के आकार के हैं। इनमें चार पद्मासन तीर्थंकर-प्रतिमाएँ स्थित हैं। यह प्रतिमा मूल रूप में वर्गाकार है जिसका आधार-भाग छज्जेदार था तथा शीर्ष-भाग शिखर-युक्त है। शिखर-

राष्ट्रीय संग्रहालय : तीर्थंकर पार्श्वनाथ (राजस्थान)

चित्र 335
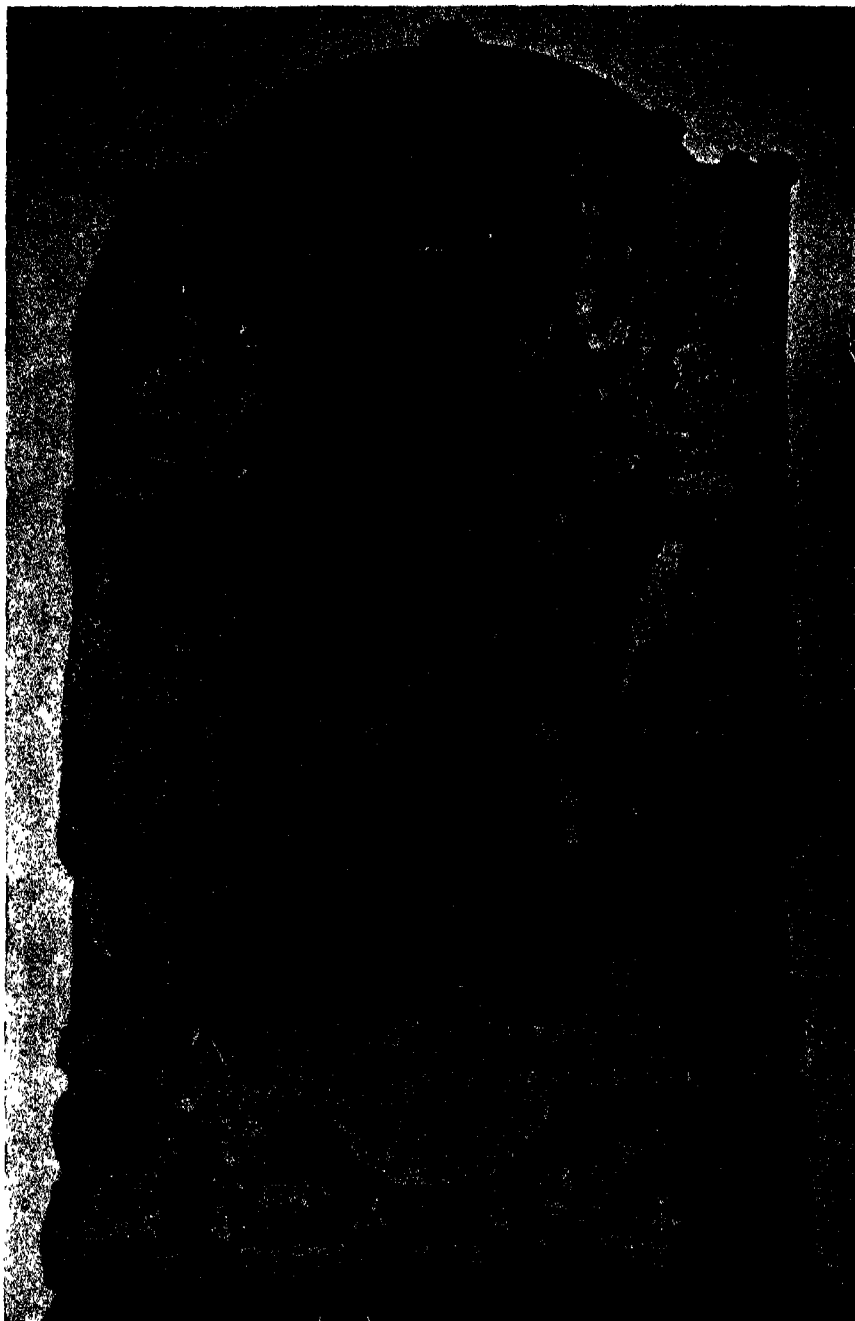
(ख) राष्ट्रीय संग्रहालय · तीर्थंकर नेमिनाथ (नरहद)

(क) राष्ट्रीय संग्रहालय · तीर्थंकर पार्श्वनाथ
(उत्तर प्रदेश)

चित्र 336

राष्ट्रीय संग्रहालय : सरस्वती (पल्लू)

चित्र 337

(क) राष्ट्रीय संग्रहालय : तीर्थंकर ऋषभनाथ (बिहार)

(ख) राष्ट्रीय संग्रहालय : यक्षी अंबिका (बिहार)

चित्र 338

(ख) राष्ट्रीय संग्रहालय : तीर्थंकर-मूर्ति (दक्षिणापथ)

(क) राष्ट्रीय संग्रहालय : तीर्थंकर के माता-पिता (पश्चिम बंगाल)

चित्र 339

(क) राष्ट्रीय संग्रहालय : तीर्थंकर पार्श्वनाथ
(दक्षिण भारत)
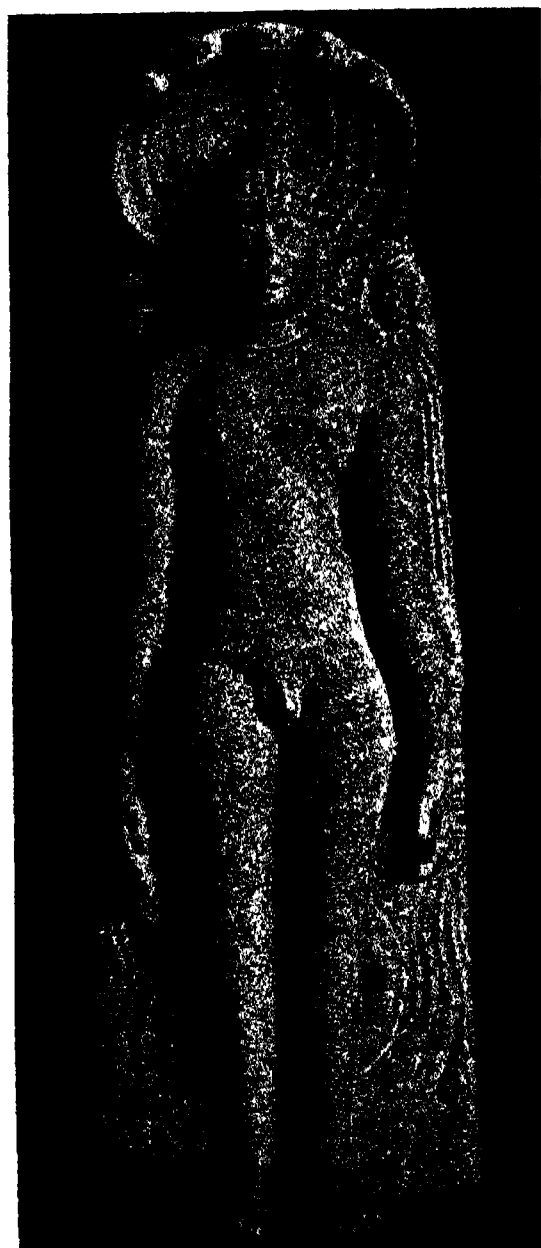
(ख) राष्ट्रीय संग्रहालय : तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ
(दक्षिण भारत)

चित्र 340

(क) राष्ट्रीय संग्रहालय : धातु-निर्मित तीर्थंकर ऋषभनाथ (मध्य प्रदेश)

चित्र 341
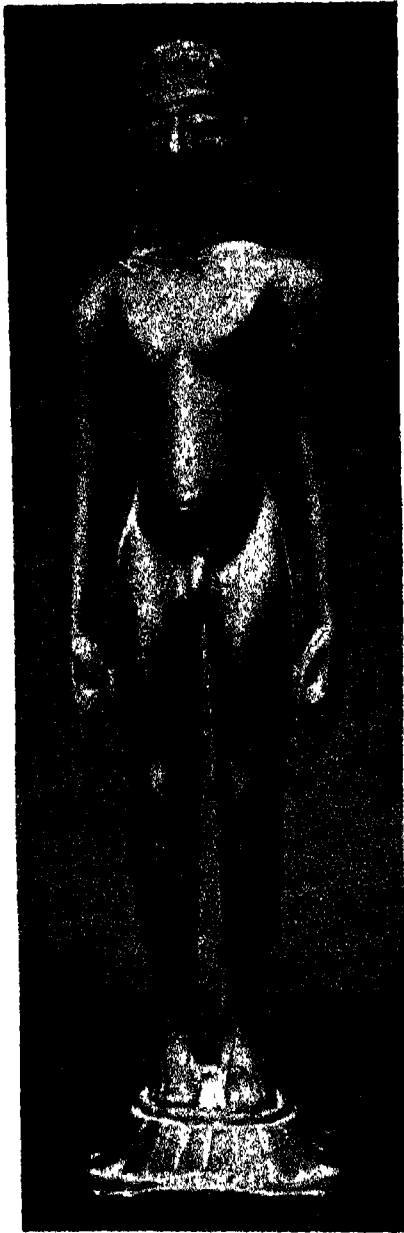
(क) राष्ट्रीय संग्रहालय : तीर्थंकर
(कर्नाटक)

(ख) राष्ट्रीय संग्रहालय : धातु-निर्मित
चौमुख (राजस्थान)

चित्र 342

(ख) राष्ट्रीय संग्रहालय : धातु-निर्मित
अंबिका (पूर्व भारत)

(क) राष्ट्रीय संग्रहालय : धातु-निर्मित
चक्रेश्वरी (उत्तर प्रदेश)

चित्र 343

राष्ट्रीय संग्रहालय : धातु-निर्मित अंबिका (अकोटा)

चित्र 344
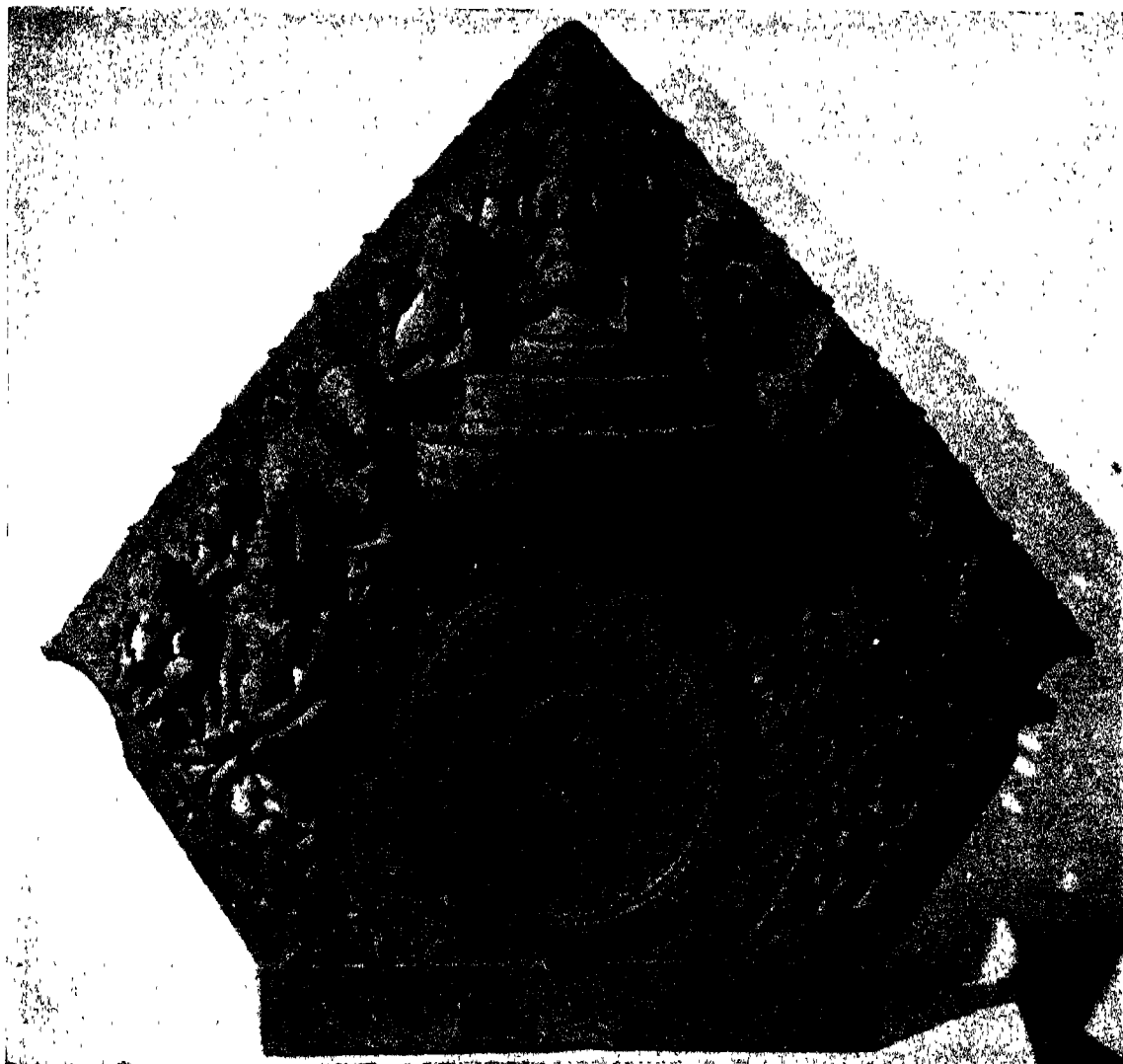
राष्ट्रीय संग्रहालय : तीर्थंकर का धातु-निर्मित परिकर (राजस्थान)

चित्र 345
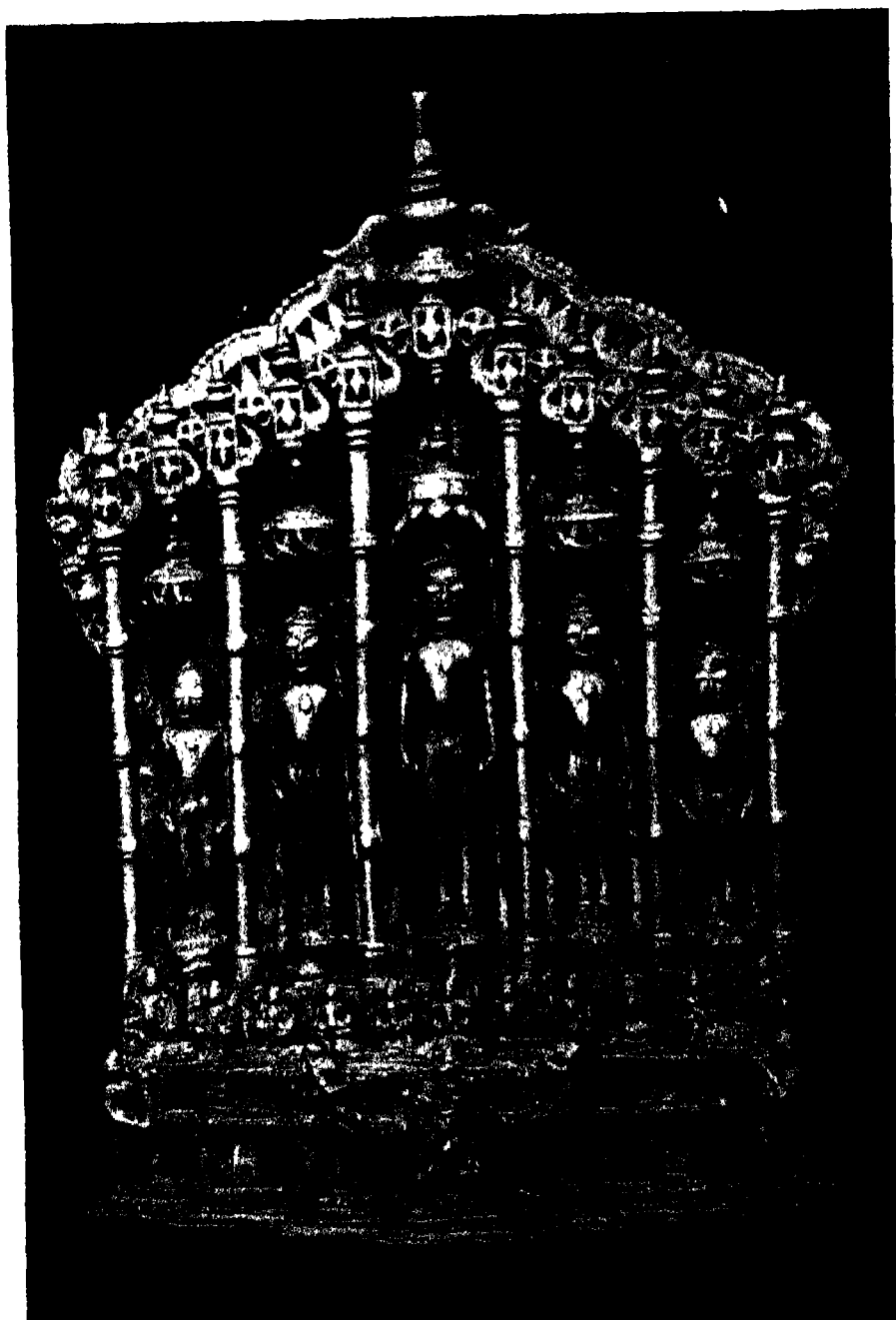
राष्ट्रीय संग्रहालय : धातु-निर्मित पंच-तीर्थिका (पश्चिम भारत)

चित्र 346

भाग कलश अथवा स्तूपी से मण्डित है। यह प्रतिमा अंदर से खोखली है और कई स्थानों पर खण्डित हो चुकी है।

चक्रेश्वरी (६७.१५२) : इस प्रतिमा में एक आयताकार पादपीठ पर स्थित पद्म-पुष्प पर देवी चक्रेश्वरी को ललितासन में दर्शाया गया है। यह देवी अष्टभुजी है जो अपनी छह भुजाओं में चक्र धारण किये है। उसका आगे का दायाँ हाथ वरद-मुद्रा में है और बायें हाथ में वह बीजपूरक धारण किये है। वह एक ऊंचा मुकुट, कानों में वृत्ताकार कुण्डल और गले में माला पहने है। प्रतिमा के पृष्ठ-भाग के चौखटे में तीर्थंकर आदिनाथ अंकित हैं जिनके शीर्ष पर तिहरे छत्र हैं। देवी का वाहन गरुड सम्मुख-भाग में प्रदर्शित है। देवी की मुखाकृति घिस चुकी है। यह प्रतिमा दसवीं शताब्दी की प्रतीहार कला की एक उत्तम कृति है (चित्र ३४३ क)।

द्विभुजी अंबिका (६८.१६०) : इस प्रतिमा में अंबिका को उसके वाहन सिंह के ऊपर आरूढ़ दर्शाया गया है। अंबिका के दायें हाथ में आम्र-वृक्ष-शाखा (जिसका शीर्ष-भाग खण्डित हो चुका है) है तथा वह अपने बायें हाथ से अपने एक शिशु को पकड़े हुए है। उसका दूसरा शिशु उसके ठीक बायीं ओर खड़ा हुआ है। प्रतिमा के पृष्ठ-भाग का चौखटा देवी के पार्श्व में अंकित गज-व्यालों पर आधारित है। देवी का भामण्डल दसों दिशाओं में ज्वालाएँ विकीर्ण करने वाला है। प्रतिमा के शीर्ष-भाग पर अर्ध-पद्मासन मुद्रा मे तीर्थंकर नेमिनाथ की एक लघु आकृति अंकित है। यह प्रतिमा पश्चिम भारत में नवीं शताब्दी में निर्मित हुई (चित्र ३४४)।

चतुर्भुजी अंबिका (४८.४/११) : इस प्रतिमा में अंबिका को एक आयताकार पादपीठ पर स्थित सिंह पर आरूढ़ ललितासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। उसके ऊपरी हाथों में आम्र-गुच्छ हैं, दायीं ओर के सम्मुख हाथ में वह एक फल लिये हुए है तथा बायीं ओर के सम्मुख हाथ से वह शिशु को पकड़े हुए है जो उसकी गोद में बैठा है। दूसरा शिशु उसकी दायीं ओर खड़ा है। वह करण्ड-मुकुट, कुण्डल, गलहार, भुजबंध, पायल तथा अधोवस्त्र धारण किये है। उसका अर्ध-वृत्ताकार मण्डल कमल-दलवत् है। पृष्ठ-भाग का आधार पूर्ण-घट से मण्डित है। अंबिका के शीर्ष के ऊपरी भाग में एक आयताकार देव-कुलिका में नेमिनाथ को बैठे दर्शाया गया है। इस प्रतिमा में अंबिका का एक विशेष प्रकार का मुकुट, चौड़ा चेहरा, सुस्पष्ट चिबुक तथा देह-यष्टि का प्रतिरूपण संकेत देता है कि यह प्रतिमा परमार कलाकार की कृति है। इस प्रतिमा पर संवत् १२०३ का एक अभिलेख भी अंकित है।

मुलम्मा युक्त अंबिका (४६.१२/३) : इस प्रतिमा में एक अलंकृत आयताकार पादपीठ पर स्थित एवं पद्म-पुष्प आसन पर आमों से लदे हुए वृक्ष के नीचे अंबिका को आकर्षक मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है। अंबिका दायें हाथ में आम्र-गुच्छ पकड़े हुए है और बायें हाथ से गोदी में चढ़े हुए शिशु को सहारा दे रही है। दूसरा नग्न शिशु (जिसके हाथ खण्डित हो चुके हैं) उसकी बायीं ओर खड़ा हुआ है। वह कानों में वृत्ताकार कुण्डल, गलहार, बहुत सी चूड़ियाँ तथा साड़ी और पायल

पहने है। उसके वाहन सिंह को उसकी बायीं ओर दर्शाया गया है। इस प्रतिमा का आकर्षक प्रति-रूपण दर्शाता है कि यह प्रतिमा दसवीं शताब्दी की पाल-कला की कृति है (चित्र ३४३ ख)।

पद्मावती (४८.४/२७३) : इस प्रतिमा में सम्मुख को ओर आगे निकले एक आयताकार पादपीठ पर स्थित पद्म-पुष्प के आसन पर देवी पद्मावती को पालथी मारे बैठे हुए दर्शाया गया है। देवी के ऊपर तीन फण वाला वैसा ही नाग-छत्र है जैसाकि पार्श्वनाथ के शीर्ष पर दर्शाया जाता है। यह देवी चतुर्भुजी है जिसकी दायीं ओर की ऊपरी भुजा में एक फल है तथा उसी ओर की निचली भुजा वरद-मुद्रा में है। बायी ओर की ऊपरी भुजा में पद्म-पुष्प तथा निचली भुजा में जल-कलश है। उसके कंधों पर उत्तरीय-जैसा वस्त्र पड़ा है तथा वह सामान्य आभूषण पहने है। उसका लांछन कुक्कुट (जो खण्डित है) उसकी बायी ओर अंकित है। प्रतिमा के दोनों ओर दो स्तंभ हैं जिनके किनारे मणिभ-युक्त हैं। स्तभ त्रिपर्ण-तोरण को आधार प्रदान किये हुए हैं। तोरण के शीर्ष पर कलश है। यह प्रतिमा पश्चिम-भारत की शैली में निर्मित है जो लगभग सत्रहवीं शताब्दी की प्रतीत होती है।

पद्मावती (४७.१०६/१२४) : वर्गाकार पादपीठ पर आधृत वृत्ताकार आसन पर देवी पद्मावती ललितासन-मुद्रा में बैठी हुई है। यह चतुर्भुजी प्रतिमा है। देवी की दायीं ओर की पिछली भुजा में अंकुश है और सामने की भुजा वरद-मुद्रा में है। बायीं ओर की पिछली भुजा (जो खण्डित है) में पाश है तथा आगे की भुजा में दाडिम-जैसा फल है। पाँच फण वाला नाग-छत्र देवी को छाया प्रदान कर रहा है। देवी के शीर्ष के ऊपरी भाग में एक पद्मासनस्थ तीर्थंकर की प्रतिमा है। इस प्रतिमा के लिए लगभग अठारहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है, लेकिन यह किस क्षेत्र से प्राप्त हुई है, यह अज्ञात है।

एक परिकर (६७.१०३) : यह एक तीर्थंकर-प्रतिमा के पृष्ठ-भाग का अलंकृत ढाँचा है जो मुख्य तीर्थंकर की प्रतिमा से पृथक् हो चुका है। यह किस तीर्थंकर-प्रतिमा का परिकर है यह ज्ञात नहीं है। इसके मध्यवर्ती भाग में प्रकाश की किरणों से युक्त कमल-पत्र तथा अन्य विशेष डिज़ाइनों से युक्त एक विशद भामण्डल है। भामण्डल के पार्श्व में दोनों ओर मकर-मुख हैं जिनसे कमलों का एक सुदर पट निस्सृत हो रहा है। इनके ऊपर विद्याधरों का एक युग्म, वृषभ की मुखाकृति वाली उड़ती हुई आकृतियाँ, हाथी पर सवार भेंट के लिए माला-वाहक आकृतियाँ अंकित हैं जो उल्लेखनीय ढंग से तीर्थंकर की ओर अग्रसरित होती हुई दर्शायी गयी हैं। केंद्रवर्ती छत्र के पार्श्व तथा ऊपरी भाग में उड़ते हुए गंधर्व आदि अंकित हैं। इन गंधर्वों में से दो गंधर्व रणभेरी बजा रहे हैं तथा उनके ऊपर केंद्रवर्ती भाग में एक गंधर्व शंख बजा रहा है। ये गंधर्व इन वाद्य-यंत्रों को बजाकर तीर्थंकर की केवलज्ञान-प्राप्ति की घोषणा कर रहे हैं। इस परिकर की आकृतियों का प्रतिरूपण, उनके द्वारा पहने गये विशेष प्रकार के करण्ड-मुकुट तथा सुस्पष्ट मुखाकृतियाँ और परिकर के निचले भाग में अंकित कमलों की डिज़ाइनें हमें पल्लू (बीकानेर) से प्राप्त समसामयिक तीर्थंकर और सरस्वती की

दो प्रतिमाओं (पूर्वोक्त पृ० २५९ तथा ५७२) का स्मरण कराती हैं। यह परिकर शैलीगत आधार पर बारहवीं शताब्दी की चाहमान-कला का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है (चित्र ३४५)।

पार्श्वनाथ का पंचविंशति-पट्ट (६३.७३): इसमें पार्श्वनाथ को कायोत्सर्ग मुद्रा में दिखाया गया है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर दो अन्य तीर्थंकर खड़े हुए हैं। इस पट्ट का तोरण पश्चिम-भारत के उत्तर मध्यकालीन मंदिरों के द्वारों के समान है। इस पट्ट के पीछे संवत् १५०० (सन् १४४३) का एक अभिलेख भी है (चित्र ३४६)।

ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा
शीतला प्रसाद तिवारी

प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, बंबई

जैन त्रि-तीर्थिका (११३; ऊँचाई ८९ सें० मी०; पाषाण, अंकाई-तंकाई, ज़िला नासिक): इस प्रतिमा में एक तिहरे छत्र के नीचे भामण्डल-युक्त तीर्थंकर अपने पार्श्व के दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर के साथ कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं। तीनों ही तीर्थंकरों के बाल कंधों पर बिखरे हुए हैं। मूल-नायक के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक हैं और उनके पैरों के समीप प्रतिमा का दान-दाता दंपति अंकित है। परिकर के शीर्ष-भाग में प्रातिहार्य और शीर्ष के ऊपरी सिरे के साथ लगी हुई संगीतज्ञों की एक पंक्ति है। तीर्थंकरों के भामण्डल के पीछे अंकित पत्तों का संयोजन संभवतः उनके बोधि-वृक्षों का सूचक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कंधों पर लहराते हुए बालों का अंकन प्रायः ऋषभनाथ की प्रतिमाओं में पाया जाता है परंतु अंकाई-प्रतिमाओं में तीर्थंकरों के बालों का इस प्रकार का अंकन उनकी अपनी निजी विशेषता प्रतीत होती है, यहाँ तक कि उन्होंने पार्श्वनाथ के बालों का भी अंकन इसी प्रकार से किया है। यह प्रतिमा लगभग नौवीं-दसवीं शताब्दी की है (चित्र ३४७ क)।

जैन पंच-तीर्थिका (११४; ऊँचाई ८८.५ सें० मी०; पाषाण, अंकाई-तंकाई): तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं जिनके पार्श्व में दोनों ओर ऊपरी भाग में बने देव-कोष्ठों में तीर्थंकरों को बैठे हुए दिखाया गया है और इनके नीचे कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए तीर्थंकरों को। मूल-नायक के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक हैं। यह पट स्तंभों से अत्यंत विशद रूप से अलंकृत है। ये स्तंभ अन्य तीर्थंकरों और देव-कोष्ठों को आधार प्रदान किये हुए हैं। दोनों ओर गज-व्याल का प्रतीक अंकित है। पाद-पीठ पर अभिलेख अंकित है (चित्र ३४७ ख)।

यक्ष धरणेंद्र (११६; माप: ४३.५×७६ सें० मी०; भूरा पत्थर, कर्नाटक क्षेत्र): चतुर्भुजी यक्ष धरणेंद्र एक आसन पर ललित मुद्रा में बैठा है जिसमें उसका दायाँ पैर नीचे लटका हुआ है। यक्ष एक विशद मुकुट और भरपूर आभूषण पहने हुए है। वह अपनी चार भुजाओं में से

तीन भुजाओं में कमल, गदा तथा पाश धारण किये हुए है और सामने का बायाँ हाथ वरद-मुद्रा में है। यक्ष के पीछे एक विशद प्रभावली है जो कीर्तिमुख और पत्र-पुष्पों के पट्ट से अलंकृत है। यक्ष जिन उपादानों को अपने हाथों में लिये हुए है उनका उसकी विशेषताओं से कोई संबंध नहीं है, इसलिए यक्ष धरणेंद्र के रूप में उसकी पहचान के लिए वह तीन नाग फणी-छत्र सहायक है जो उसके मुकुट के ऊपरी भाग में अंकित है। इस प्रतिमा का अलंकरण लगभग बारहवीं शताब्दी की होयसल-कला के प्रभाव का परिचायक है (चित्र ३४८)।

यक्षी पद्मावती (१२१; माप ४८×७८ सें० मी०; भूरा पत्थर, संभवतः कर्नाटक) : यक्ष धरणेंद्र की सहधर्मिणी यह यक्षी पद्मावती भी चतुर्भुजी है जो अपनी भुजाओं में वही उपादान धारण किये हुए है जो यक्ष धारण किये है। अपवाद मात्र इतना है कि यक्षी का बायाँ हाथ कमर के समीप खण्डित हो चुका है। उसके ऊपर एक फण वाले नाग का छत्र है।

महावीर (११६; माप ४३×११६ सें० मी०, परतदार पाषाण, कर्नाटक) : पादपीठ पर आधृत कमल पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े तीर्थंकर को महावीर के रूप में त्रि-रथ पादपीठ पर अंकित उनके लांछन सिंह के अंकन से पहचाना जा सकता है। तीर्थंकर के पार्श्व में एक ओर यक्ष है जो अपने बायें हाथ में नीबू फल लिये हुए है और दूसरी ओर यक्षी है जो अपने बायें हाथ में पुस्तक लिये है। श्री-वत्स-चिह्न अंकित नहीं है। यह प्रतिमा दो स्तंभों के बीच स्थापत्यीय रूप से संयोजित है जिसके ऊपर मकर आधृत है। मकर के ऊपर एक देव-आकृति आरूढ़ है जिसकी पहचान नहीं हो सकी। अण्डाकार प्रभा-पट्ट के प्रकार का है जिसके शीर्ष पर कीर्तिमुख है। कर्नाटक की प्रतिमाओं में पायी जाने वाली एक विशेषता तीर्थंकरों के ऊपर तिहरा छत्र है जो महावीर के ऊपर भी प्रदर्शित है (चित्र ३४९ क)।

महावीर की एक-तीर्थिका (११७; संगमरमर, माप ५१×१४३.५ सें०मी०, वीरवाह, थार और परकर जिला, सिंध) : इस प्रतिमा में महावीर पंचरथ पादपीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए हैं। तीर्थंकर की टाँगों के बीच एक विशेष प्रकार के लहरदार अंकन से ज्ञात होता है कि वह उस धोती का छोर है जिसे वह पहने हुए हैं, साथ ही कमर पर कीर्तिमुख-कमरपेटी से कसी हुई एक चौड़ी पट्टी से भी यही प्रतीत होता है कि वह कोई अंतर-वस्त्र पहने हुए हैं। उनके वक्ष पर श्री-वत्स-चिह्न अंकित है और चूचुकों को बिंदु और उसके चारों ओर के एक घेरे द्वारा दर्शाया गया है (जो पुष्प का संकेत है ?)। उनके पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक खड़े हैं तथा इस मूर्ति का दानदाता-युगल अंजलि-मुद्रा में उनके चरणों के समीप बैठा है। उनका परिकर अलंकृत है जिसमें लंब-रूप स्तंभ के दोनों ओर चार बैठी हुई तथा एक खड़ी हुई विद्यादेवियाँ अंकित हैं। छत्र के चारों ओर प्रातिहार्य हैं और परिकर के ऊपरी सिरे पर संगीतज्ञ। इस पर संवत् ११३६ (सन् १०८०) का अभिलेख भी है (चित्र ३४९ ख)।

चमरधारी (११८; ऊँचाई ८७ से० मी० संगमरमर, राजस्थान) स्पष्टतः यह प्रतिमा किसी

तीर्थंकर-प्रतिमा के परिकर का एक अंग है। इसमें चमरधारी त्रिभंग-मुद्रा में खड़ा हुआ है। उसके दायें हाथ में चमर है और बायाँ हाथ कटि-मुद्रा में है। प्रतिमा समृद्ध रूप से अलंकृत है जिसमें वह अलंकृत किरीट-मुकुट, मौक्तिक-दाम, हार, कुण्डल, कंकण, भुजबंध तथा पैरों में पायल पहने हुए है। वह धोती पहने है जो कमर में रस्सी के कमरबंध से कसी हुई है तथा जिसमें मोतियों की लड़ियाँ भी गुंथी हुई हैं। उसकी जाँघों के ऊपर पर्यस्तिका है। यह प्रतिमा बारहवीं शताब्दी की है (चित्र ३५० क)।

दान दाता (?) (१२७; माप ३८×५५.५ सें० मी०; संगमरमर; राजस्थान) : यह एक दाढ़ी वाले पुरुष की आकृति है जो एक चौकी पर ललितासन-मुद्रा में बैठा है जिसमें उसका दायाँ पैर नीचे लटक रहा है। उसके बाल पीछे की ओर कढ़े हुए है तथा बायें कंधे के पास एक जूड़े के रूप में बँधे हुए हैं। उसका भामण्डल एक विशद पद्म-पुष्प के रूप में अंकित है। वह धोती बाँधे और कंधों पर चादर ओढ़े है जिसके छोर नीचे की ओर लटक रहे हैं। वह अपने दोनों हाथों में एक विशेष शैली में अंकित कमलों को धारण किये है। इस मूर्ति-पट्ट के दो स्तंभ उन दो लघु देवकोष्ठों को आधार प्रदान किये हुए हैं जिनमें यक्ष और यक्षी को बैठे हुए दिखाया गया है। इनके ऊपर त्रिपर्ण तोरण है जिसके शीर्ष पर देवालय है जिसमें तीर्थंकर-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। इसके पादपीठ पर संवत् १२४२ (सन् ११८५) का तिथि-युक्त अभिलेख है जिसके अनुसार इस प्रतिमा को किसी शक्तिकुमार ने निर्मित कराया था (पूर्वोक्त चित्र २००)।

पार्श्वनाथ (३२; ऊँचाई २१.५ सें० मी०; कांस्य) : इस कायोत्सर्ग दिगंबर तीर्थंकर की प्रतिमा की दायीं भुजा का अग्रभाग खण्डित हो चुका है। तीर्थंकर के सिर के पीछे पाँच फणी नाग-छत्र तथा पैरों के मध्य उनका लांछन कुण्डलीबद्ध नाग प्रदर्शित है। प्रतिमा की विशेषताएँ अत्यंत रूढ़ हैं। उनके चौड़े कंधे, धड़-भाग का प्रतिरूपण, लंबी टाँगें आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनकी तुलना पटना संग्रहालय[1] में संरक्षित चौसा के भूमिगत मूर्ति-भण्डार से प्राप्त कुछ प्रारंभिक कांस्य प्रतिमाओं से की जा सकती है। पैरों के नीचे के टूटे हुए जोड़ वाले भाग से प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा अवश्य ही पादपीठ पर स्थित रही होगी जो अब नष्ट हो चुका है। यह प्रतिमा लगभग दूसरी शताब्दी की है (प्रथम भाग में चित्र ३७)।

तीर्थंकर (१२२; ऊँचाई २२ सें०मी०; कांस्य; वाला, गुजरात) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर को अधोवस्त्र पहने हुए एक वर्गाकार आधार पर स्थित वृत्ताकार मणिभांकित पादपीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा

---

1 इस प्रतिमा की तिथि एवं क्षेत्र के विषय में उमाकांत प्रेमानंद शाह के अभिमत के लिए द्रष्टव्य प्रथम भाग में पृ. 87-88. प्रस्तुत लेख के लेखकों का इस विषय में अपना अभिमत है कि चौसा के भण्डार से प्राप्त कुषाण-कालीन जैन कांस्य प्रतिमाओं द्वारा प्रस्तुत साक्ष्यों के आधार यह नितांत अनिवार्य है कि इस प्रतिमा की तिथि का पुनर्निर्धारण किया जाये. यहाँ विवेचित कांस्य प्रतिमा के चौड़े कंधे और लंबे पैर ऐसी विशेषताएं हैं, जो चौसा की कांस्य प्रतिमाओं से घनिष्ठ समानता रखते हैं.

में दर्शाया गया है। उनका चेहरा अण्डाकार और कर्णाग्र लंबे तथा छिद्र-युक्त हैं; बाल छल्लों में प्रसाधित हैं तथा सिर के ऊपरी भाग पर उष्णीष है। श्रीवत्स-चिह्न का सकारण अभाव है। प्रतिमा के पीछे एक पैर तथा पादपीठ के पृष्ठ-भाग पर एक टूटा हुआ जोड़नेवाला भाग छत्र के लिए रहा होगा जो अब खण्डित हो चुका है। धड़-भाग का प्रतिरूपण और उसकी विशेषताएँ तथा धोती बाँधने का ढंग इसकी संबद्धता गुप्त परंपरा से दर्शाता है। यह परंपरा दक्षिणापथ की गुफा-प्रतिमाओं में देखी जा सकती है। प्रतिमा का पृष्ठ भाग सपाट है। इस प्रतिमा का काल लगभग छठवीं शताब्दी है (चित्र ३५० ख)।

तीर्थंकर प्रतिमा (३४; ऊँचाई १८ सें० मी०; कांस्य; वाला): वर्गाकार पादपीठ पर कायोत्सर्ग तीर्थंकर मात्र धोती पहने हुए हैं जिसके सम्मुख भाग में पटलियाँ है और पीछे का भाग सपाट हैं। सिर-भाग धड़ की अपेक्षा आनुपातिक रूप में काफी बड़ा प्रतीत होता है। अण्डाकार भामण्डल एक सादे वृत्ताकार प्रभा-मण्डल को आधार प्रदान किये हुए है जो प्रतिमा के साथ ही ढला हुआ है यह प्रतिमा लगभग छठवीं शताब्दी की है।

ऋषभनाथ का चतुर्विंशति-पट्ट (४२; माप ३४×५८.५ सें० मी०, कांस्य, चाहरदी (चोपड़ा), जिला पूर्व खानदेश): त्रि-रथ पादपीठ पर आधारित दोहरे कमल पुष्प पर मूल-नायक कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं। मूल-नायक एक सादी धोती पहने हुए हैं जो उनकी कटि पर मेखला से छल्लेदार गाँठ से बँधी हुई है। उनके कंधे सपाट हैं लेकिन वे उभरे हुए हुए नितंबों और गोलाकार कमर की तुलना में चौड़े हैं। चेहरा चौड़ा है तथा मुखाकृति भली-भाँति प्रतिरूपित है। उनके बाल छल्लों में प्रसाधित हैं, ऊपर उष्णीष में आबद्ध है तथा केशों की लटें कंधों पर लहरा रही हैं जिनके आधार पर ही उन्हें ऋषभनाथ के रूप में पहचाना जाता है। उनकी आँखें चाँदी से और श्रीवत्स-चिह्न स्वर्ण-उरेकित है। उनके पादपीठ को दो सिंह आधार प्रदान किये हैं जिनके मुख दोनों विपरीत दिशाओं की ओर हैं, मध्य में चक्र है जिसके पार्श्व में दोनों ओर हिरण हैं। त्रि-तीर्थी के आधार पर नव-ग्रहों के ऊपर के शरीरार्ध अंकित हैं। उनका परिकर उल्लेखनीय है क्योंकि तीर्थंकर के दोनों ओर तीन बैठे हुए तीर्थंकर लंब रूप पंक्ति में व्यवस्थित हैं और शेष तीर्थंकर चार क्षैतिजिक पंक्तियों में। सबसे ऊपरी पंक्ति के मध्य में पार्श्वनाथ को एक देवकोष्ठ में बैठे हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर की लंब रूप पंक्ति के दोनों ओर चमरधारियों को त्रि-रथ पादपीठ से निस्सृत पत्र-पुष्पों के पादपीठ पर खड़े हुए दिखाया गया है। नीचे की सतह पर पादपीठ से निस्सृत पद्म-पुष्पों पर यक्ष-यक्षी बैठे हुए हैं। दायीं ओर के पद्म पर यक्ष ललितासन-मुद्रा में बैठा है जिसके सीधे हाथ में बीजपूरक तथा बायें हाथ में नकुल है। बायीं ओर के पद्म पर यक्षी बैठी है जो अपने दायें हाथ में आम्र-फलों का गुच्छा लिये तथा बायें हाथ से अपनी बायीं गोद में बैठे बच्चे को पकड़े हुए है। सिरों पर गज-व्याल हैं तथा परिकर के ऊपरी किनारे के साथ संगीतज्ञों की पंक्ति है। शीर्ष पर कर्नाटक शैली का तीन स्तर वाला छत्र है। पादपीठ के पृष्ठ-भाग पर एक अभिलेख अंकित है। यह प्रतिमा लगभग नौवीं शताब्दी की है और शैलीगत रूप में यह राष्ट्रकूट परंपरा से संबद्ध है (चित्र ३५१)।

बाहुबली (१०५; माप १७×५१ सें० मी०; कांस्य; श्रवणबेलगोला) : एक बड़े पादपीठ से स्पष्टत: पृथक् एक गोल आधार पर बाहुबली को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है। बाहुबली के कंधे कुछ चौड़े हैं जबकि उसका धड़ तथा हाथ-पैर स्वाभाविक रूप के प्रतिरूपित हैं। उसके अण्डाकार मुख पर भरे हुए गाल, उभरी हुई नाक, सुस्पष्ट होंठ तथा कुछ-कुछ उठी हुई भौंहें अंकित हैं। कान लंबे और छिद्र-युक्त हैं। बाल पीछे की ओर कढ़े हुए हैं जो पीछे की ओर लटों में कुण्डलित होकर उनके कंधों पर लहरा रहे हैं। एक कुण्डलित लता जो काफी उद्भृत रूप से अंकित है उनके हाथ और पैरों के चारों ओर लिपटी हुई है। यह प्रतिमा आठवीं-नौवीं शताब्दी की है (चित्र ३५२)।

यक्षी (६५.२; ऊँचाई २२.५ सें० मी०; कांस्य; कर्नाटक): इस प्रतिमा में एक अनावृत वक्ष-स्थल वाली नारी-आकृति को अंकित किया गया है जो मात्र अधोवस्त्र धारण किये है तथा अति-भंग-मुद्रा में एक वर्गाकार पादपीठ पर खड़ी है। वह अपने दायें हाथ में चमर धारण किये है तथा बायाँ हाथ एक स्तंभ पर टिका हुआ है। यह स्तंभ दस कलश (?) स्तंभ प्रतीत होता है। उसकी मुखाकृति आद्य रूप में प्रतिरूपित है जिसमें उसकी नाक चपटी, होंठ और भौंहें मोटी हैं। उसका जूड़ा विशद है। उसके द्वारा पहने अधोवस्त्र की प्रतीति बायीं जंघा के ऊपर ऊँचाई के साथ उद्भृत वस्त्र के एक छोर के अंकन तथा कटि के चारों ओर डोरीनुमा मेखला से होती है। वह भुजबंध और पायल पहने है (चित्र ३५३ क)।

अचिह्नित तीर्थंकर (६७.७; ऊँचाई १५ सें० मी०; पीतल; पश्चिम-भारतीय शैली; अकोटा शैली): इस प्रतिमा में तीर्थंकर सिंहासन पर आधृत गद्दी पर ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए हैं। यद्यपि मुखाकृति कुछ-कुछ खण्डित हो गयी है तथापि वह अण्डाकार है, कर्णाग्र लंबे और छिद्र-युक्त हैं, सिर पर उभरा हुआ उष्णीष है। गर्दन कम्बु-ग्रीव है। उनके पार्श्व में यक्ष और यक्षी हैं। यक्ष अपने हाथ में नकुल और बीजपूरक लिये है तथा यक्षी आम्र-वृक्ष की शाखा पकड़े है। तीर्थंकर का वृत्ताकार भामण्डल जो मणिभाकार प्रकार का है स्वतिकाकार स्तंभ-युक्त दो सादे स्तंभों पर आधारित है। पादपीठ पर दोनों ओर एक-एक दानदाता सहित धर्म-चक्र प्रमुखता के साथ अंकित हैं। तीर्थंकर के वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न तथा पादपीठ पर नवग्रहों के अंकन का अभाव है। इस प्रतिमा की तिथि संवत् ९४४ (सन् ८८७) है।

ऋषभनाथ (६७.६; माप २३.३ सें० मी०; पीतल; पश्चिम-भारतीय शैली, अकोटा शैली) तीर्थंकर आवरण-सहित सिंहासन पर ध्यान-मुद्रा में बैठे हैं। मुखाकृति आंशिक रूप से खण्डित हो चुकी है, आँखें चाँदी निर्मित हैं, कान लंबे और छिद्र युक्त है तथा उष्णीष पर्याप्त उभारदार है। वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न अंकित है। यक्ष-यक्षी पूर्वोक्त प्रतिमा की भाँति ही अंकित हैं। परिकर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी और प्रभा-मण्डल के पार्श्व में गणधर हैं। यह प्रतिमा दक्षिणापथ-कर्नाटक शैली से उद्भूत है। इसके लिए नौवीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध काल निर्धारित किया जा सकता है (चित्र ३५३ ख)।

पार्श्वनाथ की त्रि-तीर्थिका (६७.१२; ऊँचाई १५.५ सें० मी०; पीतल; पश्चिम-भारतीय शैली, संभवतः वसंतगढ़) : इस प्रतिमा में तीर्थंकर पद्म-पुष्पों के पट्ट के एक विश्व-पद्म पर ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाये गये हैं। तीर्थंकर का मुख-मण्डल वर्गाकार है, उनके लंबे कान कंधे को छू रहे हैं तथा उष्णीष प्रमुख रूप से प्रदर्शित है। उनके पार्श्व में दायीं ओर ऋषभनाथ तथा बायीं ओर महावीर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं जिनके शीर्ष के पीछे अण्डाकार भामण्डल है। उनके परिकर की अन्य आकृतियों में यक्ष धरणेंद्र तथा यक्षी पद्मावती हैं। पादपीठ पर चक्र अंकित है जिसके दोनों ओर हिरण हैं। यह प्रतिमा लगभग १०५० की है (चित्र ३५४ क)।

चैत्य-गृह (५७.१४; माप २०×१२×३३ सें० मी०; पीतल; गुजरात) यह प्रतिमा एक आयताकार मंदिर के रूप में है। इस मंदिर में आधार-भित्तियाँ तथा कलश-मण्डित शिखर है। आधार-भाग के केंद्रवर्ती कोष्ठ में एक यक्षी प्रतिष्ठित है तथा दोनों किनारों पर दानदाताओं की आकृतियाँ अंकित हैं। आधार पर नव-ग्रह भी अंकित हैं। प्राकार में दो द्वार हैं। गुंबद-भाग के मध्य-वर्ती कोष्ठ में सरस्वती की प्रतिमा प्रतिष्ठित है जिसके पार्श्व में दोनों ओर एक-एक गज अंकित है। इस प्रकार के छोटे-छोटे मंदिर घर के अंदर परिवार के कुल-देवों की उपासना के लिए सामान्य रूप से पाये जाते रहे हैं। इस प्रतिमा का काल लगभग सत्रहवीं शताब्दी है (चित्र ३५४ ख)।

मोतीचंद्र
सदाशिव गोरक्षकर

राजस्थान के संग्रहालय

जैन ट्रस्ट, सिरोही

राजस्थान में जैन कांस्य-प्रतिमाओं का सबसे प्रारंभिक काल का भण्डार सिरोही जिले के पिण्डवाड़ के समीप वसंतगढ़ में प्राप्त हुआ था। इस भण्डार की प्रतिमाएँ इस समय सिरोही के जैन ट्रस्ट के अधीन हैं। इस भण्डार से कायोत्सर्ग तीर्थंकरों की दो विशाल स्वतंत्र प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थीं जिनमें से एक प्रतिमा आदिनाथ की है। आदिनाथ की प्रतिमा में उनके केश-गुच्छों को कंधों पर लहराते हुए दर्शाया गया है। यह प्रतिमा लगभग १.०६ मीटर ऊँची है। दूसरी प्रतिमा के पादपीठ पर विक्रम संवत् ७४४ का अभिलेख अंकित है जिसके अनुसार इस प्रतिमा का निर्माण शिवनाग द्वारा सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् दर्शन को प्राप्त करने के लिए कराया गया था। इस भण्डार से कुछ अन्य कांस्य प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं जिनमें सरस्वती की एक प्रतिमा उल्लेखनीय है। सरस्वती अपने दायें हाथ में कमलनाल और बायें हाथ में पाण्डुलिपि धारण किये हुए हैं। उनका मुकुट विशद और अलंकृत है जिसके शीर्ष पर सूर्य-चक्र और दोनों किनारों पर मकर-मुख बिन्दुओं से युक्त परिधि के आकार का उनका भामण्डल उत्तर और पश्चिम भारत के भामण्डलों के अनुरूप है। इसकी कुछ कांस्य प्रतिमाएँ आठवीं-नौवीं शताब्दी की भी हैं।

(क) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : त्रि-तीर्थिका
(अंकाई-तंकाई)
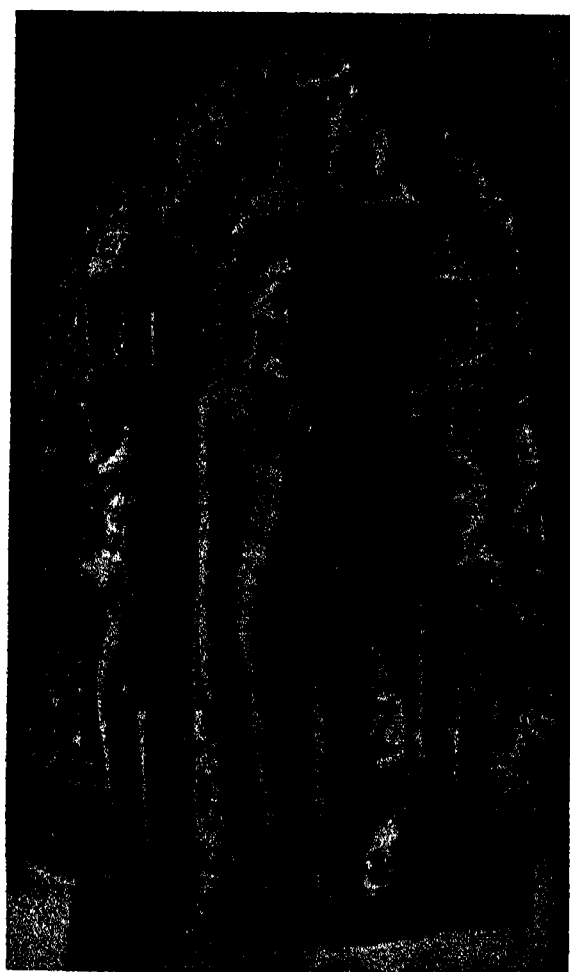
(ख) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : पंच-तीर्थिका
(अंकाई-तंकाई)

चित्र 347

प्रिंस ऑफ वेल्स सग्रहालय : यक्ष धरणेंद्र (कर्नाटक)

चित्र 348

(क) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : महावीर (कर्नाटक)

(ख) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : महावीर की एक-तीर्थिका (विरवा)

चित्र 349
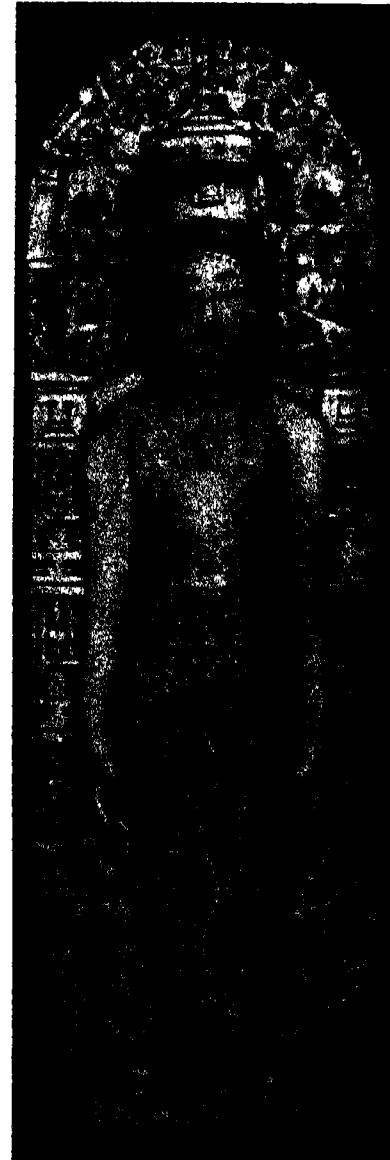
(क) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : चमरधारी (राजस्थान)

(ख) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : तीर्थंकर की कांस्य-मूर्ति (वाला)

चित्र 350

प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय : कांस्य-निर्मित ऋषभनाथ सहित चतुर्विंशति-पट्ट (चहारदी)

चित्र 351

प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय : गोम्मटेश्वर की कांस्य-मूर्ति (श्रवणबेलगोला)

चित्र 352

(क) प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय : यक्षी की कांस्य-मूर्ति (कर्नाटक)
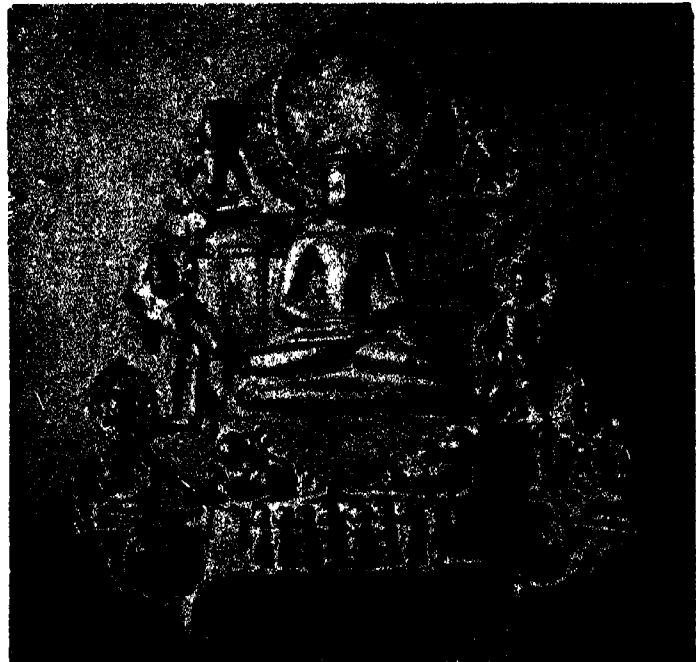
(ख) प्रिंस ऑफ़ वेल्स संग्रहालय : तीर्थंकर ऋषभनाथ की पीतल की मूर्ति (पश्चिम भारत)

चित्र 353

(क) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : पार्श्वनाथ की कांस्य निर्मित त्रि-तीर्थिका (कदाचित् वसंतगढ़)
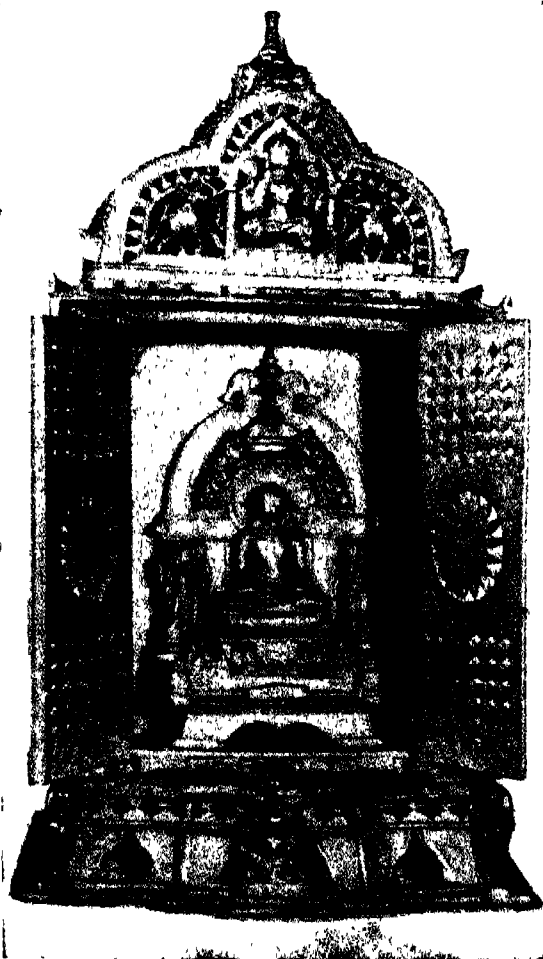
(ख) प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय : पीतल से निर्मित चैत्य-गृह (गुजरात)

चित्र 354
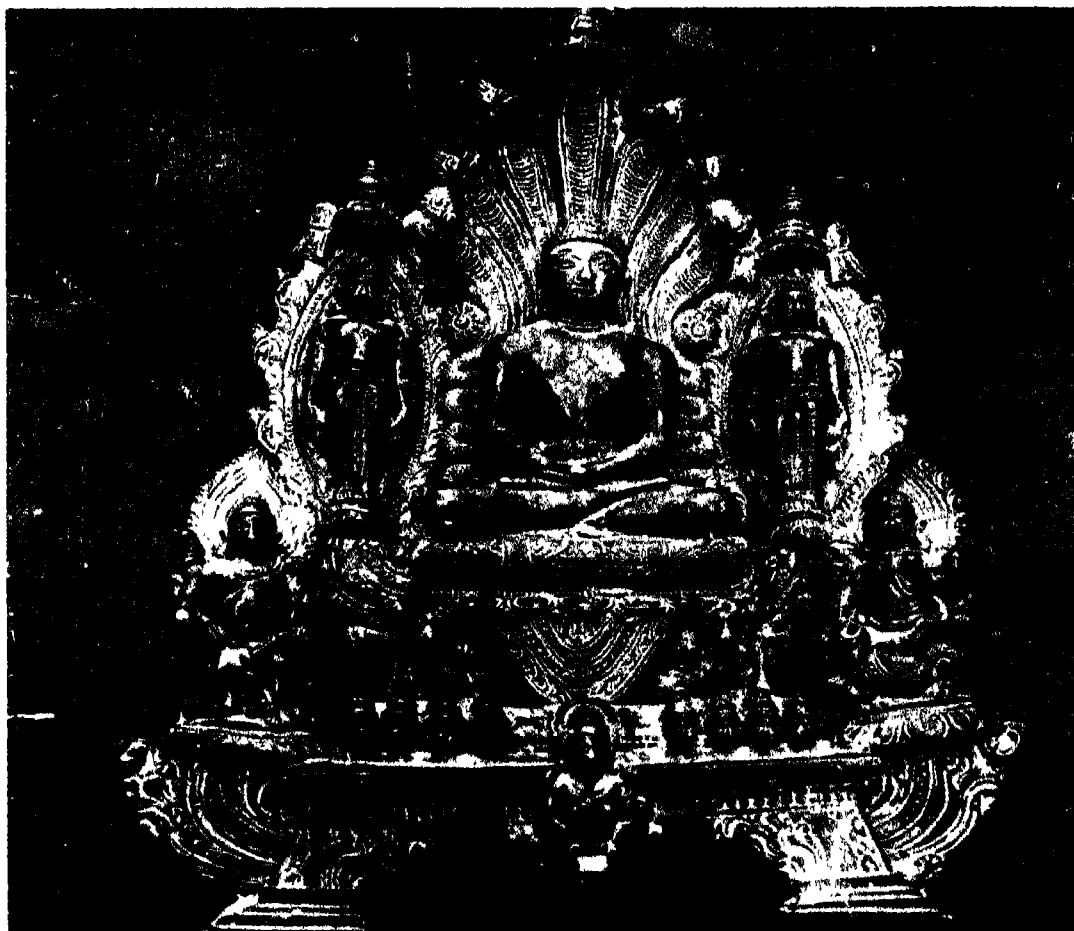
बीकानेर संग्रहालय : तीर्थंकर पार्श्वनाथ की कांस्य-मूर्ति (अमरसर)

चित्र 355
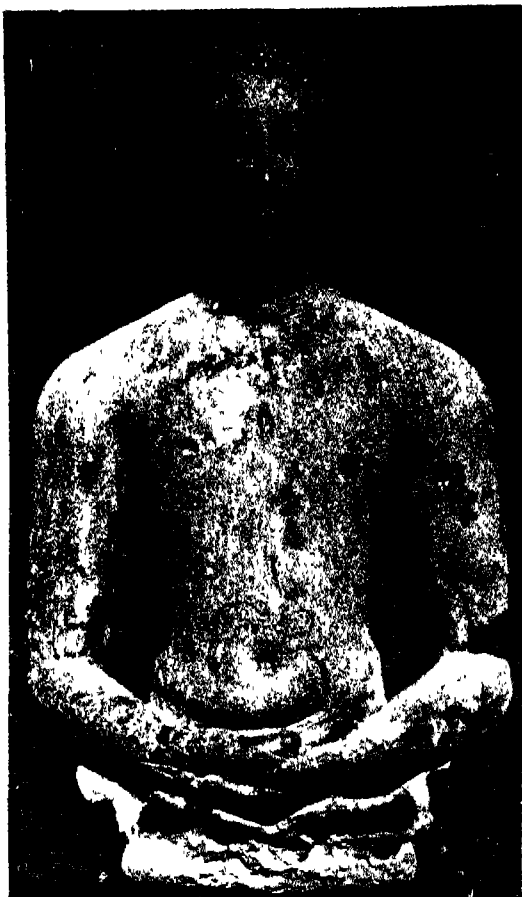
(क) आहाड संग्रहालय : तीर्थंकर की कांस्य-मूर्ति का धड (आहाड)

(ख) उदयपुर संग्रहालय : कुबेर (बांमी)

चित्र 356

(ख) भरतपुर संग्रहालय : सर्वतोभद्र

(क) जोधपुर संग्रहालय : जीवंतस्वामी

चित्र 357

(क) भरतपुर संग्रहालय : तीर्थंकर नेमिनाथ (राजस्थान)

(ख) जयपुर संग्रहालय : तीर्थंकर मुनिसुव्रत (नरहद)

चित्र 358

बीकानेर संग्रहालय

बीकानेर संग्रहालय में एक दर्जन जैन कांस्य-प्रतिमाएँ संरक्षित हैं जो उसे अमरसर से प्राप्त हुई हैं। इन प्रतिमाओं में चमरधारी की एक प्रतिमा कलात्मक दृष्टि से अत्यंत आकर्षक है। दूसरी उल्लेखनीय प्रतिमा पद्मासन पार्श्वनाथ की है जिसे यहाँ (चित्र ३५५) पर प्रकाशित किया जा रहा है। संग्रहालय में बीकानेर जिले के पल्लू नामक स्थान से प्राप्त संगमरमर से निर्मित सरस्वती की दो प्रसिद्ध प्रतिमाओं में से एक प्रतिमा भी संरक्षित है जो चाहमान-कला की एक उत्कृष्ट कलाकृति है (द्वितीय भाग में चित्र १५४ और इस भाग में चित्र ३३७)।

आहाड़ संग्रहालय, उदयपुर

आहाड़ (उदयपुर के निकट आघाटपुर) प्रारंभिक मध्यकाल में जैन कला का केंद्र रहा प्रतीत होता है। आज से लगभग तीस साल पूर्व यहाँ पर खुदाई में एक प्रारंभिक मध्यकालीन जैन प्रतिमा प्राप्त हुई थी जो इस समय आहाड़ के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह प्रतिमा पद्मासन तीर्थंकर की है जो आकार में मानव की ऊँचाई से कहीं अधिक है (चित्र ३५६ क)।

प्रताप संग्रहालय, उदयपुर

प्रताप संग्रहालय में संरक्षित पाँचवीं-छठी शताब्दी में निर्मित अंबिका यक्षी की एक शीर्ष-विहीन प्रतिमा उल्लेखनीय है। यह स्थानीय हरे-नीले पारेवा पत्थर में उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा उदयपुर जिले के जगत नामक स्थान से प्राप्त हुई है। अंबिका अपने दायें हाथ में आम्र-गुच्छ धारण किये है और बायें हाथ से अपनी गोद में बैठे शिशु को। इस प्रतिमा में कोई भी जैन प्रतीक अंकित नहीं है। इस संग्रहालय में जैन कुबेर की एक दुर्लभ प्रतिमा भी है (चित्र ३५६ ख) और यह भी हरे-नीले पारेवा पत्थर से निर्मित है जिसका रचना-काल आठवीं-नौवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। यह प्रतिमा चित्तौड़ जिले के बाँसी नामक स्थान से प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा में कुबेर को बैठी हुई मुद्रा में दायें हाथ में बीजपूरक तथा बायें हाथ में नकुलक (थैली) लिये हुए दिखाया गया है। हाथी को उसके नीचे अंकित किया गया है। कुबेर के घुँघराले बालों के ऊपर आकर्षक मुकुट है जिसपर तीर्थंकर की लघु आकृति तथा वैसी ही एक अन्य आकृति जड़ी हुई है।

जोधपुर संग्रहालय

जोधपुर संग्रहालय में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित जीवंतस्वामी की एक अत्यंत उत्कृष्ट प्रतिमा (चित्र ३५७ क) प्रदर्शित है। यह कृति नागपुर जिले के खिम्वसर नामक स्थान से प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा अत्यंत कलात्मक और भली-भाँति सुरक्षित है। इस संग्रहालय में बारहवीं शताब्दी की एक जैन महिषमर्दिनी-प्रतिमा भी संरक्षित है। श्वेत संगमरमर से निर्मित इस देवी-प्रतिमा को इसके पादपीठ पर अंकित विक्रम संवत् १२३७ के अभिलेख में सच्चिका कहा गया है। अभिलेख

में यह भी उल्लिखित है कि यह प्रतिमा जैन साध्वियों की प्रमुख साध्वी द्वारा प्रतिष्ठित की गयी थी। यहाँ यह उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा कि उपकेश-गच्छ पट्टावली के अनुसार जैन आचार्य रत्न-प्रभ सूरी ने महिषमर्दिनी को सच्चिका के नाम से जैन देवशास्त्र में प्रतिष्ठापित किया था। यह देवी ओसिया के समकालीन जैन मंदिर में प्रतिष्ठित सचिया-माता से पृथक् कोई अन्य देवी नहीं है जिसकी उपासना आज भी की जाती है। (द्वितीय भाग में पृष्ठ २५५ देखिए—संपादक)।

भरतपुर संग्रहालय

भरतपुर संग्रहालय में आदिनाथ की एक सर्वतोभद्र प्रतिमा संरक्षित है जो मूर्तिपरक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कायोत्सर्ग तीर्थंकर (चित्र ३५७ ख) की यह प्रतिमा चारों दिशाओं से समवसरण की जैन परंपरा के अनुरूप दिखाई देती है। तीर्थंकर के केश छल्लों के रूप में प्रसाधित हैं। इस संग्रहालय में नेमिनाथ की भी एक प्रतिमा है जिसके पादपीठ पर शंख का चिह्न अंकित है (चित्र ३५८ क)।

डूंगरपुर आर्ट गैलरी

इस संग्रहालय में प्रदर्शित प्रतिमाओं में आदिनाथ की पद्मासन प्रतिमा उल्लेखनीय है। स्थानीय पारेवा पत्थर से निर्मित यह प्रतिमा प्रारंभिक मध्यकाल (सातवीं-आठवीं शताब्दी) की कलाकृति है।

अजमेर संग्रहालय

आदिनाथ की एक विशाल प्रतिमा का आवक्ष भाग इस संग्रहालय की एक उल्लेखनीय कृति है जो छठी-सातवीं शताब्दी की है। यह प्रतिमा शेरगढ़ (धौलपुर, भरतपुर जिला) से प्राप्त हुई है। तीर्थंकर के माथे पर फिरे हुए केश-गुच्छ, सिर पर बालों के छल्ले और ऊपर जटाएँ, सिर के पीछे अण्डाकार भामण्डल आदि प्रतिमा के कलात्मक अंकन की कला-चातुरी का प्रदर्शन करते हैं। संग्रहालय में एक शीर्ष-विहीन पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी है जो प्रारंभिक मध्यकाल की कृति प्रतीत होती है।

केंद्रीय संग्रहालय, जयपुर

जयपुर के केन्द्रीय संग्रहालय में प्रारंभिक मध्यकालीन, काले पत्थर की कायोत्सर्ग तीर्थंकर की आकर्षक प्रतिमा अपना प्रमुख स्थान रखती है। यह प्रतिमा (चित्र ३५८ ख) पिलानी के निकट नरहद से प्राप्त हुई है। नरहद से प्राप्त अनेक प्रतिमाएँ नई दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

रत्न चन्द्र अग्रवाल

आंध्र-प्रदेश के संग्रहालय

राजकीय संग्रहालय, हैदराबाद

हैदराबाद के राजकीय संग्रहालय में ओंगोले जिले के बपतला स्थान से उपलब्ध ग्यारह कांस्य-प्रतिमाएँ संरक्षित हैं। ये प्रतिमाएँ नौवीं शताब्दी की हैं। इनमें उल्लेखनीय प्रतिमाएँ निम्नांकित हैं :

एक प्रतिमा में तीर्थंकर वर्धमान को ध्यान-मुद्रा में यक्ष और यक्षी के मध्य बैठे दर्शाया गया है। इनके चमरधारी ऊपर अंकित हैं। तीर्थंकर के भामण्डल के ऊपर तिहरा छत्र है। प्रतिमा पर नौवीं शताब्दी का कन्नड़ लिपि में एक अभिलेख अंकित है। एक दूसरी प्रतिमा में एक अलंकृत सिंहासन पर तीर्थंकर नेमिनाथ को बैठे हुए दिखाया गया है जिनके शीर्ष के पीछे भामण्डल अंकित है। आम्र-वृक्ष के पत्ते अति विशद रूप से उत्कीर्ण हैं जिसके नीचे उनकी यक्षी अंबिका को शिशु सहित दर्शाया गया है। भामण्डल के शीर्ष पर तिहरा छत्र अंकित है। इस प्रतिमा-समूह में नेमिनाथ की एक अन्य दूसरी प्रतिमा भी है। अन्य प्रतिमाओं में वर्धमान की एक और अन्य प्रतिमा, पार्श्वनाथ और एक विद्यादेवी की प्रतिमा है। विद्यादेवी की प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य प्रतिमाओं में कलात्मक दृष्टि से कुछ विशेष उल्लेखनीय नहीं है। विद्यादेवी एक गलहार तथा एक मोटा-सा यज्ञोपवीत पहने है। उसकी बायीं भुजा में वीणा तथा दायीं भुजा में मिजराब है। उसके केश एक पंखे के आकार में व्यवस्थित हैं। अंबिका यक्षी की प्रतिमा का भी विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है जो अत्यंत यथार्थ रूप में उत्कीर्ण है। इसके त्रिपर्ण तोरण में नेमिनाथ अंकित हैं। आम्र-वृक्ष को अत्यंत कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण किया गया है। अंबिका अनेक आभूषण धारण किये हुए है जो विशेष रूप से राष्ट्रकूट शैली के हैं।

इस संग्रहालय में और भी अनेक जैन प्रतिमाएँ हैं जो अनेक महत्त्वपूर्ण जैन केंद्रों से प्राप्त की गयी हैं। जिनमें से हम यहाँ पर पाटनचेरुवु से प्राप्त बाहुबली (चित्र ३५९ क) की आकर्षक प्रतिमा का उल्लेख कर सकते हैं। यह प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में है जिसके हाथ और पैरों के चारों ओर लताएँ लिपटी हुई हैं। लताओं के छोर दोनों पार्श्वों में ऊपर की ओर निकले हुए और परिवृत हैं। बाहुबली के पार्श्व में यक्षियाँ (अथवा बाहुबली की बहनें ?) सजीव और आकर्षक हैं। यक्षियाँ अपने एक हाथ से लता के तने को पकड़े हुए हैं तथा दूसरा हाथ कट्यवलंबित मुद्रा में है। स्वस्तिक चिह्न हीरे के रूप में आलंकारिक ढंग से उत्कीर्ण है और भामण्डल पद्म के आकार में। इस प्रतिमा की तिथि लगभग बारहवीं शताब्दी है। दूसरी एक उल्लेखनीय प्रतिमा महावीर (चित्र ३५९ ख) की है जिसके चारों ओर अन्य तेईस तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं। इस प्रतिमा पर कन्नड़ लिपि में लिखे अभिलेख के अनुसार यह प्रतिमा, जिसका शीर्ष खण्डित हो चुका है, भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अंबिका भद्रासन में बैठी हुई है तथा एक लंबी जंजीर, गलहार और वलयों आदि को धारण किये तथा एक आम्र-गुच्छ को पकड़े हुए है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतिमा सरस्वती (चित्र ३६०) की है जिसका कमनीय रूपाकार तथा अतिभंगों की लचीली मुद्रा विशेष उल्लेखनीय है। वह सभी प्रकार के आभूषणों

से अलंकृत है। इस प्रतिमा के परिकर में अनेक छोटी-छोटी आकृतियाँ अंकित हैं। भामण्डल के ऊपरी भाग में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं जिन्हें पालिश किये बिना ही छोड़ दिया गया है जबकि सरस्वती की प्रतिमा पर भली-भाँति पालिश की गयी है। प्रतिमा पर देवनागरी लिपि में ११७८ (बारहवीं शताब्दी) का अभिलेख अंकित है। पाटनचेरुवु से एक शिखरयुक्त चौमुख प्रतिमा भी प्राप्त हुई है।

निजामाबाद जैन धर्म का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र रहा है जहाँ से पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई है जिसमें महापुरुषों के समस्त लक्षण हैं। इस स्थान से अन्य अनेक प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं।

गुलबर्गा जैन धर्म का एक अन्य उल्लेखनीय केंद्र रहा है जहाँ से इस संग्रहालय को पार्श्वनाथ की एक कायोत्सर्ग प्रतिमा प्राप्त हुई है। पार्श्वनाथ के शीर्ष पर पाँच-फणी नाग-छत्र तथा उसके ऊपर तिहरा छत्र है और तीर्थंकर के पार्श्व में चमरधारियों की प्रतिमाएँ हैं। इस प्रतिमा पर अंकित अभिलेख में इसे पार्श्वनाथ (पार्श्व देव) की प्रतिमा बताया गया है। लिपिशास्त्र के आधार पर इस प्रतिमा का काल बारहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है।

धर्मवरम्, जहाँ पर एक जैन मंदिर रहा था, से अनेक जैन प्रतिमाएँ पायी गयी हैं। यहाँ से प्राप्त एक चौमुख प्रतिमा इस संग्रहालय में संरक्षित है। इस चौमुख प्रतिमा के चारों मुखों में से प्रत्येक मुख तीन फलकों में विभाजित है और प्रत्येक फलक में दो-दो तीर्थंकर अंकित हैं। इस प्रकार तीर्थंकरों की कुल संख्या चौबीस है अतः यह एक प्रकार से चतुर्विंशति-पट्ट (चित्र ३६१ क) है। ये प्रतिमाएँ कम उभारदार उद्भृत हैं। इस प्रतिमा पर अभिलेख भी उत्कीर्ण है जो अत्यंत धूमिल पड़ चुका है।

कुछ आकर्षक जैन प्रतिमाएँ पुरातत्त्व एवं संग्रहालयों के निदेशक के कार्यालय परिसर में भी प्रदर्शित हैं जिनमें पार्श्वनाथ की प्रतिमा उल्लेखनीय है। यह प्रतिमा ९२ सें० मी० ऊँची है जिसमें तीर्थंकर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं और उनके पीछे कुण्डलित नाग है जो अपने सप्त फणी नाग-छत्र से उनके ऊपर छाया कर रहा है। नाग-छत्र के ऊपर एक तिहरा छत्र है। इस प्रतिमा के चौखटे पर तेईस तीर्थंकर योगमुद्रा में अंकित हैं। पार्श्वनाथ के पैरों के पास पार्श्व में एक ओर पुरुष और दूसरी ओर महिला चमरधारी सेवक हैं; तथा दो अन्य चमरधारी पुरुष सेवक तीर्थंकर के कंधों के समीप उत्कीर्ण मकरों पर खड़े हुए हैं।

लगभग ७० सें० मी०ऊँची चंद्रप्रभ की प्रतिमा में तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है जिनके हाथ योग-मुद्रा में हैं। उनके बाल छोटे-छोटे छल्लों में प्रसाधित हैं तथा कर्णाग्र लंबे हैं। पादपीठ के मध्य में चंद्रमा अंकित है। प्रतिमा पर तेलुगु-कन्नड़ लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख के आधार पर इस प्रतिमा के लिए ग्यारहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है।

खजाना बिल्डिंग म्यूजियम, गोलकुण्डा

इस संग्रहालय की जैन प्रतिमाओं में एक अपूर्ण शिला-फलक है जिसके आधार-भाग में दोनों ओर दो चमरधारी सेवकों को खड़े हुए (चित्र ३६१ ख) दिखाया गया है। कुछ अज्ञात कारणों से इस फलक के मध्य में मुख्य प्रतिमा को उत्कीर्ण नहीं किया गया है। मकर-मुख से निस्सृत त्रिपर्ण-लता की डिजाइन सहित शृंग-शीर्ष से निकली लंबी नालों के शीर्षों पर तीर्थंकरों को पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। मकर-तोरण के मध्य में पद्मासन-मुद्रा में तीन तीर्थंकर बैठे हैं। एक प्रतिमा में आदिनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है। यह प्रतिमा १.५३ मीटर ऊँची है। उनके पार्श्व में दो हाथी हैं जो तीर्थंकर के ऊपर छत्र ताने हुए हैं। उनके सिर के पीछे भामण्डल है, कर्णाग्र लंबे हैं और वे मकर-कुण्डलों से अलंकृत हैं। बाल छोटे-छोटे छल्लों में प्रसाधित हैं। वक्ष पर श्रीवत्स-चिह्न है। निचले भाग में दोनों ओर दो सेवक तथा घुटनों के बल बैठे दो उपासक हैं। यह प्रतिमा बारहवीं शताब्दी की है।

काले बेसाल्ट पत्थर की एक प्रतिमा में पार्श्वनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए दिखाया गया है जिनके ऊपर सप्तफणी नाग-छत्र छाया कर रहा है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर मकरों के पीछे दो चमरधारी सेवक खड़े हैं। डोलराइट पाषाण में उत्कीर्ण १.५ मीटर ऊँची पार्श्वनाथ की एक अन्य कायोत्सर्ग-प्रतिमा भी है। इसमें भी तीर्थंकर के शीर्ष पर सप्तफणी नाग-छत्र है। तीर्थंकर के पार्श्व में नीचे एक ओर यक्ष तथा दूसरी ओर यक्षी बैठी है। काले बेसाल्ट पत्थर से निर्मित १.६३ मीटर ऊँची ऐसी ही पार्श्वनाथ की एक अन्य प्रतिमा है जो बारहवीं शताब्दी की है।

गुलाबी बलुए पत्थर में उत्कीर्ण महावीर की एक विशाल प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। महावीर पद्मासन में बैठे हैं और उनके हाथ ध्यान-मुद्रा में हैं। उनके सिर के पीछे सादा भामण्डल है। प्रतिमा की ऊँचाई १.७३ मीटर है। यह प्रतिमा संभवतः दसवीं शताब्दी की है।

७५ सें० मी० ऊँची सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा में उन्हें कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है। उनके पीछे कुण्डलीबद्ध सर्प उद्भृत रूप से उत्कीर्ण किया गया है। अन्य तीर्थंकरों को उनके पार्श्व में लंबरूप पंक्तियों में दर्शाया गया है। नीचे के भाग में यक्ष-यक्षी हैं। यह प्रतिमा बारहवीं शताब्दी की है। काले बेसाल्ट पत्थर में उत्कीर्ण बाहुबली की प्रतिमा में उन्हें कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है जिनके पैरों के चारों ओर लताएँ लिपटी हुई हैं। यह प्रतिमा १.७३ मीटर ऊँची है।

काले बेसाल्ट पत्थर में भली-भाँति पालिश की हुई मल्लिनाथ की प्रतिमा में उन्हें कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित किया गया है। उनके पार्श्व में दोनों ओर दो सेवक खड़े हैं। उनके वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न सुस्पष्ट है। बाल छल्लों में व्यवस्थित हैं और उनके लंबे कर्णाग्रों में शंख-कुण्डल हैं। प्रतिमा की ऊँचाई १.४३ मीटर है और इसका समय बारहवीं शताब्दी है।

हैदराबाद से लगभग २० किलोमीटर दूर स्थित चिलुकुरु नामक एक प्रसिद्ध जैन बसदि से लायी गयी पार्श्वनाथ की एक विशालकाय प्रतिमा भी इस संग्रहालय की उल्लेखनीय जैन प्रतिमा है। यह प्रतिमा ३.२५ मीटर ऊँची है जिसमें तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं। यह प्रतिमा बलुए पत्थर से निर्मित है। मुखाकृति का प्रतिरूपण अत्यंत आकर्षक है। उनके बाल घुंघराले तथा कर्णाग्र लंबे हैं। सिर के उपर नाग-फण छत्र है। प्रतिमा का बायाँ हाथ नष्ट हो चुका है। एक अन्य प्रतिमा में महावीर को अत्यंत आकर्षक रूप से उत्कीर्ण दिखाया गया है। तीर्थंकर पद्मासन-मुद्रा में बैठे हैं जिनके हाथ ध्यान-मुद्रा में हैं। काले बेसाल्ट पत्थर में उत्कीर्ण यह प्रतिमा भली-भाँति पालिश की हुई है। इसकी ऊँचाई लगभग एक मीटर है। ७५ सें० मी० ऊँचाई के दो चमरधारी तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर स्थापित किये जाने के लिए पृथक् रूप से उत्कीर्ण किये गये हैं। चमरधारी दायें हाथों में फल और बाँयें हाथों में चमर लिये हुए हैं। उनके सिर पर सुंदर मुकुट हैं' जिनमें हीरे-मोती और फुंदने अलंकृत दिखाये गये हैं। वे चक्र-कुण्डल भी पहने हुए हैं।

संग्रहालय में अभिलेखांकित ग्रेनाइट पत्थर के कुछ फलक भी हैं जिनके शीर्ष-भाग पर महावीर एवं पार्श्वनाथ तथा अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। अभिलेखों में भूमि एवं उद्यान के दान में दिये जाने का उल्लेख है।

मोहम्मद अब्दुल वहीद खान

सालारजंग संग्रहालय, हैदराबाद

सालारजंग संग्रहालय में जैन प्रतिमाएँ संख्या में अल्प ही हैं लेकिन वे उल्लेखनीय हैं। इनमें से एक प्रतिमा पाँच तीर्थंकरों की है जो काले पत्थर में उत्कीर्ण है। मूल नायक कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं और उनकी प्रतिमा पर्याप्त ऊँची है (चित्र ३६२ क)। मूल नायक की दोनों ओर पाद-पीठ के ऊपर एक-एक तथा ऊपर कंधों के समीप एक-एक तीर्थंकर बैठे हुए हैं। ये समस्त प्रतिमाएं एक सादे आयताकार स्तंभ पर उद्भृत रूप से उत्कीर्ण हैं। मूल नायक की प्रतिमा स्तंभ के मध्य भाग में उद्भृत रूप से काटकर उत्कीर्ण है। मूल नायक के सिर के पीछे भामण्डल है। उनके सिर के समीप दोनों ओर चमरधारी हैं। उनके शीर्ष के ऊपर छत्र है जिसकी सम्मुख ओर की परिधि फुंदनों से अलंकृत है। पैरों के समीप बैठे दोनों तीर्थंकरों के ऊपर भी छत्र अंकित हैं। यह प्रतिमा लगभग बारहवीं शताब्दी की है। इसके पादपीठ पर कन्नड़ लिपि में एक अभिलेख है। बताया जाता है, यह प्रतिमा कर्नाटक की है।

पाषाण में विशदता के साथ उत्कीर्ण दूसरी प्रतिमा कर्नाटक के कुम्बल नामक स्थान से उपलब्ध लगभग बारहवीं शताब्दी की है (चित्र ३६२ ख)। प्रतिमा के सम्मुख-भाग तथा ऊपरी सिरे पर लहरदार लताओं द्वारा बनाये गये परिवृत्तों के बीच तेईस तीर्थंकर बैठे हुए दर्शाये गये हैं। मध्य-

वर्ती भाग में पार्श्वनाथ की प्रतिमा है जिनके पीछे एक कुण्डलित नाग है जिसके सात फणों का छत्र उनके सिर पर छाया कर रहा है। पादपीठ के सम्मुख-भाग पर कन्नड़ लिपि की विशेषताओं वाली लिपि में अभिलेख अंकित है। पादपीठ के ऊपर तीर्थंकर के पार्श्व में दायीं ओर धरणेंद्र यक्ष तथा बायीं ओर पद्मावती यक्षी की प्रतिमाएँ हैं।

एक धातु-निर्मित प्रतिमा में तीर्थंकर पार्श्वनाथ को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है। तीर्थंकर के पीछे एक नाग है जो अपने नौ फणों से उनके शीर्ष के ऊपर छत्र बनाये हुए है। यह प्रतिमा पूर्वोक्त दोनों पाषाण निर्मित प्रतिमाओं की अपेक्षा कुछ काल पूर्व की प्रतीत होती है। संभवतः यह प्रतिमा महाराष्ट्र से उपलब्ध हुई है। तीर्थंकर के पुष्ट और विस्तृत कंधे, मोटे होंठ, चौड़ी और लंबी नाक के आधार पर इस प्रतिमा को आठवीं शताब्दी के लगभग अथवा उसके कुछ बाद का माना जा सकता है।

इस संग्रहालय में एक पंच-तीर्थिका प्रतिमा (चित्र ३६३ क) भी है जिसके पृष्ठ-भाग पर संवत् १४५३ (सन् १३९६) का अभिलेख अंकित है। इस अभिलेख के अनुसार यह प्रतिमा प्राग्वाट जाति के कुछ संघपतियों ने प्रस्थापित करायी थी। इसके मूल नायक महावीर बताये जाते हैं। महावीर के पार्श्व में दो कायोत्सर्ग तीर्थंकर हैं और उनके दोनों किनारों पर चमरधारी सेवक हैं। महावीर की भामण्डल को दोनों ओर दो पद्मासन तीर्थंकर हैं। महावीर के सिंहासन के दोनों किनारों पर दायीं ओर यक्ष और बायीं ओर यक्षी है। पादपीठ के, जिसपर सिंहासन आधारित है, केंद्रवर्ती सबसे निचले छोर पर एक खण्डित आकृति है।

कांस्य-निर्मित एक चतुर्विंशति-पट्ट के मध्य भाग में सिंहासन पर एक केंद्रवर्ती बड़ी प्रतिमा है जो पद्मासन-मुद्रा में है। पादपीठ के चौड़े सम्मुख-भाग के केंद्र में एक धर्मचक्र है जिसके पार्श्व में दो हिरण हैं और इसके नीचे शांति-देवी की आकृति है। सिंहासन के दोनों ओर यक्ष एवं यक्षी हैं जिनकी बगल में किनारे की ओर गायन-वादन एवं नृत्य में रत गंधर्व हैं। शीर्ष पर मंगल-कलश है। पृष्ठ-भाग पर अंकित अभिलेख के अनुसार यह प्रतिमा संवत् १५३० (सन् १४७३) में प्रतिष्ठित की गयी थी।

एक और चतुर्विंशति-पट्ट है जो पूर्वोक्त पट्ट से पर्याप्त उत्तरकालीन है। इस पट्ट के मूल-नायक पार्श्वनाथ हैं जो सप्त-फणी नाग-छत्र के नीचे पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए हैं। शेष तीर्थंकर एक-दूसरे के ऊपर क्षैतिजिक फलकों में तोरण-युक्त देवकोष्ठों में प्रतिष्ठित हैं। इस प्रतिमा की अर्धवृत्ताकार तोरण-युक्त बाह्य-संरचना दक्षिण शैली के विमान का संकेत देती है। यह कांस्य-प्रतिमा लगभग अठारहवीं शताब्दी की है।

डी० एन० वर्मा

मध्य प्रदेश के संग्रहालय

राजकीय संग्रहालय, धुबेला

जिला छतरपुर के नौगाँव के समीप धुबेला पैलेस में स्थित राजकीय संग्रहालय में तीर्थंकरों तथा उनके शासन देवताओं की पचास से अधिक प्रतिमाएँ हैं जो चंदेल और कलचुरि काल की हैं। कलचुरिकालीन प्रतिमाएं मूलतः भूतपूर्व बघेलखण्ड रियासत के रीवा राज्य के विभिन्न स्थानों से संगृहीत की गयी हैं। चंदेलकालीन अधिकांश प्रतिमाएँ इस संग्रहालय से लगभग एक किलोमीटर की दूरी पर स्थित मऊगाँव तथा समीपवर्ती जगतसागर तालाब से एकत्रित की गयी हैं। अन्य प्रतिमाएँ टीकमगढ़, मोहनगढ़, नौगाँव, गरोली तथा जसो से प्राप्त की गयी हैं।

मऊ तथा नौगाँव से प्राप्त प्रतिमाएँ

मऊ और जगतसागर तालाब से प्राप्त प्रतिमाएँ ग्रेनाइट पत्थर की हैं। कुछ प्रतिमाओं के पादपीठ पर अभिलेख अंकित हैं जो उनकी रचना-तिथि तथा दान-दाताओं के विषय में जानकारी प्रदान करते हैं। ये अभिलेख विक्रम संवत् ११९६ (सन् ११३९) तथा संवत् १२२० (सन् ११६३) के मध्य के हैं।

तीर्थंकर-प्रतिमाएँ : इनमें से दो ऋषभनाथ का अंकन है जिनमें वे क्रमशः पद्मासन (संख्या ११; माप ५१×४७ सें० मी०) (चित्र ३६५ क) तथा कायोत्सर्ग-(२६; ऊँचाई १.१२ सें० मी०) मुद्राओं में हैं। पद्मासन तीर्थंकर के पादपीठ का अभिलेख संवत् १२०३ (सन् ११४६) का है जिसके अनुसार आल्हण, जो संभवतः कोंचे गोत्र का था, तथा रूपा जो संभवतः उसकी पत्नी थी, द्वारा इस प्रतिमा की उपासना की गयी थी। शांतिनाथ की प्रतिमा (२४; ऊँचाई १.६० मी०) में तीर्थंकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है। उनके वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न अंकित है (चित्र ३६५ ख)। प्रतिमा के दोनों हाथ खण्डित हो चुके हैं। यह प्रतिमा जगतसागर तालाब से प्राप्त हुई बतायी जाती है। इसके पादपीठ पर चार पंक्तियों का संवत् १२०३ (?) का अभिलेख है। अभिलेख की दो पंक्तियाँ छंदोबद्ध हैं जिसके नीचे गद्य में लिखी पंक्तियाँ हैं। इस अभिलेख के अनुसार शांतिनाथ की यह प्रतिमा गोलापूर्व कुल के देवस्वामी और उनके दो पुत्रों शुभचंद्र तथा उदयचंद्र ने स्थापित करायी थी। आगे बताया गया है कि इस प्रतिमा की दुम्बर परिवार के लक्ष्मीधर द्वारा नियमित रूप से उपासना की जाती रही। यह प्रतिमा मदनवर्मन् के राज्यकाल में स्थापित हुई थी जिसे निरापद् रूप से इसी नाम के चंदेल शासक के रूप में पहचाना जा सकता है। काले ग्रेनाइट पत्थर से निर्मित पद्मासन-मुद्रा में बैठे मुनिसुव्रत की प्रतिमा (४२; माप २८×५६ सें० मी०) का ऊपरी भाग खण्डित है। इसके पादपीठ पर संस्कृत में तीन पंक्तियों का अभिलेख अंकित है जिसके अनुसार यह प्रतिमा गोलापूर्व कुल के किसी सुल्हण ने संवत् ११११ (सन् १०६२) में प्रतिष्ठापित

(क) राज्य संग्रहालय, हैदराबाद : गोम्मटेश्वर (पाटनचेरुवु)
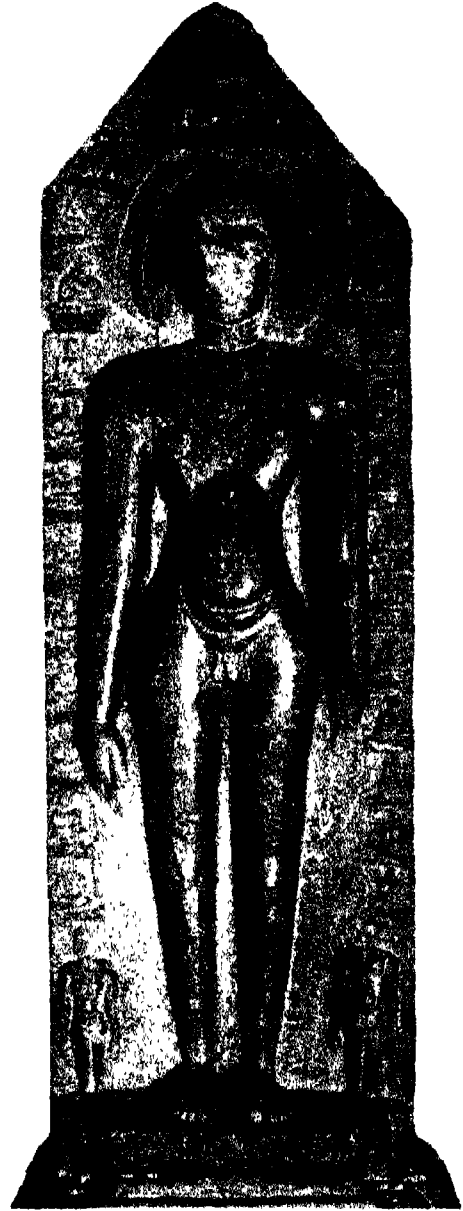
(ख) राज्य संग्रहालय, हैदराबाद : तीर्थंकर महावीर (पाटनचेरुवु)

चित्र 359

राज्य संग्रहालय, हैदराबाद : सरस्वती (पाटनचेरुवु)

चित्र 360
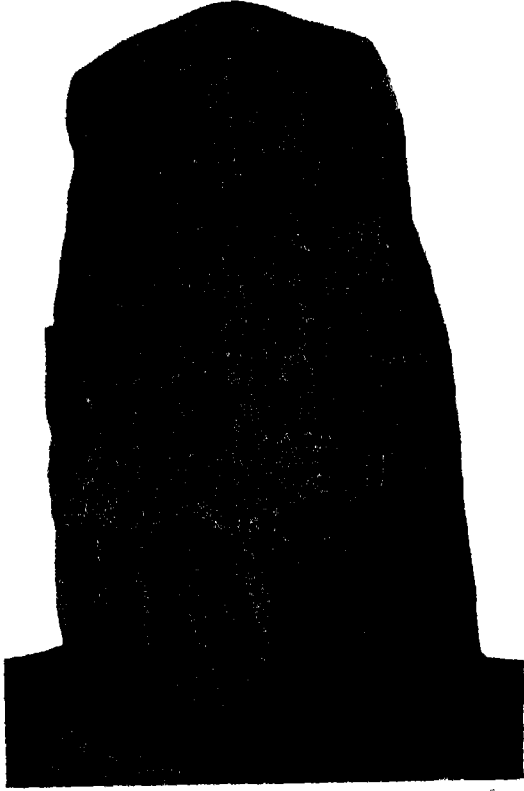
(क) राज्य संग्रहालय, हैदराबाद :
चतुर्विंशति-पट्ट (धर्मवरम्)
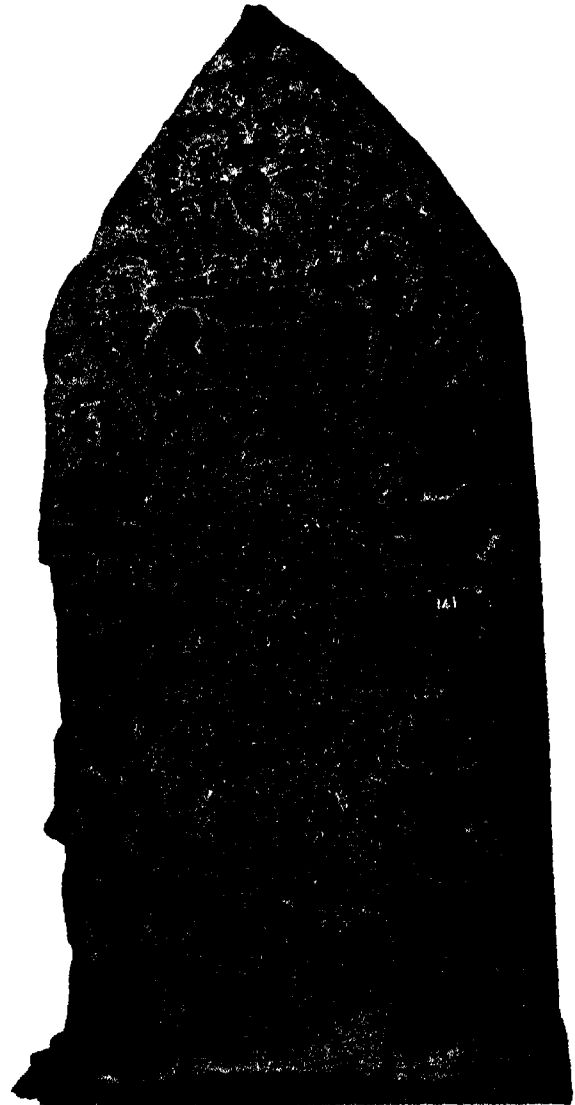
(ख) खज़ाना बिल्डिंग संग्रहालय :
तीर्थंकर की एक अपूर्ण मूर्ति का परिकर

चित्र 361
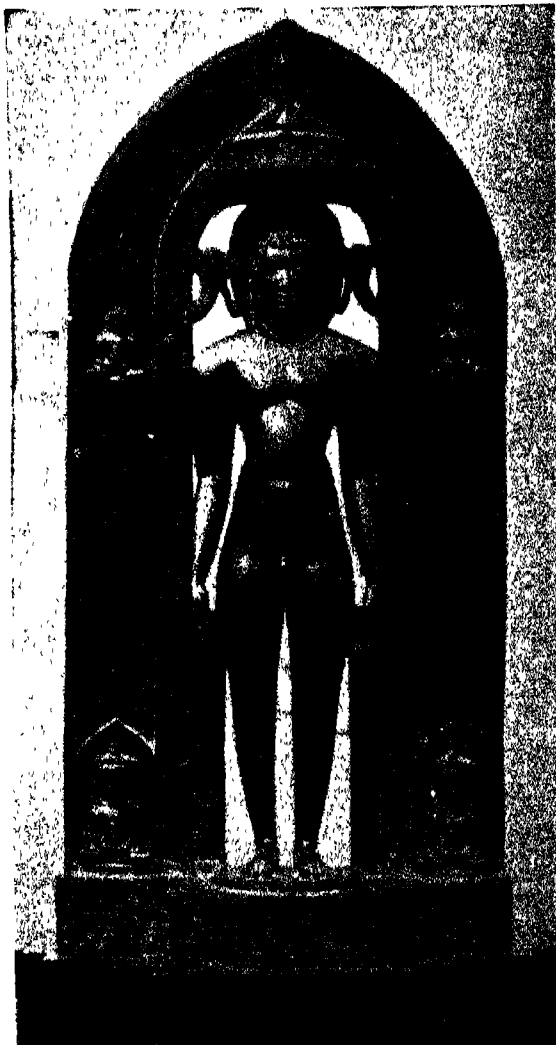
(क) सालारजंग संग्रहालय : पंच-तीर्थिका

(ख) सालारजंग संग्रहालय : तीर्थंकर पार्श्वनाथ (कुप्पाल)

चित्र 362
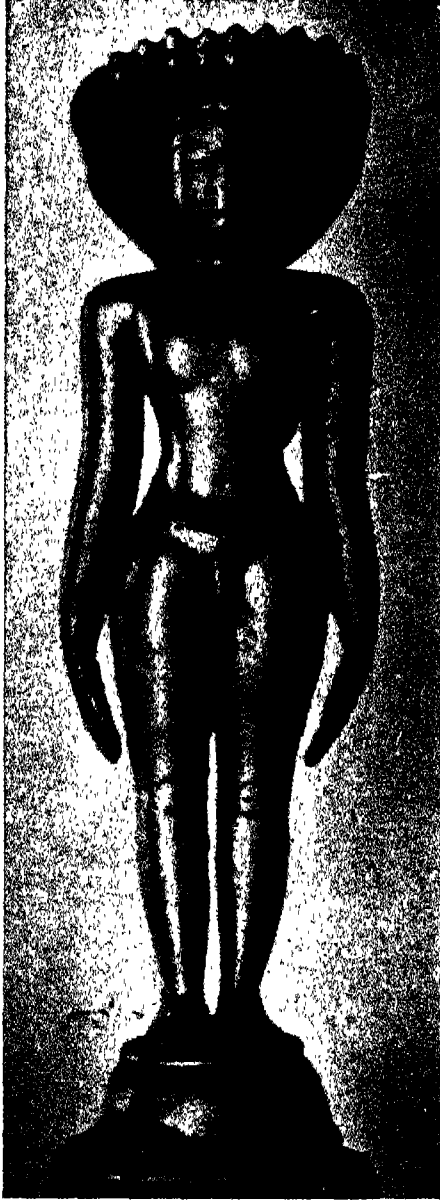
(क) सालारजंग संग्रहालय : तीर्थंकर पार्श्वनाथ (महाराष्ट्र)

(ख) सालारजंग संग्रहालय : कांस्य-निर्मित पंच-तीर्थिका

चित्र 363
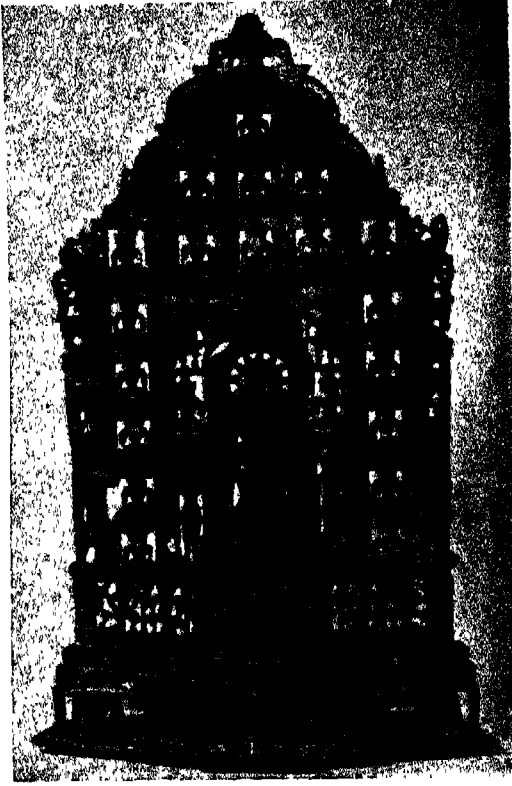
(क) सालारजंग संग्रहालय : कांस्य-निर्मित चतुर्विंशति-पट्ट
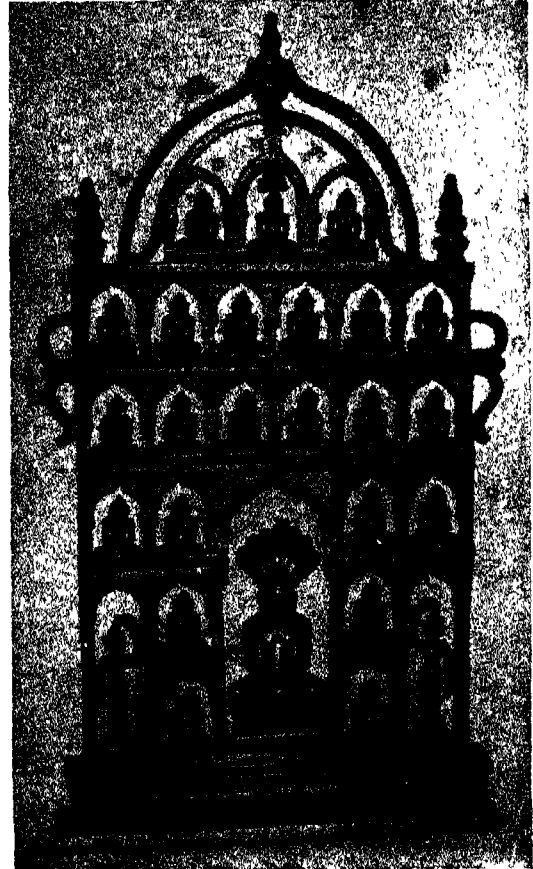
(ख) सालारजंग संग्रहालय : पार्श्वनाथ-सहित कांस्य-निर्मित चतुर्विंशति-पट्ट

चित्र 364

(क) धुबेला राज्य संग्रहालय :
ऋषभनाथ (मऊ)
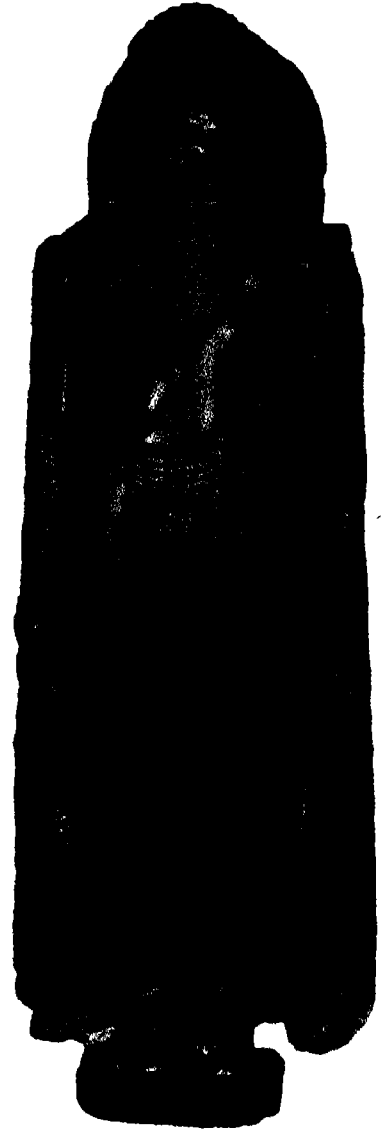
(ख) धुबेला राज्य संग्रहालय :
तीर्थंकर शांतिनाथ (मऊ)

चित्र 365
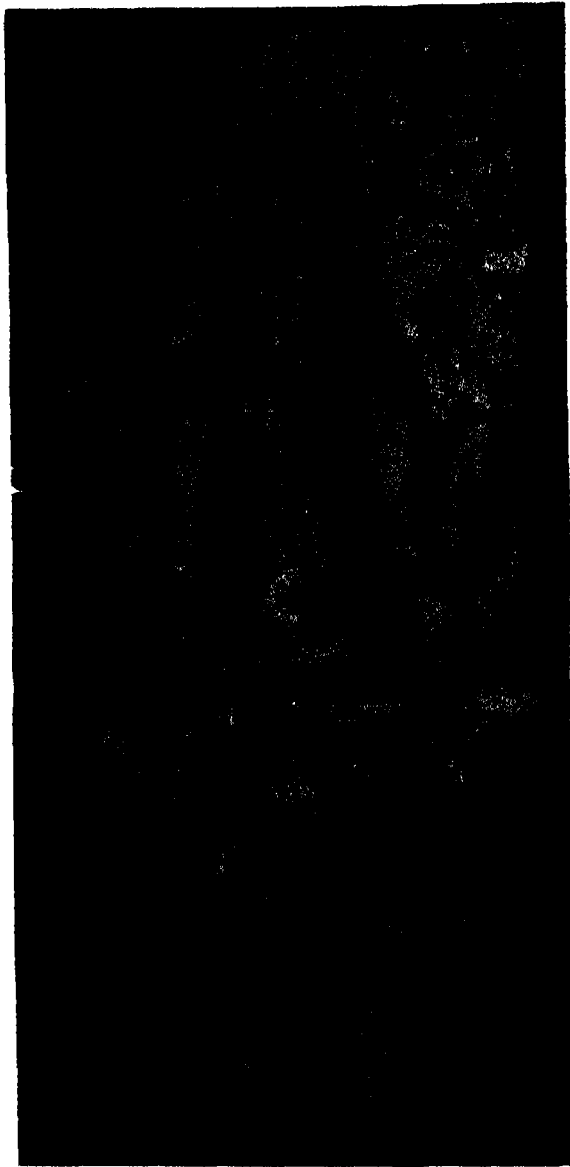
(क) धुबेला राज्य संग्रहालय :
यक्षी चक्रेश्वरी (खजुराहो ?)

(ख) धुबेला राज्य संग्रहालय :
मंदिर की अनुकृति (नौगाँव)

चित्र 366

करायी थी। भूरे ग्रेनाइट पत्थर से निर्मित (२६; माप १.१५×३६ सें० मी०) तीर्थंकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है। तीर्थंकर के वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न अंकित है। इसके पादपीठ पर लांछन (नीले?) पद्म का अंकन है जिससे प्रतीत होता है कि ये तीर्थंकर नमिनाथ हैं। नेमिनाथ की भी एक प्रतिमा (७) है जो शीर्षविहीन है तथा चार टुकड़ों में खण्डित है। इसके पादपीठ के अभिलेख के अनुसार यह प्रतिमा संवत् ११६६ (सन् ११४२) में गोलापूर्व कुल के मल्हण द्वारा प्रतिष्ठापित करायी गयी थी। नेमिनाथ की दो अन्य प्रतिमाएँ और भी हैं जो क्रमशः संवत् ११६६ तथा १२२० की हैं। एक शीर्षहीन पद्मासन प्रतिमा (८; माप ७७×६४ सें० मी०) एक तीर्थंकर की है जिसकी पहचान नहीं हो सकी और जिसके पादपीठ पर अंकित अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसकी प्रतिष्ठापना परवाड-कुल में जन्मे किसी व्यक्ति ने की थी। मऊ से प्राप्त अन्य प्रतिमाओं (६, १०, २५, ३० आदि) में तीर्थंकरों को पद्मासन तथा कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है जिन्हें लांछन के अभाव में पहचाना नहीं जा सका है। किसी विशाल प्रतिमा का एक खण्डित सिर (१४) भी इस संग्रहालय में उपलब्ध है जिसकी ऊँचाई ५३ सें० मी० है।

यक्षी-प्रतिमाएँ : इस संग्रहालय में चक्रेश्वरी यक्षी की तीन तथा अंबिका यक्षी की एक प्रतिमा है। चक्रेश्वरी की एक प्रतिमा (४६; ऊँचाई ६७ सें० मी०) मऊ में प्राप्त हुई बतायी जाती है। प्रतीत होता है कि यह प्रतिमा किसी प्रकार खजुराहो से आई होगी। आभूषणों से अत्यंत अलंकृत यह चर्तुभुजी यक्षी अपने वाहन गरुड पर ललितासन-मुद्रा में बैठी हुयी है। उसके ऊपरी हाथों में चक्र हैं और निचले दायें और बायें हाथों में क्रमशः अक्षमाला एवं फल है (चित्र ३६६ क)। दूसरी प्रतिमा (१७) में चक्रेश्वरी के निचले बायें हाथ में शंख तथा ऊपरी दोनों हाथों में चक्र दर्शाये गये हैं। चक्रेवश्री की तीसरी प्रतिमा (४१) दूसरी प्रतिमा की भाँति ही है लेकिन यह उससे अधिक सुघड़ है। यक्षी अंबिका की प्रतिमा (४५; ऊँचाई ६७ सें० मी०) में उसे अपने शिशुओं तथा वाहन सहित आम्र-वृक्ष के नीचे बैठे हुए दिखाया गया है। उसके शीर्ष के ऊपरी भाग में नेमिनाथ की एक लघु प्रतिमा उत्कीर्ण है।

अन्य प्रतिमाएँ : इस संग्रहालय में लघु देवालय के आकार की दो प्रतिमाएँ हैं (१; माप ५६×३६ सें० मी०, एवं २; ६०×६६ सें० मी०) (चित्र ३६६ ख)। इनमें पद्मासन और कायोत्सर्ग तीर्थंकर-प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित दिखाया गया है। बताया जाता है कि ये प्रतिमाएँ नौगांव से आयी हैं। नौगांव से एक पादपीठ भी प्राप्त हुआ है जिसपर ललितासन-मुद्रा में बैठी एक चतुर्भुजी देवी की प्रतिमा अंकित है जिसके पार्श्व में एक ओर हाथी और दूसरी ओर सिंह दिखाये गये हैं। देवी अपने दायें ऊपरी और निचले हाथ में क्रमशः एक कमल और अक्षमाला तथा बायें हाथों में क्रमशः पाण्डुलिपि और कमण्डलु लिये हुए है।

टीकमगढ़ और मोहनगढ़ से प्राप्त प्रतिमाएँ

बुंदेलखण्ड के अंतर्गत टीकमगढ़ तथा मोहनगढ़ (जिला टीकमगढ़, बुंदेलखण्ड) से प्राप्त चार प्रतिमाएँ इस संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनमें से मोहनगढ़ से प्राप्त नेमिनाथ की प्रतिमा (४;

माप १६६×१०८ सें० मी०) उल्लेखनीय है। इस प्रतिमा में एक उच्च पादपीठ पर तीर्थंकर पद्मासन में बैठे हैं जिनके समीप अनेकों देवता उनकी सेवा में संलग्न हैं। दूसरी प्रतिमा (३७) ऋषभनाथ की एक प्रतिमा का आधार-भाग है। इसके अलंकृत पादपीठ पर तीर्थंकर का लांछन वृषभ, तथा दोनों किनारों पर उनके यक्ष गोमुख तथा यक्षी चक्रेश्वरी की लघु आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं।

गरोली तथा जसो से प्राप्त प्रतिमाएँ

गरोली से प्राप्त दो प्रतिमाएँ (३३; ऊँचाई ७८ सें० मी० तथा ३५, ऊँचाई ६० सें० मी०) इस संग्रहालय में हैं। ये दोनों प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग शांतिनाथ की हैं। इनमें से पहली प्रतिमा सफेद बलुए पत्थर की है तथा दूसरी लाल बलुए पत्थर की। दोनों ही प्रतिमाओं पर तीर्थंकर का लांछन हिरण अंकित है। दूसरी प्रतिमा पर एक शिल्पकार का चिह्न भी अंकित है। जसो से लाल बलुए पत्थर की चार प्रतिमाएँ (१२ से १५; प्रत्येक की ऊँचाई ५८ सें० मी०) प्राप्त हुई हैं। ये प्रतिमाएँ चतुर्विंशति-पट्ट हैं जिनपर कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन-मुद्रा में चौबीसों तीर्थंकरों की लघु आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं (चित्र ३६७ क)।

भूतपूर्व रीवा राज्य से प्राप्त प्रतिमाएँ

पुराने रीवा राज्य से प्राप्त समस्त प्रतिमाएँ बलुए पत्थर से निर्मित हैं और ये कलचुरि कला का प्रतिनिधित्व करती हैं, ये प्रतिमाएँ वस्तुतः किस क्षेत्र से संबंधित हैं यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है।

तीर्थंकर प्रतिमाएँ : इन प्रतिमाओं में ऋषभनाथ की दो प्रतिमाएँ हैं जिनमें से एक प्रतिमा- (३८, ऊँचाई १.३० मी०) में ऋषभनाथ को तिहरे छत्र के नीचे पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। श्वेत बलुए पत्थर की इस उत्कृष्ट प्रतिमा में तीर्थंकर के सिर के पृष्ठ-भाग में कमलों का भामण्डल तथा वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न अंकित है। तीर्थंकर की जटाएँ कंधों पर लहरा रही हैं। पादपीठ पर दो सिंहों के मध्य में चतुर्भुजी चक्रेश्वरी की एक लघु आकृति अंकित है जो अपने ऊपरी दोनों हाथों में चक्र धारण किये हुए है। एक अन्य प्रतिमा (३४) में एक भिन्न प्रकार का केश-विन्यास दिखाया गया है। नेमिनाथ की एक प्रतिमा (४०, ऊँचाई १.१४ मी०) में जो संभवतः शहडोल से प्राप्त हुई है, तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में एक उच्च पादपीठ पर बैठे हुए दर्शाया गया है (चित्र ३६७ ख)। उनके ऊपर तीन पंक्तियों में इक्कीस तीर्थंकर बैठे हुए हैं। और एक-एक तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में मूलनायक की दोनों ओर हाथियों के पास अंकित हैं। प्रतिमा के अलंकृत पादपीठ पर मूल नायक का लांछन शंख अंकित है। पादपीठ के किनारों पर यक्ष गोमेध और यक्षी अंबिका उपासिकाओं के साथ अंकित हैं। खड़ी हुई मुद्रा में अंबिका की आकृति उल्लेखनीय है। अंबिका आम्र-वृक्ष के नीचे अपने वाहन सिंह सहित खड़ी हुई है। इस संग्रहालय में

पार्श्वनाथ की पाँच प्रतिमाएँ हैं जिनमें से दो पद्मासन तथा तीन कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं। इनमें से एक प्रतिमा (४१; ऊँचाई १.३० मी०) में तीर्थंकर सप्त-फणी नाग-छत्र के नीचे पदमासन-मुद्रा में बैठे हुए हैं। उसके पादपीठ पर आसीन यक्षी पद्मावती अंकित है जिसके समीप उसकी सेवा में तत्पर भक्ति-मुद्रा में हाथ जोड़े नागियाँ खड़ी हुई हैं। पार्श्वनाथ की एक दूसरी प्रतिमा (३६; ऊँचाई १.२० मी०) में उन्हें पद्मासन-मुद्रा में दिखाया गया है। उनके वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न का अभाव है। पार्श्वनाथ की तीनों कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ (२७, २८, ३१, ऊँचाई क्रमश: १२६, १३७, तथा १२५ सें मी०) लाल बलुए पत्थर से निर्मित हैं। पार्श्वनाथ की दो अन्य प्रतिमाओं (२८ और २६) में कायोत्सर्ग पार्श्वनाथ की बगल में चार पद्मासन तीर्थंकरों की लघु आकृतियाँ अंकित की गयी हैं।

सर्वतोभद्रिका : इस संग्रहालय में दो सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ भी हैं। पहली सर्वतोभद्रिका प्रतिमा (२०४; ऊँचाई १.२० मी०) में शिखर-भाग पर पद्मासन तीर्थंकरों की आकृतियाँ अंकित हैं (चित्र ३६८ क)। प्रतिमा की चारों सतहों पर पद्मासन-मुद्रा में ऋषभनाथ, अजितनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ बैठे हैं। दूसरी सर्वतोभद्रिका प्रतिमा में चारों ओर ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर की प्रतिमाएँ हैं।

यक्ष-यक्षी प्रतिमाएँ : इस संग्रहालय में ऐसी पाँच प्रतिमाएँ (१६ से २३; ऊँचाई ५५ से ६८ सें० मी०,) हैं जिनमें यक्ष गोमेध और यक्षी अंबिका को आम्र-वृक्ष के नीचे ललितासन-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। आम्र-वृक्षों पर पद्मासन तीर्थंकरों की लघु आकृतियाँ भी दर्शायी गयी हैं। इनमें से एक प्रतिमा (२३) में कायोत्सर्ग तीर्थंकर की चार और लघु आकृतियाँ अंकित की गयी हैं। इन सभी प्रतिमाओं में अंबिका को सदैव अपनी गोद में शिशु को लिये हुए दिखाया गया है। एक अन्य प्रतिमा (१८; माप ७४×६८ सें० मी०) में शीतलनाथ के यक्ष ब्रह्मा को दर्शाया गया है। चतुर्भुजी यक्ष ब्रह्मा एक हाथ में पाण्डुलिपि तथा दूसरे हाथ में कमल लिये हुए है (चित्र ३६८ ख)।

बाल चंद्र जैन

केंद्रीय पुरातत्त्व संग्रहालय, ग्वालियर

ग्वालियर के किले गूजरी महल में स्थित केंद्रीय पुरातत्त्व संग्रहालय में लगभग पचास जैन प्रतिमाएँ संगृहीत हैं जो भूतपूर्व मध्यभारत के ग्वालियर राज्य के विभिन्न स्थानों से प्राप्त की गयी हैं। इन प्रतिमाओं को मोटे तौर पर चार भागों में विभाजित किया जा सकता है : (१) गुप्तकालीन प्रतिमाएँ, (२) वे प्रतिमाएँ जिनके लिए प्रारंभिक मध्यकालीन समय निर्धारित किया जा सकता है (लगभग नौवीं और दसवीं शताब्दी), (३) मध्यकालीन (ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी) प्रतिमाएँ, (४) उत्तर मध्यकालीन (ग्वालियर के तोमर वंश के अधीन निर्मित) प्रतिमाएँ।

गुप्त-कालीन प्रतिमाएँ : गुप्तकालीन तीन जैन प्रतिमाओं में से दो प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग तीर्थंकरों की तथा तीसरी प्रतिमा अंबिका यक्षी की है। पहली प्रतिमा (३३; ऊँचाई १.६६ मीटर)

विदिशा के निकट बेसनगर से प्राप्त हुई है। यह एक तीर्थंकर की है जिसकी पहचान नहीं हो सकी। कायोत्सर्ग तीर्थंकर के लंबरूप हाथ घुटनों तक पहुँचे हुए हैं और कमल-कलियों पर आधारित हैं। उनके घुंघराले बाल और कुछ उठा हुआ उष्णीष उल्लेखनीय है। तीर्थंकर के सिर के पीछे वृत्ताकार भामण्डल है जिसका केंद्र बहुदलीय कमल-युक्त है। भामण्डल की परिधि के बाह्य सिरे पर छोटी मालाएँ (फुल्लिकाएँ) हैं। भामण्डल के पार्श्व में दोनों ओर माला-वाहक गंधर्व उड़ते हुए अंकित हैं। तीर्थंकर के पैरों के समीप दो भक्त घुटनों के बल बैठे हुए पुष्पमालाएँ अर्पित कर रहे हैं। इन उपासकों के सिर खण्डित हैं। शैलीगत आधार पर इस प्रतिमा के लिए लगभग पाँचवी शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है। दूसरी तीर्थंकर-प्रतिमा (५५; ऊँचाई ६५ सें० मी०) ऋषभनाथ का धड़-भाग है जो लश्कर (ग्वालियर) से प्राप्त किया गया है। तीसरी प्रतिमा (४६; माप ३३×४२ सें० मी०) को पार्वती के रूप में पहचाना गया है परंतु संभवत: यह देवी जैन यक्षी अंबिका है क्योंकि यह देवी आम्र-वृक्ष के नीचे अपने वाहन सिंह पर बैठी दिखाई गयी है। उसका कनिष्ठ शिशु प्रियंकर उसकी बायीं जाँघ पर बैठा हुआ दिखाया गया है। यह प्रतिमा गुना जिले के तुमैन नामक स्थान से प्राप्त की गयी है। इस प्रतिमा का समय छठी शताब्दी का आरंभिक काल निर्धारित किया जा सकता है।

आरंभिक मध्यकालीन प्रतिमाएँ : इस काल की प्रतिमाएँ जो संख्या में आठ है, बडोह (विदिशा,) तेरही, ग्वालियर के किले तथा अन्य अज्ञात स्थानों से एकत्रित की गयी हैं। एक बलुए पत्थर की प्रतिमा (१३२; माप ५४×४४ सें० मी०) में दो सिंहों पर आधारित मंच पर किसी तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। पादपीठ के केंद्र में धर्मचक्र और उसके पार्श्व में दोनों ओर हिरण अंकित हैं। इस प्रतिमा में तीर्थंकर का शीर्ष-भाग खण्डित है। लांछन के अभाव में तीर्थंकर को पहचाना नहीं जा सका है। दूसरी तीर्थंकर-प्रतिमा (१२३; २.११×१.१६ मी०) ग्वालियर के किले से प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा में तीर्थंकर को पादपीठ पर पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। उनके सिर के पीछे अलंकृत भामण्डल है तथा उसके ऊपर तिहरा छत्र है जिसके पार्श्व में दोनों ओर दो हाथी हैं। हाथियों के मुख सम्मुख-दिशा में हैं। छत्र के ऊपर दुदुंभि का प्रतीक अंकित है। छत्र के नीचे एक मोटी-सी फूलमाला दिखाई गयी है जिसे दो विद्याधर पकड़े हुए हैं। तीर्थंकर की प्रतिमा के पार्श्व में दोनों ओर सौधर्म तथा ईशान स्वर्गों के इंद्रों को खड़े हुए दिखाया गया है। प्रतिमा की बाह्य पट्टिकाएँ व्याल और मकर के कला-प्रतीकों से अलंकृत हैं। इंद्रों के ऊपरी भाग में नवग्रह अंकित हे जिनमें से चार दायीं ओर हैं और पाँच बायीं ओर। इनके ऊपर कायोत्सर्ग तीर्थंकर की छोटी-छोटी आकृतियाँ हैं। पादपीठ के कोनों पर यक्ष-यक्षी की प्रतिमाएँ हैं। यक्ष आसन पर बैठा है तथा अपने हाथ में थैली सँभाले है। यक्षी के एक हाथ में कमल (?) है और दूसरा हाथ अभय-मुद्रा में है।

ग्वालियर के किले से प्राप्त सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा (११४; ऊँचाई ८४ सें० मी०) को भी इसी श्रेणी में वर्गीकृत किया जा सकता है। इसकी चारों सतहों पर कायोत्सर्ग तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं।

इन चारों तीर्थंकरों में एक ऋषभनाथ हैं और दूसरे पार्श्वनाथ । शेष दो तीर्थंकरों को पहचानना संभव नहीं है ।

बडोह (विदिशा) के गडरमल-मंदिर से प्राप्त एक विशाल प्रतिमा (७६; माप २×१.३५ मी०) में एक महिला को पलंग पर लेटे हुए दिखाया गया है । पलंग की चादर और तकिया अलंकृत है । महिला की बगल में एक छोटे तकिए का सिरहाना किये एक शिशु लेटा हुआ है । महिला के सिर के पीछे भामण्डल है तथा वह सेविकाओं द्वारा परिचारित है जिसमें से चार सेविकाएँ उसकी दायीं ओर हैं तथा एक उसके सिर के पीछे खड़ी है । यह प्रतिमा संभवतः किसी तीर्थंकर की माँ की है जो दिक्-कुमारिकाओं द्वारा आवित है परंतु कुछ विद्वान इसे यशोदा या देवकी तथा कृष्ण की प्रतिमा मानते हैं ।

तेरही से प्राप्त अंबिका की एक प्रतिमा में यक्षी को पद्म-पुष्प के आसन पर उसके वाहन सिंह सहित बैठे हुए दर्शाया गया है । वह अपने बायें हाथ में आम्र-लुंबी धारण किये हुए है । गोदी में बैठे हुए शिशु की आकृति खण्डित हो चुकी है । उसकी बायीं ओर पुरुषाकृति है जो अपने हाथ में आम्र-लुंबी धारण किये है तथा दायीं ओर चमरधारी सेविका खड़ी है । यह प्रतिमा गज-व्याल के कला-प्रतीकों तथा उड़ते हुए गंधर्वों से अति सुंदरता के साथ अलंकृत है । इस संग्रहालय में दो अन्य प्रतिमाएं (२६४ और ३८६; माप क्रमशः ७५ ×१६ सें० मी० और ४०×४७ सें० मी०) हैं जिनमें एक यक्ष-दंपति को दर्शाया गया है । इस दंपति को सामान्यतः गोमेध यक्ष और अंबिका यक्षी के रूप में पहचाना जाता है ।

मध्यकालीन प्रतिमाएँ : मध्यकालीन पंद्रह प्रतिमाओं में से अधिकांश प्रतिमाएँ पढावली (जिला मुरैना) तथा विदिशा से प्राप्त की गयी हैं ।

विदिशा से प्राप्त एक तीर्थंकर-प्रतिमा (१२८; ऊँचाई १.१६ मी०) में ऋषभनाथ पद्मासन-मुद्रा में एक पादपीठ पर बैठे हुए हैं जो खण्डित है । इस प्रतिमा के अवशेष परिकर-भाग पर अंकित तीर्थंकरों की आठ लघु आकृतियों से ज्ञात होता है कि यह प्रतिमा एक चतुर्विंशति-पट्ट था जिसके मूल नायक ऋषभनाथ हैं । इस प्रतिमा के लिए बारहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है । पढावली से प्राप्त अजितनाथ की प्रतिमा (१२६; ऊँचाई ८२ सें० मी०)में तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं । उनके पादपीठ पर उनका लांछन हाथी अंकित है । प्रतिमा का बाह्य चौखटा बायीं ओर से टूट चुका है । दायीं ओर के अवशिष्ट चौखटे पर तीन कायोत्सर्ग तीर्थंकर और व्याल का कला-प्रतीक अंकित है । पढावली से ही कायोत्सर्ग शांतिनाथ की एक प्रतिमा (१२७; ऊँचाई २ मी०) प्राप्त हुई है जिसके पादपीठ पर तीर्थंकर का लांछन हिरण अंकित है । चार कायोत्सर्ग तीर्थंकरों की अन्य लघु आकृतियों ने इस प्रतिमा को एक पंच-तीर्थिका का रूप दे दिया है । इस प्रतिमा का समय बारहवीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है ।

इस संग्रहालय में पार्श्वनाथ की तीन प्रतिमाएँ हैं जो क्रमशः पढावली, अहमदपुर (विदिशा) तथा ग्वालियर के किले से प्राप्त हुई हैं । पढावली से उपलब्ध प्रतिमा में(१२४;ऊँचाई १.४० मी०)

में पार्श्वनाथ को पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया है । उनके पीछे कुण्डलीबद्ध नाग खड़ा हुआ है जो अपने फण-छत्र से उनको छाया प्रदान कर रहा है। तीर्थंकर के वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न अंकित है । उनके सिर के पीछे भामण्डल है जिसके ऊपर तिहरा छत्र है। छत्र के ऊपर दुंदभि का प्रतीक है तथा छत्र के पार्श्व में हाथी अंकित हैं। तीर्थंकर के पार्श्व में हाथी पर खड़े हुए उनके सेवक इंद्र प्रदर्शित हैं जिनके सिरों पर नाग-फण छत्र हैं। पादपीठ पर धर्मचक्र, उपासक-गण तथा सिंह अंकित हैं। अहमदपुर से प्राप्त प्रतिमा (११६; ऊँचाई १.४५ मी०) में पार्श्वनाथ को नाग-फण छत्र के नीचे कायोत्सर्ग-मुद्रा में दिखाया गया है। ग्वालियर के किले से प्राप्त पार्श्वनाथ की तीसरी प्रतिमा (१३०; ऊँचाई ७८ सें० मी०) अभिलेख-युक्त है जिसके लिए ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रतिमा के परिकर में अंकित तीर्थंकरों की लघु आकृतियों से ज्ञात होता है यह प्रतिमा एक चतुर्विंशति-पट्ट थी। इस प्रतिमा के पादपीठ पर अपने वाहन कुक्कुर सहित क्षेत्रपाल की एक लघु आकृति भी देखी जा सकती है। पद्मासन तीर्थंकरों की तीन अन्य प्रतिमाएँ (११५, १२१ तथा १२२) उनके लांछनों के अभाव में पहचानी नहीं जा सकती हैं। इन तीनों अचिह्नित तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में से प्रथम प्रतिमा ग्वालियर के किले से प्राप्त हुई है और शेष दो प्रतिमाएँ पढावली से ।

इस काल की दो सर्वतोभद्रिका-प्रतिमाएँ भी यहाँ उपलब्ध हैं। विदिशा से प्राप्त सर्वतोभद्रिका प्रतिमा (१३१, ऊँचाई ८८ सें० मी०) में चारों ओर चार कायोत्सर्ग तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ है जिनमें से दो तीर्थंकरों को ऋषभनाथ एवं पार्श्वनाथ के रूप में पहचाना जा चुका है जबकि शेष दो तीर्थंकर अचिह्नित हैं। दूसरी सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा (२६२) भली-भाँति पालिश की हुई है । यह प्रतिमा जैसा कि इसके अभिलेख से ज्ञात होता है भरिल और (संभवतः उसकी पत्नी) कलणा द्वारा निर्मित करायी गयी। यह प्रतिमा किस क्षेत्र से प्राप्त हुई है यह ज्ञात नहीं हो सका है।

एक द्वि-मूर्तिका प्रतिमा (३०८; माप १.३५ मी०×४८ सें० मी०) में कायोत्सर्ग-मुद्रा में दो तीर्थंकर दर्शाये गये हैं । यह प्रतिमा कहाँ प्राप्त हुई है यह ज्ञात नहीं है लेकिन इसके लिए तेरहवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है। शिवपुरी जिले के अंतर्गत पढावली स्थान से किसी तीर्थंकर प्रतिमा के परिकर का एक खण्ड (३४३) प्राप्त हुआ है जो बारहवीं शताब्दी का है। पढावली से ही एक मान-स्तंभ (३४३; ऊँचाई १.५ मी०) प्राप्त हुआ है जिसमें देवकोष्ठों के अंदर तीर्थंकर की लघु प्रतिमाओं को बैठे हुए दर्शाया गया है जिनमें से एक तीर्थंकर को नाग-फण छत्र के कारण पार्श्वनाथ के रूप में पहचाना जा सकता है। इस संग्रहालय में मात्र एक ही देवी-प्रतिमा है जो चक्रेश्वरी (१४६) की है।

उत्तर-मध्यकालीन प्रतिमाएँ : उत्तर-मध्यकालीन, ग्वालियर के तोमर वंशीय शासकों के राज्य-कालों की लगभग बीस जैन प्रतिमाएँ इस संग्रहालय में संरक्षित हैं जो ग्वालियर के किले में प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ प्रतिमाओं का वास्तविक स्थान ज्ञात नहीं है।

ग्वालियर किले के क्षेत्र से प्राप्त ऋषभनाथ की प्रतिमा (११८; ऊँचाई ७२ सें० मी०) में तीर्थंकर दो सिंहों पर आधारित पादपीठ पर पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए दिखाये गये हैं। दूसरी प्रतिमा (३८४) संभवत : ऋषभनाथ की प्रतिमा का खण्डित पादपीठ है। एक अन्य प्रतिमा (३०; ऊँचाई ९२ सें० मी०) में संभवनाथ को अंकित किया गया है जिसके पादपीठ पर उनका लांछन अश्व अंकित है। पद्मप्रभ की प्रतिमा (११६; ऊँचाई ८३ सें० मी०) का निचला भाग महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पादपीठ पर संवत् १५५२ का एक अभिलेख अंकित है जिसके अनुसार तोमरवंशीय शासक महाराजाधिराज मानसिंह के शासनकाल में यह प्रतिमा गोपाचल दुर्ग (ग्वालियर) में प्रतिष्ठापित की गयी थी। इस अभिलेख से ग्वालियर के भट्टारकों के विषय में भी जानकारी प्राप्त होती है जो मूल संघ के बलात्कार-गण के सरस्वती-गच्छ के भट्टारक पद्मनंदी की परंपरा से संबंधित थे।

ग्वालियर के किले से प्राप्त चंद्रप्रभ की एक पंच-तीर्थिका प्रतिमा (१२५; ऊँचाई १.४२ मी०) में मूल नायक तीर्थंकर चंद्रप्रभ दो सिंहों पर आधारित अर्ध-वृत्ताकार पादपीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए हैं। तीर्थंकर का लांछन पादपीठ पर दर्शाया गया है। चंद्रप्रभ के साथ ही तीर्थंकरों की चार लघु प्रतिमाएँ भी अंकित हैं जिनमें से दो कायोत्सर्ग-मुद्रा में तथा दो पद्मासन-मुद्रा में हैं।

ग्वालियर के किले से नेमिनाथ की प्रतिमा (११७; ऊँचाई २ मी०) भी प्राप्त हुई है जिसमें पादपीठ पर आधारित पद्म-पुष्प पर तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हैं तथा उनके पार्श्व में दोनों ओर इंद्र हैं। पादपीठ पर तीर्थंकर का लांछन शंख, धर्मचक्र तथा एक उपासिका अंकित है। एक पार्श्वनाथ-प्रतिमा का खण्डित निचला भाग भी इस काल की एक उल्लेखनीय प्रतिमा के रूप में परिगणित किया जा सकता है। इसके पादपीठ पर दायें और बायें कोनों पर क्रमशः यक्ष धरणेंद्र और यक्षी पद्मावती की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इन दोनों यक्ष और यक्षी के ऊपर नाग-फण छत्र है। यक्षी एक नाग पर बैठी है और यक्ष का वाहन कुक्कुट भी अंकित है। पादपीठ पर ग्वालियर के तोमरवंशीय शासक विक्रमादित्य के शासनकालीन तिथि संवत् १४७६ (?) का अभिलेख अंकित है जिसमें काष्ठा-संघ के पुष्कर-गण और माथुर-अन्वय के भट्टारक सहस्रकीर्ति का भी उल्लेख है। एक अन्य प्रतिमा (३०६; माप ६७×५७ सें० मी०) किसी विशाल पार्श्वनाथ प्रतिमा का खण्डित शीर्ष-भाग है।

ग्वालियर के किले से प्राप्त प्रतिमा (१२६; ऊँचाई ७१ सें० मी०) में एक अचिह्नित तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में दिखाया गया है। एक दूसरी अचिह्नित तीर्थंकर-प्रतिमा (६८३; ऊँचाई १.२६ मी०) का प्राप्ति-स्थान ज्ञात नहीं है। इसके अतिरिक्त दो अन्य पद्मासन तीर्थंकर-प्रतिमाएँ (१३३ तथा १७४) भी हैं। एक पट्ट (माप ३५×५१ सें० मी०) में अठारह तीर्थंकर दिखाये गये हैं जो तीन पंक्तियों में अंकित हैं। यह पट्ट पंद्रहवीं शताब्दी का हो सकता है।

इस संग्रहालय में तोमर काल की दो सर्वतोभद्रिका-प्रतिमाएँ (२६१ और २६३; ऊँचाई क्रमशः १.१६ तथा १.२१ मी०) भी हैं जिनकी चारों सतहों पर तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। पहली प्रतिमा में आदिनाथ और पार्श्वनाथ इन दो तीर्थंकरों को पहचाना जा सका है और दूसरी

प्रतिमा में मात्र एक तीर्थंकर पार्श्वनाथ को। यहाँ पर एक मान-स्तंभ (२६०; ऊँचाई १.०६ मी०) भी है जिसमें एक सौ उनतालीस पद्मासन तीर्थंकर-प्रतिमाएँ अंकित हैं। इन तीर्थंकरों में से मात्र आदिनाथ को ही पहचाना जा सकता है।

बालचंद्र जैन

शिवपुरी संग्रहालय

इस संग्रहालय में जैन प्रतिमाओं का एक संपन्न संकलन है जो प्रायः नरवर (प्राचीन नलपुर) से प्राप्त किया गया है। इनमें से यहाँ कुछ विशेष प्रतिमाओं का ही उल्लेख किया जा रहा है।

चतुर्विंशति-पट्ट : इस पट्ट (१६७; माप १.०६ मी० ×४६ सें० मी०) में एक पंक्ति में चौबीसों तीर्थंकरों की लघु प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं और समस्त तीर्थंकरों के लांछन उनके पैरों के नीचे अंकित हैं। पट्ट पर अंकित अभिलेख के अनुसार इस पट्ट पर चौबीसों तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं तथा इस पट्ट को संवत् १०६३ (सन् १००६) में स्थापित किया गया था।

तीर्थंकर प्रतिमाएं : इस संग्रहालय में तीर्थंकरों की अनेक प्रतिमाएँ है जो कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं। अधिकांश प्रतिमाएँ बारहवीं शताब्दी की मानी जा सकती हैं। चंद्रप्रभ (चित्र ३६६) की प्रतिमा (१४६) के पादपीठ पर अंकित अभिलेख से ज्ञात होता है कि जयचंद्र ने अपनी पत्नियों सुहना तथा मोना और पुत्र आशाधर सहित इस प्रतिमा की प्रतिष्ठापना संवत् १२४१ में की थी। एक अन्य प्रतिमा (२, ऊँचाई २ मी०) में अजितनाथ को एक तिहरे छत्र के नीचे कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है। इस प्रतिमा के शीर्ष पर आमलक और कलश भी अंकित हैं। छत्र-त्रय के ऊपर एक अलंकृत देवकोष्ठ में एक तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में दिखाया गया है। तीर्थंकर की मुख्य प्रतिमा के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी दो इंद्रों की प्रतिमाएँ थीं जो खण्डित हो चुकी हैं। पाद-पीठ सिंह प्रतिमाओं से भलो-भाँति अलंकृत है। इसपर एक पद्मासन तीर्थंकर-युक्त एक देवकोष्ठ भी अंकित है। प्रतिमा के शीर्ष-भाग में मकर-तोरण और कीर्ति-मुख है। पादपीठ पर अजितनाथ का लांछन गज अंकित है जिसके दोनों ओर दो उपासक-आकृतियाँ भी हैं। एक अन्य प्रतिमा (३, ऊँचाई १.५५ मी०) में संभवनाथ को उनके लांछन अश्व सहित अंकित किया गया है। उनके छत्र के दोनों ओर हाथी हैं जो अपनी सूँड़ों में कमल की कलियाँ लिये हैं। पादपीठ पर उपासक-दंपति भी अंकित है। अभिनदननाथ (४; ऊँचाई २.०५ मी०) तथा पद्मप्रभ (५; १.६५ मी०) की प्रतिमाएँ न्यूनाधिक पूर्वोक्त अजितनाथ की प्रतिमा की भाँति हैं, जिनमें मात्र उनके लांछन चिह्नों का ही अंतर है। अन्य अनेक तीर्थंकरों की कायोत्सर्ग प्रतिमाएँ भी इसी प्रकार की हैं। इनमें से एक प्रतिमा (१६; ऊँचाई १.३५ मी०) अत्यंत आकर्षक है जो किसी अचिह्नित तीर्थंकर की है। इसपर अत्युत्तम पालिश है।

(ख) धुबेला राज्य संग्रहालय :
तीर्थंकर नेमिनाथ (शहडोल जिला)

(क) धुबेला राज्य संग्रहालय :
चतुर्विंशति-पट्ट (जसो)

चित्र 367

(क) धुबेला राज्य संग्रहालय :
सर्वतोभद्र (रीवा क्षेत्र)

(ख) धुबेला राज्य संग्रहालय :
यक्ष ब्रह्मा (रीवा क्षेत्र)

चित्र 368
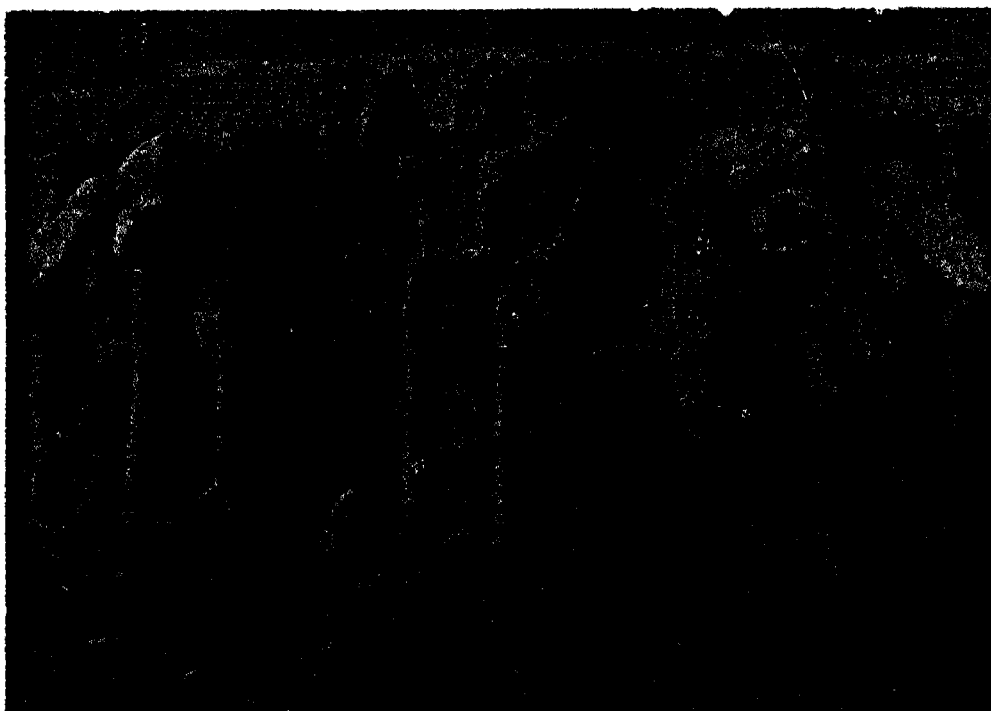
शिवपुरी संग्रहालय : तीर्थंकर चंद्रप्रभ का पादपीठ

चित्र 369

(क) शिवपुरी संग्रहालय : द्वि-मूर्तिका

(ख) शिवपुरी संग्रहालय : तीर्थंकर

चित्र 370

(ख) शिवपुरी संग्रहालय :
तीर्थंकर पार्श्वनाथ

(क) शिवपुरी संग्रहालय : तीर्थंकर-मूर्ति

चित्र 371

शिवपुरी संग्रहालय : स्थापत्यीय शिलाखण्ड

चित्र 372
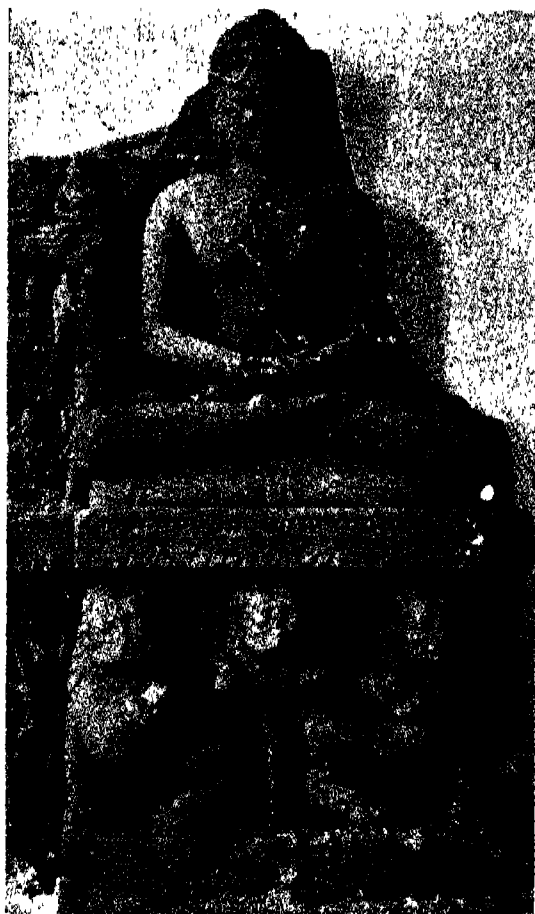
(क) रायपुर संग्रहालय : तीर्थंकर महावीर (कारीतलाई)
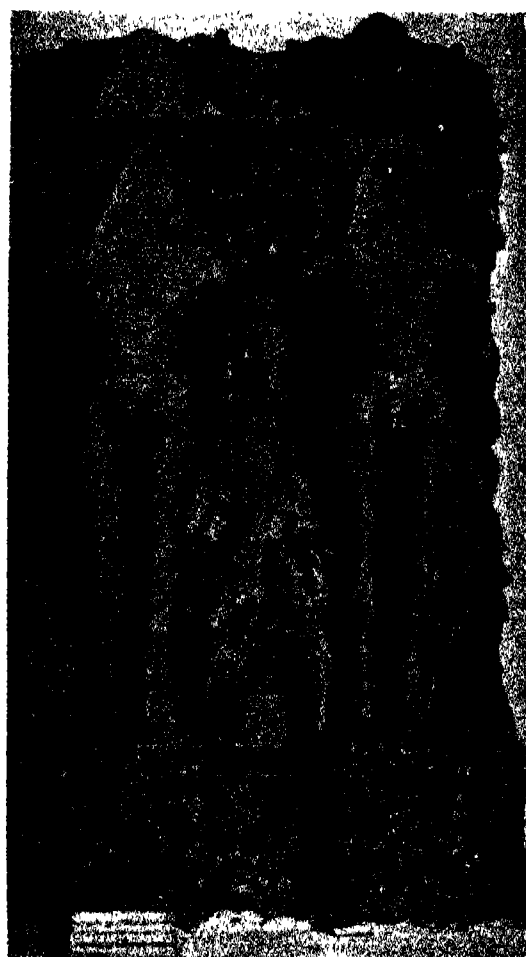
(ख) रायपुर संग्रहालय : तीर्थंकर अजितनाथ · संभवनाथ (कारीतलाई)

चित्र 373

(क) रायपुर संग्रहालय : सर्वतोभद्रिका (कारीतलाई)

(ख) रायपुर सग्रहालय : यक्षी अंबिका (कारीतलाई)

चित्र 374
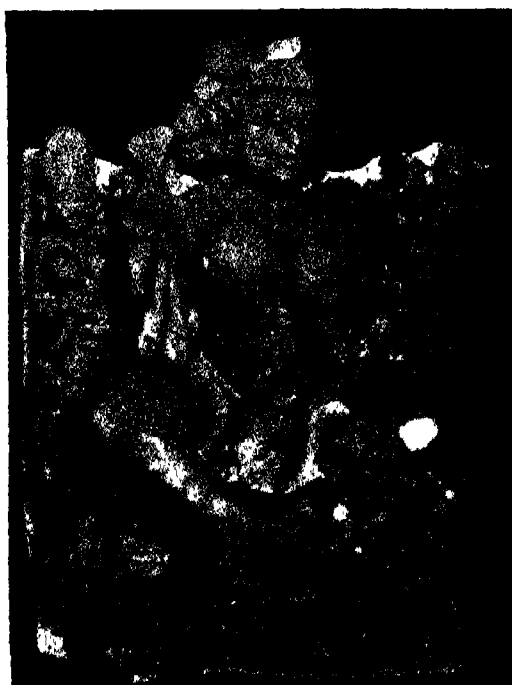
इस संग्रहालय में कुछ द्वि-मूर्तिका भी हैं जिनमें दो-दो तीर्थंकरों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इनमें से एक प्रतिमा (१६; ऊँचाई १.४० मी०) में अजितनाथ और संभवनाथ अपने लांछनों सहित उत्कीर्ण हैं (चित्र ३७० क)। दूसरी प्रतिमा (१७) संभवनाथ और नेमिनाथ की है। सभी तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं। एक अन्य प्रतिमा (१८; ऊँचाई १.१० मी०) शांतिनाथ और महावीर की है। इस प्रतिमा के अभिलेख के अनुसार इसे किसी जसहूर नामक व्यक्ति ने प्रतिष्ठापित कराया था।

वे प्रतिमाएँ जिनमें तीर्थंकरों को पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है कहीं अधिक कलात्मक ढंग से गढ़ी गयी हैं। इनमें से एक प्रतिमा (१; ऊँचाई १.८५ मी०) में एक तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में अत्यंत सुंदरता के साथ अंकित किया गया है। उनके वक्ष पर सुंदर श्रीवत्स-चिह्न और सिर के पीछे अलंकृत भामण्डल उत्कीर्ण हैं। यह तीर्थंकर की प्रतिमा अचिह्नित है। तीर्थंकर का दायाँ हाथ और घुटना खण्डित हो चुका है (चित्र ३७० ख)। एक अन्य प्रतिमा में (६; ऊँचाई ९५ सें० मी०) सुपार्श्वनाथ को सिंहासन पर एक तिहरे छत्र तथा पंच फणी नाग-छत्र के नीचे पद्मासन-मुद्रा में दिखाया गया है। इस सुंदर प्रतिमा के दोनों हाथ खण्डित हैं। एक अन्य अचिह्नित तीर्थंकर की प्रतिमा (२४; ऊँचाई १.३५ मी०) अपने अलंकृत आसन और भामण्डल के लिए उल्लेखनीय है (चित्र ३७१ क)। पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा (२७, ऊँचाई १३५ सें० मी०) में तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में दिखाया है (चित्र ३७१ ख)।तीर्थंकर के पीछे एक कुण्डलीबद्ध सर्प खड़ा है जो अपने सप्त-फणी छत्र से उनके सिर पर छाया किये है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक इंद्र खड़े हैं। छत्र के ऊपर उड़ते हुए मालाधारी, कलश लिये हाथी और दुंदुभिवादक अंकित हैं। एक अन्य प्रतिमा (५५; ऊँचाई १ मीटर) वृत्ताकार रूप से उत्कीर्ण है। बारहवीं शताब्दी की पद्मासन तीर्थंकरों की तीन प्रतिमाएं (२६, ३६ तथा ४३) और हैं। संग्रहालय में काले पत्थर से निर्मित कुछ प्रतिमाओं के खण्डित निचले भाग भी संरक्षित हैं। इनके पादपीठों पर अंकित अभिलेखों के अनुसार इनकी प्रतिमाओं को संवत् १३२६, १३३४, १३४१, १३४४ तथा १३४६ में प्रतिष्ठापित किया गया था। ये समस्त निम्न भाग पद्मासन तीर्थंकर-प्रतिमाओं के अंश हैं जिनके ऊपरी भाग खण्डित और लुप्त हो चुके हैं।

अलंकृत स्थापत्यीय खण्ड : इस संग्रहालय में नरवर से प्राप्त अलंकृत स्थापत्यीय खण्ड कलाकारी के सुंदरतम उदाहरण हैं। ये खण्ड लघु तोरणों के अंश हैं। इनमें से एक खण्ड (४७) की केंद्रवर्ती प्रतिमा यक्षी चक्रेश्वरी की है। छह-भुजी यक्षी चक्रेश्वरी एक उच्चासन पर ललितासन-मुद्रा में बैठी है। यक्षी देवकुलिका में प्रतिष्ठित है जिसके पार्श्व में स्तंभ तथा शीर्ष-भाग में शिखर है। इसके दायीं-बायीं ओर तीर्थंकर बैठे हुए हैं जिनके ऊपर छत्र अंकित हैं। दायीं और बायीं ओर के नितांत कोने वाले स्तंभों तथा शिखर-युक्त देवकुलिकाओं में तीर्थंकर पद्मासन-मुद्रा में बैठे हैं। दायीं और बायीं ओर के नितांत छोरों पर मकरों की आकृतियां हैं जिनमें से बायीं ओर की मकर-आकृति खण्डित है। एक दूसरे खण्ड (चित्र ३७२) में तीर्थंकरों और यक्षियों को देवकोष्ठों में दर्शाया गया है।

इस खण्ड पर एक साथ अंकित तीन यक्षियों की भी एक प्रतिमा है। इनमें से केंद्रवर्ती यक्षी गरुड़ पर आरूढ़ तथा अपने ऊपरी हाथों में चक्र और गदा धारण किये है। यह यक्षी चक्रेश्वरी हो सकती है। यक्षियों के ऊपर केंद्रवर्ती देवकुलिका में एक पद्मासन तीर्थंकर हैं जिनके पार्श्व की लघु देव-कुलिकाओं में तीर्थंकर स्थापित हैं। केंद्रवर्ती देवकुलिका के पार्श्व में उड़ते हुए माला-धारी अंकित हैं। तीसरे खण्ड (५१) में एक लघु देवालय के मध्यवर्ती देवकोष्ठ में एक तीर्थंकर पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए दिखाये गये हैं। इसके स्तंभों की पंक्तियाँ गज-शार्दूल के कला-प्रतीकों से अलंकृत हैं। इसपर आमलक-युक्त कई सतहों वाला शिखर मण्डित है, जिसपर कलश नहीं है। इस लघु देवालय के पार्श्व में दोनों ओर मकर का कला-प्रतीक अंकित है। ऐसे ही दो खण्ड (२१० तथा २३५) और हैं जिनमें लघु देवालय अंकित हैं। पहले खण्ड की देवकुलिका में पद्मासन तीर्थंकर को दिखाया गया है और दूसरे खण्ड की देवकुलिका में एक अष्ठभुजी यक्षी को अपने वाहन वृषभ पर बैठे हुए दिखाया गया है। यक्षी वाले खण्ड का शिखर अत्यंत अलंकृत है। खण्डित प्रतिमाओं के पादपीठ भी इनपर आधारित तीर्थंकर-प्रतिमाओं के लांछनों के अंकित होने के कारण कलात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

एक स्तंभ : इस संग्रहालय में एक स्तंभ का खण्ड (६१) भी संरक्षित है। इस स्तंभ पर तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त एक आचार्य और एक साध्वी की प्रतिमा भी अंकित है। इस स्तंभ पर उत्कीर्ण संवत् १५१७ अथवा शक संवत् १३८२ के अभिलेख के अनुसार, यह प्रतिमा जिसके समीप ही कमण्डलु और पिच्छिका अंकित है आचार्य प्रतापचंद्र की है जो काष्ठा-संघ के माथुर-अन्वय के आचार्य क्षेमकीर्ति के शिष्य थे। कमण्डलु और पिच्छिका सहित पद्मासन-मुद्रा में प्रदर्शित साध्वी, अभिलेख के अनुसार, आर्यिका संयमश्री हो सकती है।

बालचंद्र जैन

जयसिंहपुरा जैन पुरातत्त्व संग्रहालय, उज्जैन

इस संग्रहालय में मालवा-क्षेत्र के विभिन्न स्थानों से प्राप्त पाँच सौ से अधिक जैन प्रतिमाएँ संरक्षित हैं। इनमें से छियानबे प्रतिमाओं पर अभिलेख अंकित हैं। इन प्रतिमाओं में तीर्थंकरों, जैन-देवियों, सर्वतोभद्रिका तथा चौमुख प्रतिमाएँ हैं। सबसे अधिक, चौंसठ प्रतिमाएँ, मात्र पार्श्वनाथ की हैं। इसके अतिरिक्त ऋषभनाथ की सैंतीस, चंद्रप्रभ की बीस, अजितनाथ की बारह तथा अन्य तीर्थंकरों की भी अनेकानेक प्रतिमाएँ हैं।

अभिलेखांकित प्रतिमाओं में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं : धार से प्राप्त ऋषभनाथ की एक प्रतिमा (३०) पर विक्रम सवत् १६२६ का अभिलेख अंकित है। जवास से प्राप्त ऋषभनाथ की संगमरमर से निर्मित दो प्रतिमाएँ (४७ और ५०) संवत् १४१६ की; नागदा (देवास) से प्राप्त काले पत्थर की एक प्रतिमा (७१) संवत् १२२२ की है। अभिनंदननाथ की एक प्रतिमा (१७६)

पर उसकी स्थापना की तिथि संवत् १११८ का उल्लेख है। शांतिनाथ की दो प्रतिमाओं पर संवत् १२२२ और १२३१ का उल्लेख है। एक देवी प्रतिमा पर तीन पंक्तियों का अभिलेख अंकित है जिसमें संवत् १२२४ का उल्लेख है। आष्टा और कर्मा से प्राप्त मुनि सुव्रतनाथ की दो प्रतिमाएँ बारहवीं शताब्दी की विशेषताएँ लिये हुए हैं।

गुना से प्राप्त पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रतिमा में तीर्थंकर को सप्त-फणी नाग-छत्र के नीचे पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। उनके पार्श्व में बायीं ओर यक्ष धरणेंद्र और दायीं ओर यक्षी पद्मावती प्रदर्शित हैं।

जैन देवी-प्रतिमाओं में बदनावर से प्राप्त यक्षी चक्रेश्वरी की प्रतिमा का खण्डित अंश अति उत्तम है। इसी स्थान से प्राप्त महामानसी, रोहिणी, अंबिका और निर्वाणा देवी की प्रतिमाएँ कलात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

एक शिला पर उद्भृत प्रतिमा (१४१) में छह जैन देवियों को अपनी गोद में शिशुओं को बैठाये हुए दर्शाया गया है। प्रत्येक देवी के नीचे उसका नाम भी अंकित है। एक अन्य शिलोद्भृत प्रतिमा (१५६) में चार नारी आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं जिनके नीचे उनके नाम देव-दासी, रसद्गुण-देवी, विमारवती और त्रिशला-देवी अंकित हैं।

इस संग्रहालय में बाईस धातु-प्रतिमाएँ और एक समवसरण भी है जिनमें अधिकांश प्रतिमाएँ अभिलेखांकित हैं।

सत्यंधर कुमार सेठी
सुरेंद्र कुमार आर्य

रायपुर संग्रहालय

रायपुर स्थित महंत घासीदास स्मारक संग्रहालय में जैन प्रतिमाओं का एक समृद्ध संग्रह है जिसमें चालीस पाषाण-निर्मित तीर्थंकरों, सेवक देवी-देवताओं, चौमुख, सहस्रकूट आदि प्रतिमाएँ हैं। ये प्रतिमाएँ कलचुरि शासकों के काल की हैं। इनमें मात्र एक ही ऐसी प्रतिमा है जो दक्षिण कोसल के सोमवंशीय शासनकाल की है। इन उन्तालीस कलचुरिकालीन प्रतिमाओं में से तेंतीस प्रतिमाएँ डाहल या चेदि के कलचुरि शासकों के काल की कला का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनकी राजधानी जबलपुर के समीप त्रिपुरी (आधुनिक तेवर) में थीं। शेष छह प्रतिमाएँ उन स्थानों से प्राप्त हुई हैं जो कलचुरियों के उत्तराधिकारियों के शासनाधीन थे और जिनकी राजधानी बिलासपुर जिले के रत्नपुर (आधुनिक रतनपुर) में थी। सोमवंशीय शासनकाल की एकमात्र प्रतिमा दक्षिण कोसल की प्राचीन राजधानी सिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) से प्राप्त हुई बतायी जाती है। इस प्रतिमा का समय लगभग ८०० ई० निर्धारित किया जाता है। समस्त डाहल प्रतिमाएँ जबलपुर जिले के

कारीतलाई स्थान से प्राप्त हुई हैं जिनका समय दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी है। छत्तीसगढ़ से प्राप्त प्रतिमाओं में से चार रतनपुर से, और दो खण्डित प्रतिमाएँ रायपुर जिले के आरंग से प्राप्त की गयी हैं। ये सभी प्रतिमाएँ बारहवीं शताब्दी की हैं।

सिरपुर से प्राप्त प्रतिमा

पार्श्वनाथ : पार्श्वनाथ की इस प्रतिमा (०००३; ऊँचाई १.०८ मी०) में तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में दिखाया गया है। तीर्थंकर के सिर पर सप्त-फणी नाग-छत्र है। नाग की समानांतर कुछ कुण्डलियाँ ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे वे तीर्थंकर के पीछे तकिये का कार्य दे रही हों और किनारों पर उत्कीर्ण मकर की आकृतियाँ तीर्थंकर के आसन की पीठ की रचना करती दिखाई दे रही हैं। तीर्थंकर का मुख, हाथ और घुटने खण्डित हैं। तीर्थंकर के वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न और हथेलियों पर चक्र अंकित हैं। उनके घुंघराले बाल उष्णीष में आबद्ध हैं। इस प्रतिमा का पादपीठ अत्यंत खण्डित है।

कारीतलाई से प्राप्त प्रतिमाएं

कलचुरियों के काल में कारीतलाई जैनों का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र था। यहाँ पर बड़ी संख्या में जैन प्रतिमाएँ प्राप्त की गयी थीं जिनमें से तैंतीस प्रतिमाएं इस संग्रहालय द्वारा प्राप्त की गयीं।

ऋषभनाथ की प्रतिमाएँ : संग्रहालय में ऋषभनाथ की पाषाण निर्मित छह प्रतिमाएँ हैं। इनमें से एक प्रतिमा (२५३७; ऊँचाई १.३५ मी०) में ऋषभनाथ पद्मासन-मुद्रा में एक अलंकृत उच्च पादपीठ पर बैठे हैं। तीर्थंकर का सिर, दायाँ हाथ और बायाँ घुटना खण्डित है। वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न और सिर के पीछे भामण्डल अंकित है। भामण्डल के ऊपर एक तिहरा छत्र है जिसके दोनों पार्श्वों में गज पर आरूढ़ एक-एक आकृति प्रदर्शित है। छत्र के ऊपर एक दुंदुभिवादक है। गजों के नीचे माला-धारी विद्याधर-दंपति अंकित है। विद्याधरों के नीचे सौधर्म एवं ईशान स्वर्गों के इंद्र चमर धारण किये खड़े हैं। पादपीठ पर वृषभ और उसके नीचे धर्मचक्र है जिसके पार्श्वों में एक-एक सिंह अंकित हैं। सिंहासन के दायीं ओर के कोने पर गोमुख यक्ष तथा बायीं ओर के कोने पर चक्रेश्वरी यक्षी ललितासन-मुद्रा में बैठी है। ऋषभनाथ की दूसरी प्रतिमा (२५७६; ऊँचाई १.३२ मी०) पूर्वोक्त प्रतिमा की ही भाँति है। इस प्रतिमा में तीर्थंकर के दोनों हाथ और घुटने खण्डित हैं। यक्षी चक्रेश्वरी को गरुड पर आरूढ दिखाया गया है। ऋषभनाथ की शेष चारों प्रतिमाओं (००३३, २५२५, २५४८ तथा २५९४) में तीर्थंकर को पद्मासन-मुद्रा में दिखाया गया है। एक प्रतिमा (००३३; ऊँचाई ७४ सें० मी०) के पादपीठ पर बायें सिरे पर चक्रेश्वरी के स्थान पर अंबिका अंकित है जबकि दूसरी प्रतिमा (२५४८) के सिंहासन में सिंहों के साथ दो हाथी भी अंकित हैं।

शांतिनाथ की प्रतिमाएँ : शांतिनाथ की एक प्रतिमा (२५३८) में उन्हें कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है। पादपीठ पर उनका लांछन हिरण अंकित है। पार्श्ववर्ती सिंहों के अतिरिक्त यक्ष गरुड़ और यक्षी महामानसी भी अंकित हैं।

पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ : संग्रहालय में संरक्षित पार्श्वनाथ की पाँचों प्रतिमाएँ कारीतलाई से प्राप्त हैं। इनमें दो प्रतिमाएँ (००३५; ऊँचाई १.०४ मी० तथा २५७७; ऊँचाई १.३७ मी०) वस्तुतः पार्श्वनाथ के चतुर्विंशति-पट्ट हैं। पहली प्रतिमा में पार्श्वनाथ को सप्त-फणी नाग-छत्र के नीचे पद्मासन-मुद्रा में दर्शाया गया है। तीर्थंकर की दायीं ओर नौ और बायीं ओर आठ लघु तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं। शेष छह तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ छत्र के ऊपरी किनारे पर एक पंक्ति में अंकित रही होंगी क्योंकि यह भाग खण्डित है। पादपीठ पर धरणेंद्र और पद्मावती को बैठे हुए अंकित दिखाया गया है जिनके ऊपर नाग-फणों के छत्र हैं। पार्श्वनाथ की शेष दो प्रतिमाएँ (२५५३ तथा २५५१) खण्डित हैं।

महावीर की प्रतिमा : इस संग्रहालय की सर्वोत्तम प्रतिमाओं में एक प्रतिमा (००३६; ऊँचाई १.०१ मी०) महावीर की है जो श्वेत बलुए पत्थर से निर्मित है। महावीर एक उच्चासन पर ध्यान-मुद्रा में उत्थित-पद्मासनस्थ हैं (चित्र ३७३ क)। उनके घुँघराले बाल उष्णीष में आबद्ध हैं। उनके वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न है। प्रतिमा का ऊपरी और दायाँ भाग खण्डित है जिसपर प्रभामण्डल और प्रातिहार्य की अन्य आकृतियाँ अंकित रही होंगी क्योंकि तीर्थंकर के ठीक दायीं ओर अंकित कुछ तीर्थंकर-आकृतियाँ दिखाई देती हैं। इससे प्रतीत होता है कि यह भी एक चतुर्विंशति-पट्ट था। पादपीठ पर चक्र और तीर्थंकर का लांछन सिंह अंकित है। दो सिंहों के बीच में सिंहासन प्रदर्शित है। चक्र और लांछन के ठीक नीचे एक लेटी हुई महिला की[1] आकृति है जो संभवतः इस प्रतिमा की दानदात्री की आकृति होगी। पादपीठ के किनारों पर यक्ष मातंग और यक्षी सिद्धायिका अंकित हैं जिनके नीचे दोनों ओर एक-एक उपासक हैं।

अन्य तीर्थंकर प्रतिमाएँ : इस संग्रहालय में तीर्थंकरों की चार प्रतिमाएँ और हैं जिन्हें पहचाना नहीं जा सका है। इनमें से एक लाल बलुए पत्थर की प्रतिमा (२५२३; ऊँचाई १.३७ मी०), जिसमें तीर्थंकर को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है, इस संग्रहालय की एक श्रेष्ठ प्रतिमा है। इसके लिए दसवीं शताब्दी का समय निर्धारित किया जा सकता है। पादपीठ पर अष्टग्रह अंकित हैं। अन्य दो प्रतिमाएँ (२६०४ तथा १६०९) किन्हीं तीर्थंकर-प्रतिमाओं के खंडित शीर्ष हैं जबकि एक अन्य प्रतिमा (२५८०) किसी स्तंभ का भाग है जिसपर कायोत्सर्ग-मुद्रा में तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण है।

द्वि-मूर्तिकाएँ आदि प्रतिमाएँ : यहाँ पर पाँच द्वि-मूर्तिकाएँ हैं जिनमें विभिन्न तीर्थंकरों को कायोत्सर्ग-मुद्रा में दर्शाया गया है। एक या दो प्रतिमाओं पर संक्षिप्त अभिलेख भी अंकित हैं जो

1. एक-तीर्थंकर (मुनिसुव्रत) प्रतिमा के अधोभाग में लेटी हुई एक महिला-आकृति (यक्षी बहुरूपिणी के लिए द्रष्टव्य प्रथम भाग, पृ 172 पाद-टिप्पणियाँ तथा चित्र 90—संपादक.]

अस्पष्ट हैं। लाल कैमूर बलुए पत्थर की द्वि-मूर्तिका (२५५७, ऊँचाई १.३८ मी०) पर अजितनाथ और संभवनाथ (चित्र ३७३ ख) अंकित हैं जबकि श्वेत बलुए पत्थर से निर्मित द्वि-मूर्तिकाओं में ऋषभनाथ और अजितनाथ पुष्पदंत और शीतलनाथ, धर्मनाथ और शांतिनाथ तथा मल्लि-नाथ और मुनि सुव्रतनाथ (प्रत्येक की ऊंचाई १.०७ मी०) अंकित हैं। इन समस्त प्रतिमाओं में तीर्थंकरों के ऊपर तिहरे छत्र, भामण्डल, उड़ते हुए विद्याधर, इंद्र तथा तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षी आदि अंकित हैं। दो अन्य द्वि-मूर्तिका प्रतिमाएं (२६०५ तथा २६१०) बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गयी हैं। इन प्रतिमाओं के आधार पर यह अनुमान गलत न होगा कि कारीतलाई स्थित जैन मंदिर में संभवतः समस्त चौबीसों तीर्थंकरों की द्वि-मूर्तिका प्रतिमाएँ स्थापित रही होंगी।

इन द्वि-मूर्तिकाओं के अतिरिक्त संग्रहालय में एक ऐसी प्रतिमा का खण्ड (२५६५; चौड़ाई ६१ सें० मी०) भी है जो संभवतः त्रि-मूर्तिका प्रतिमा का ऊपरी भाग है जिसपर तीन अचिह्नित तीर्थंकर कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित हैं।

सर्वतोभद्रिका : एक चौमुख प्रतिमा (२५५५; ऊँचाई ६८.५ सें०मी०) में चारों सतहों पर पद्मा-सन तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं (चित्र ३७४ क)। इनमें से पार्श्वनाथ को उनके नाग-फण छत्र के आधार पर पहचाना जा सकता है। शेष तीर्थंकर संभवतः ऋषभनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर हो सकते हैं।

सहस्रकूट : संग्रहालय में चार सहस्रकूट प्रतिमाएं हैं जिनमें से सबसे ऊँची प्रतिमा (२५१६; ऊँचाई ८६ सें० मी०) पर सात सतहों में एक सौ साठ तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं। दूसरे सहस्र-कूट (२५३७; ऊँचाई ७६ सें० मी०) पर छह सतहों पर एक सौ चवालीस तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं। शेष दोनों सहस्रकूटों (२५४१ तथा २५४०) पर पांच सतहों में क्रमशः एक सौ सोलह और एक सौ चौंसठ तीर्थंकर-प्रतिमाएँ हैं। तुलनीय प्रथम भाग में चित्र ६६।

अंबिका यक्षी प्रतिमाएं : बाईसवें तीर्थंकर की यक्षी आम्रा या अंबिका की तीन प्रतिमाएँ इस संग्रहालय में संरक्षित हैं जिनमें से एक प्रतिमा (००६७; ऊँचाई ४०.५ सें० मी०) सफेद धब्बेदार लाल बलुए पत्थर से निर्मित है जिसमें यक्षी को उसके वाहन सिंह पर ललितासन-मुद्रा में दर्शाया गया है (चित्र ३७४ ख)। यक्षी के दायें हाथ में आम्र-लुंबी है। उसका कनिष्ठ शिशु प्रियंकर उसकी गोद में बैठा है जिसे वह बायें हाथ से सहारा दिये हुए है, जबकि उसका ज्येष्ठ शिशु शुभंकर दायें पैर के समीप खड़ा है। यक्षी के पार्श्व में दोनों ओर एक-एक सेविका खड़ी है। यक्षी आभूषणों से भली-भाँति अलंकृत है और उसके चेहरे पर आनंददायी मधुर मुसकान है। प्रतिमा का ऊपरी भाग खण्डित है। दूसरी प्रतिमा (००३४; ऊँचाई ६१.५ सें० मी०) में यक्षी एक सादा पादपीठ पर आम्र-वृक्ष के नीचे त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी है। उसके दाये हाथ में आम्र-गुच्छ है। उसका कनिष्ठ शिशु गोद में और ज्येष्ठ उसके समीप बायीं ओर खड़ा है। उसके सिर के ऊपर पुष्पित वृक्ष के मध्य पद्मासन नेमिनाथ की प्रतिमा अंकित है। यक्षी के बायीं और दायीं ओर क्रमशः एक हाथ जोड़े दाढ़ी वाला उपासक तथा एक उपासिका खड़ी है। यक्षी का वाहन सिंह उसके पैरों के नीचे अंकित

है। तीसरी प्रतिमा (२६८१; ऊँचाई ४८ सें० मी०) का द्वार-भाग खण्डित है जिसमें एक तोरण के नीचे अंबिका और पद्मावती बैठी हुई हैं।

सरस्वती : लाल बलुए पत्थर की एक सरस्वती-प्रतिमा (२५२४; ऊँचाई ७६ सें० मी०) में चतुर्भुजी विद्यादेवी को ललितासन-मुद्रा में बैठे दिखाया गया है। यह प्रतिमा अत्यंत क्षतिग्रस्त हो चुकी है जिसमें उसका सिर और हाथ खण्डित है तथापि निचले बायें हाथ में पकड़ी हुई वीणा तथा ऊपरी बायें हाथ देखे जा सकते हैं।

रतनपुर से प्राप्त प्रतिमाएँ

ऋषभनाथ की प्रतिमाएँ : इस संग्रहालय में ऋषभनाथ की दो प्रतिमाएँ हैं जो मूलतः बिलासपुर जिले के रतनतुर से प्राप्त की गयी हैं। इनमें से एक प्रतिमा (०००१; ऊँचाई १.०४ मी०) में तीर्थंकर अलंकृत आसन पर तिहरे छत्र के नीचे पद्मासन-मुद्रा में बैठे हुए हैं। उनकी नाक और होठ खण्डित हैं। उनके सिर के पीछे प्रभा-मण्डल तथा वक्ष पर श्री-वत्स चिह्न अंकित है। छत्र के पार्श्व में दोनों ओर हाथी हैं जिनपर एक-एक व्यक्ति आरूढ़ है। हाथियों के नीचे के फलक में उड़ते मालाधारी-पुरुष और नारी-विद्याधरों की आकृतियाँ हैं। इनके नीचे तीर्थंकर के पार्श्व में क्रमशः दायीं और बायीं ओर सौधर्म और ईशान स्वर्गों के इंद्र खड़े हुए हैं। अलंकृत आसन पर उनका लांछन वृषभ अंकित है। वृषभ के सामने और पीछे तीर्थंकर की उपासनारत क्रमशः उपासक और उपासिका की आकृति है। पादपीठ पर धर्म-चक्र अंकित है जिसके पार्श्व में बैठा हुआ सिंह प्रदर्शित है। पादपीठ के कोनों पर दायीं और बायीं ओर क्रमशः गोमुख और चक्रेश्वरी अंकित हैं जो दोनों ललितासन-मुद्रा में हैं। दूसरी प्रतिमा (०००२; ऊँचाई ८१ सें० मी०) पूर्वोक्त प्रतिमा की भाँति ही है परंतु यह प्रतिमा अत्यंत क्षतिग्रस्त है। इसमें तीर्थंकर के सिर पर इकहरा छत्र अंकित है।

चंद्रप्रभ की प्रतिमा : काले पत्थर की इस प्रतिमा (०००७; ऊँचाई ७३.५ सें० मी०) में चंद्रप्रभ ध्यान-मुद्रा में पद्मासनस्थ हैं। यद्यपि यह प्रतिमा खण्डित हो चुकी है तथापि अलंकृत आसन पर अंकित तीर्थंकर के लांछन नवोदित चंद्रमा के आधार पर इसे चंद्रप्रभ की प्रतिमा के रूप में पहचाना जा सकता है। उनके यक्ष-यक्षी भी पादपीठ के कोनों पर बैठे हुए हैं।

आरंग से प्राप्त प्रतिमाएँ : रायपुर जिले के आरंग से दो खण्डित प्रतिमाएँ (०१०४ तथा ०१०५) प्राप्त हुई हैं। संभवतः ये दोनों किन्हीं कायोत्सर्ग तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं।

बालचंद्र जैन

खजुराहो के संग्रहालय[1]

मंदिरों की बहिर्भित्तियों में खचित मूर्तियों के अतिरिक्त खजुराहो में सैकड़ों खण्डित-अखण्डित

---

1 [लेखक द्वारा प्रेषित एक अध्याय का संक्षिप्त रूप—संपादक.]

मूर्तियाँ बिखरी पड़ी हैं जिनसे प्रकट है कि खजुराहो में मंदिरों की संख्या उससे अधिक थी जितनी वह आज है (द्रष्टव्य अध्याय २२)। जैन मंदिर-समूह के प्राकार में भीतर की ओर तीन सौ से अधिक मूर्तियाँ और स्थापत्य संबंधी अवशेष जड़ दिये गये है (चित्र ३७५), जो एक प्रस्तावित संग्रहालय में प्रदर्शित किये जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ जैन कलावशेष खजुराहो के पुरातत्त्व संग्रहालय में भी प्रदर्शित हैं, जिसकी स्थापना १६६७ में उस सामग्री के लिए की गयी थी जो उसके पूर्व एक मुक्ताकाश संगृहालय में संग्रहीत थी। इन दोनों संग्रहालयों के अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण कलावशेषों का यहाँ एक सर्वेक्षण प्रस्तुत है। यहाँ प्रथम संग्रहालय को जैन संग्रह और द्वितीय को खजुराहो संग्रहालय नाम दिया जायेगा।

तीर्थंकर-मूर्तियाँ : तीर्थंकरों की मूर्तियों में अधिकतर ऋषभनाथ की हैं और उनमें भी अधिक उल्लेखनीय वे हैं जो आसीन-मुद्रा में हैं। उनमें सबसे बड़ी घण्टाई-मंदिर के निकट प्राप्त हुई थी और अब खजुराहो-संग्रहालय में (१६६७) है; उसके उच्च सिंहासन के एक कोण पर 'घण्टाई' शब्द उत्कीर्ण है और मध्य में धर्म-चक्र का अंकन है जिसके दायें एक सिंह और यक्ष गोमुख तथा बायें भी एक सिंह और यक्षी चक्रेश्वरी है। सुंदर पादपीठ पर नवग्रहों की प्रस्तुति है जो सूर्य से आरंभ होती है। तीर्थंकर की चारों ओर यथास्थान चमरधारी इंद्र, गज, व्याल, मकर आदि का आलेखन है। ऋषभनाथ की कलात्मक ढंग से काढ़ी गयी केश-राशि की कुछ लटें उनके कंधों पर आ गयी हैं। ऋषभनाथ की एक अन्य आसीन मूर्ति जैन संग्रह (१०३) में है, उसके पादपीठ पर भी गोमुख और चक्रेश्वरी हैं। चक्रेश्वरी अपने वाहन गरुड़ पर ललित-मुद्रा में आसीन है, उसके ऊपर के हाथों में गदा और शख है तथा नीचे का एक हाथ वरद-मुद्रा में है और दूसरे में शंख है। पादपीठ पर एक ककुद्मान वृषभ की एक ओर एक पुरुष और दूसरी ओर एक महिला का आलेखन है जो निश्चित रूप से उस मूर्ति के निर्माता-दंपति हैं। त्रिभंग-मुद्रा में खड़े इद्रों के हाथों में कमल है पर चमर नहीं जो साधारणतः होने चाहिए। उनके ऊपर, भामण्डल के दोनों ओर एक-एक गतिमान गज कलश धारण किये और एक-एक ओर विद्याधर-युगल माला धारण किये अंकित हैं। इनके ऊपर मालाएँ और छत्र धारण किये दो-दो गंधर्व हैं, जिनके ऊपर सूची, आमलक और कलश हैं। उद्घोषकों के दोनों ओर गंधर्व-कन्याएँ हाथों में वीणा धारण किये अंकित हैं। इसी संग्रह की दो और मूर्तियाँ (८ और २७) उल्लेखनीय हैं, यद्यपि वे खण्डित हैं। ऐसी ही तीन और मूर्तियाँ (१६१२, १७१२, १६४२) खजुराहो संग्रहालय में हैं जो मध्यकालीन कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसी संग्रहालय में ऋषभनाथ की जो सर्वाधिक सुंदर मूर्ति (१८३०, चित्र ३७६ क) है उसका सिंहासन गहराई तक उत्कीर्ण है और उसपर तीर्थंकर आसीन-मुद्रा में विराजमान है और उसके कीर्ति-मुख से एक माला लटक रही है। भामण्डल सात वृत्ताकारों से आलिखित है। कीर्ति-मुख से लटकती माला से छूता हुआ एक अश्वारोही अंकित है। मस्तक पर कमल के ऊपर छत्र है। तीनों विद्याधर मेघमाला में उड़ते हुए दिखाये गये हैं।

पार्श्वनाथ की एक उल्लेखनीय मूर्ति (चित्र ३७६ ख) प्रस्तुत लेखक को घण्टाई-मंदिर के समीप एक खेत में १६६६-६७ में प्राप्त हुई थी जो अब जैन संग्रह (१००) में है। लांछन सर्प की पूंछ

जैन संग्रह : खजुराहो : एक दृश्य

चित्र 375
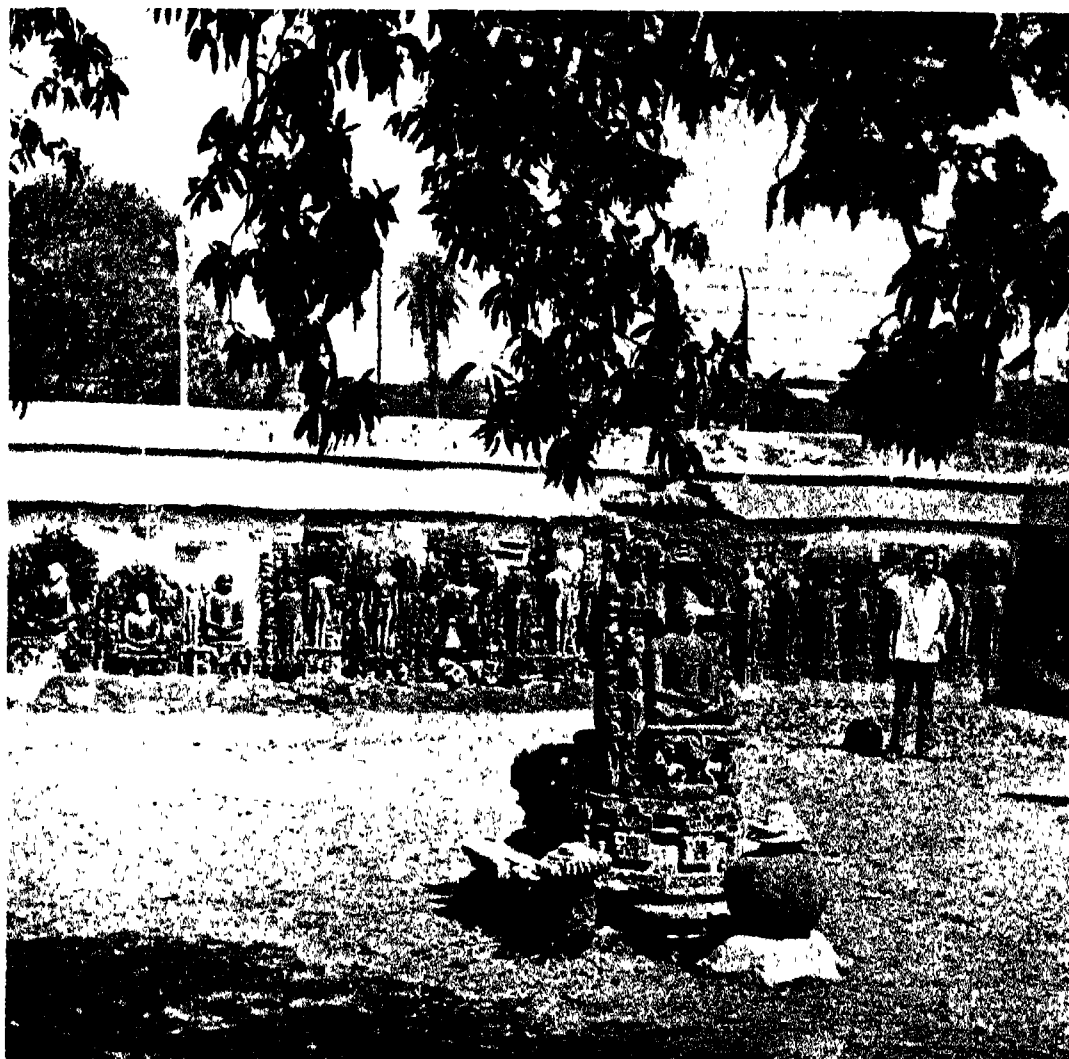
(क) खजुराहो संग्रहालय :
तीर्थंकर ऋषभनाथ

(ख) जैन संग्रहालय, खजुराहो :
तीर्थंकर पार्श्वनाथ

चित्र 376

(क) खजुराहो संग्रहालय : तीर्थंकर पार्श्वनाथ
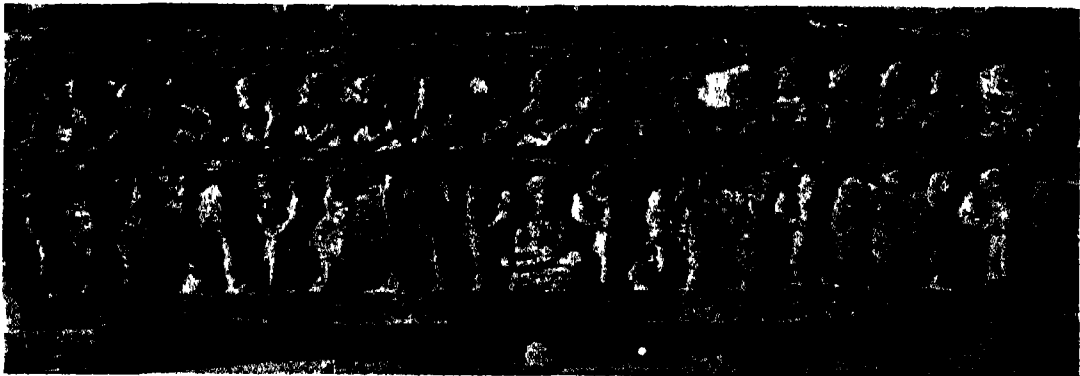
(ख) जैन संग्रहालय, खजुराहो : तोरण

चित्र 377

खजुराहो संग्रहालय : यक्षी अंबिका

(ख) खजुराहो संग्रहालय : तीर्थंकर ऋषभनाथ

चित्र 378

(क) देवगढ़ : तीर्थंकर

(ख) देवगढ़ : तीर्थंकर
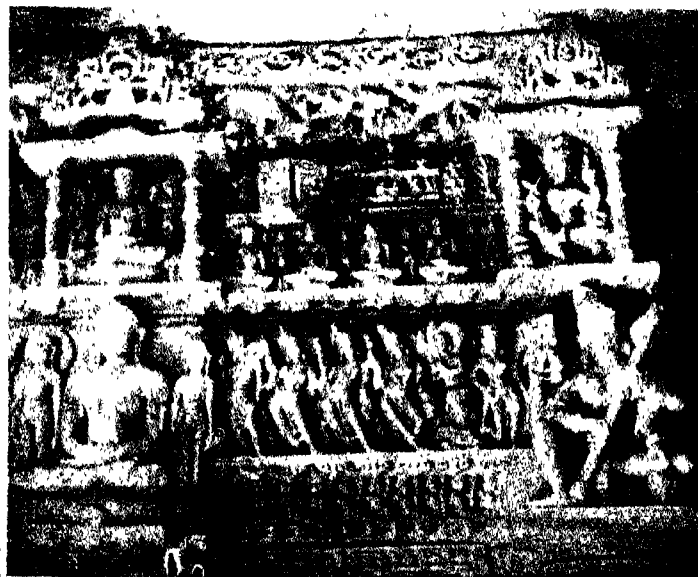
(ग) देवगढ़ : सरदल के एक खण्ड पर त्रि-मूर्तिका, अन्य तीर्थंकर, नवग्रह और यक्षियाँ

चित्र 379

(क) देवगढ़ : तीर्थंकर ऋषभनाथ

(ख) देवगढ़ : तीर्थंकर पार्श्वनाथ और ऋषभनाथ

(ग) देवगढ़ : यक्षी चक्रेश्वरी

चित्र 380

(क) देवगढ : उपाध्याय

(ख) देवगढ़ : बाहुबली

(ग) देवगढ़ : स्तंभ

चित्र 381

देवगढ़ : चक्रवर्ती भरत

चित्र 382

सिंहासन के आवरण पर फैली है। उसकी कुण्डलियाँ पार्श्वनाथ का आसन बनती हैं और फणावली उनके मस्तक पर वितान बनाये है। पृथक्-पृथक् सर्प-फणावली से मण्डित धरणेंद्र और पद्मावती सिंहासन पर पद्मासनस्थ है। पार्श्वनाथ के सिंहासन पर दोनों ओर एक-एक इंद्र है जिसके एक हाथ में कमल और दूसरे में चमर है। इस शिला के एक किनारे एक पट्टी में गज, व्याल, मकर आदि के अंकन हैं। फणावली के दोनों ओर, यक्षों के ऊपर गज है और छत्र के दोनों ओर देव और विद्या-धर हैं जिनके हाथों में संगीत-वाद्य तथा मालाएँ हैं। तीर्थंकर के अवयव सानुपात हैं। केश-राशि उष्णीष-बद्ध है। खजुराहो संग्रहालय की एक उल्लेखनीय पार्श्वनाथ-मूर्ति (१६५४,चित्र ३७७ क) खड्गासन-मुद्रा में है जिसके यक्ष और यक्षी भी दिखाये गये हैं। इसमें जो उल्लेखनीय है वह है सभी नौ ग्रहों की प्रस्तुति जबकि पार्श्वनाथ से सर्वाधिक संगति सूर्य की है, जिसकी उपासना रविवार के दिन की जाती है। कदाचित् यह मूर्ति किसी विशेष अनुष्ठान के लिए बनायी गयी होगी।

खजुराहो में यद्यपि शांतिनाथ की भी मूर्तियाँ बनीं परंतु यहाँ के दोनों संग्रहों में इस तीर्थंकर की एक भी मूर्ति उल्लेखनीय नहीं। महावीर की मूर्तियाँ यहाँ अधिक नहीं बनीं, वे केवल बीस मिली हैं। खजुराहो-संग्रहालय की एक महावीर-मूर्ति (४५७) पर 'प्रणमति वीरनाथदेव' शब्द उत्कीर्ण है। दूसरे अभिलेख 'रूपकार कुमारसीह' को मूर्तिकार का नामोल्लेख माना जा सकता है। महावीर की कुछ मूर्तियाँ और भी हैं (खजुराहो संग्रहालय की १६३१, १६३७,१६८६ तथा जैन संग्रह की कुछ क्रमांक-रहित)। यदि यह परंपरागत मान्यता स्वीकार्य हो कि सभी लांछन-रहित मूर्तियाँ महावीर की होती हैं, तो इस तीर्थंकर की मूर्तियाँ एक सौ से अधिक होंगी।

जैन संग्रह में एक ऐसा कलावशेष (१०२,चित्र ३७७ ख) है जिसे किसी मूर्ति के तोरण का ऊपरी भाग माना जा सकता है, उसके मध्य में एक तीर्थंकर की आसीन मूर्ति उत्कीर्ण है जिसकी पूजा के लिए आते गजारोही नृप अंकित हें, गज शुण्डा-दण्डों से कमल धारण किये हैं। ऊपरी पट्टी में दोनों ओर हाथों में मालाएं और कमल धारण किये विद्याधर तथा संगीत-वाद्य बजाते हुए आठ गंधर्व दिखाये गये हैं। यह दृश्य तीर्थंकरों के जन्म-कल्याणक का हो सकता है।

यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ : खजुराहो में धरणेंद्र, पद्मावती की अनेक मूर्तियाँ है जिनमें सर्वाधिक सुंदर वह (प्रथम खण्ड में चित्र १६३) है जो शांतिनाथ मंदिर में प्रांगण में उत्तर-पश्चिम कोण पर दीवाल में जड़ दी गयी है, और जिसे कभी तीर्थंकर के माता-पिता माना जाता रहा। दोनों पृथक्-पृथक् कलापूर्ण आसनों पर इस तरह आसीन हैं कि उनका बायाँ पैर मुड़ गया है और दायाँ कमल पर रखा गया है। धरणेंद्र घुटनों तक धोती पहने है और उसका उत्तरीय कंधों पर से पैरों तक लटका है। उसके दायें हाथ में नारिकेल है और बायें में कमल जो अब खण्डित है। पद्मावती की कढ़ी हुई साड़ी उसके पैरों तक है और उत्तरीय उसकी भुजाओं को छूता हुआ पैरों तक आ गया है। विपुल आभूषणों से मण्डित यह देवी दायें हाथ में नारिकेल और बायें में शिशु को धारण किये है। यक्ष-यक्षी के पीछे पृथक्-पृथक् भामण्डल है और उनके मध्य एक वृक्ष का अंकन है जिसके अग्रभाग पर एक तीर्थंकर-मूर्ति उत्कीर्ण है। तीर्थंकर की दोनों ओर सामान्य रूप से द्रष्टव्य विद्याधर आदि की सुंदर

प्रस्तुति है। नीचे पादपीठ के दोनों ओर एक-एक चमरधारिणी और दो-दो पुरुष-आकृतियाँ अंकित हैं। मध्य में एक देवता और दो बद्धांजलि परिचारक हैं। खजुराहो संग्रहालय में एक धरणेंद्र-पद्मावती-मूर्ति (१६०६) है पर वह उतनी कलात्मक नहीं है। ज्यामिति के आधार पर अंकित वृक्ष की पंक्तियाँ प्रभावहीन हैं, यही स्थिति उनके पादपीठ और परिकर की है और उनके वस्त्र और आभूषण भी सूक्ष्मता से आलिखित नहीं हैं।

खजुराहो संग्रहालय में अंबिका की एक सुंदर मूर्ति (१६०८) है जो गहरे लाल रंग के बलुआ पाषाण से निर्मित है। यह देवी आम्रवृक्ष के नीचे खड़ी है जो फलों से लदा है और जिसके अग्रभाग पर नेमिनाथ विराजमान हैं। उसके तीन हाथ खण्डित हैं और एक की अंगुलि पकड़कर उसका वरिष्ठ पुत्र शुभंकर उसके पास खड़ा है। उसका कनिष्ठ पुत्र प्रियंकर और वाहन सिंह उसके बायें अंकित है। पाँच देवियों का एक-एक समूह दोनों ओर खड़ा अंबिका की परिचर्या में संलग्न है। देवी के अवयव सानुपात हैं, उसे विपुल आभूषणों से अलंकृत दिखाया गया है और उसकी केश-सज्जा आकर्षक है। इससे भी बड़ी एक अंबिका-मूर्ति जैन चारदीवारी में स्थित कुँए की दीवाल में लगी है। जिसके अग्रभाग पर तीर्थंकर पद्मासन में विराजमान हैं ऐसे आम्रवृक्ष के नीचे त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी देवी के पीछे एक अण्डाकार भामडण्ल है, मस्तक पर सुंदर मुकुट है और उसका शरीर सभी अलंकारों से आभूषित है; यद्यपि, उसके चारों हाथ खण्डित हैं। उसका एक पुत्र और सिंह बायें और एक दंपति नीचे प्रस्तुत हैं। पादपीठ पर तीन पंक्तियों का एक अभिलेख है जो अब अस्पष्ट हो गया है पर उसका संवत् (विक्रम) १२१६ पढ़ा जा सकता है। उसी पर दूसरी ओर एक और अभिलेख है जिसके शब्द कदाचित् 'रूपकर-लत' हैं जो मूर्तिकार के नाम का संकेत करते हैं। जैन संग्रह में भी अंबिका की एक महत्त्वपूर्ण मूर्ति (४२) है जो आम्रवृक्ष के नीचे त्रिभंग-मुद्रा में खड़ी है। एक दायें हाथ में वह आम्रलुब धारण किये है (दूसरा दायाँ हाथ खण्डित है) और बायें ऊपर के हाथ में कमल और निचले में पुत्र शुभंकर को लिये है। दूसरा पुत्र प्रियकर फल लिये उसके पास खड़ा है। अंबिका की कुछ और मूर्तियाँ खजुराहो संग्रहालय (८२० जिसमें पादपीठ पर एक दंपति और चमरधारिणियाँ अंकित हैं और देवी के हाथों में कमल है; १४६७, चित्र ३७८ क; और १६०८ जो महत्त्वपूर्ण नहीं है) और जैन संग्रहालय (६६) में हैं।

खजुराहो संग्रहालय में एक सुंदर सरदल (१४६७) है जिसपर अंबिका, चक्रेश्वरी और पद्मावती अपने-अपने परिकर के साथ अंकित हैं (चित्र ३७८ क), यह चंदेल-कला का एक अच्छा उदाहरण है। एक व्यंतर शाखा के नीचे ललितासनस्थ नवग्रह प्रस्तुत हैं। जैन संग्रह में एक सिंहासन (८५) है जिसपर चक्रेश्वरी की आकर्षक मूर्ति उत्कीर्ण है। इसके बारहों हाथ और दोनों पैर खण्डित हैं, वह गरुड़ पर आसीन है, ऊपर एक तीर्थंकर के दोनों ओर अन्य तीर्थंकरों की एक-एक खण्डित मूर्ति है जो कदाचित् ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ हैं। इसी संग्रह के एक सरदल पर चक्रेश्वरी अंकित है जिसकी दोनों ओर अंबिका की एक-एक मूर्ति पृथक्-पृथक् खण्डों में उत्कीर्ण है। ऋषभनाथ की अधिकांश मूर्तियों के पादपीठ पर गोमुख और चक्रेश्वरी की लघु आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। खजुराहो संग्रहालय की वह मूर्ति (१६०१) बहुत ऊँची होने से उल्लेखनीय है जो किसी शासनदेवी की है

(यह कदाचित् चक्रेश्वरी है क्योंकि उसके ऊपर नवग्रहों की प्रस्तुति है)। इसी संग्रहालय में ऋषभनाथ की एक सुंदर मूर्ति (१६५१) है जिसका पादपीठ दो कारणों से महत्त्वपूर्ण है, प्रथम इसलिए कि उसपर सिंहों के स्थान पर एक-एक देवी अंकित है और दूसरे इसलिए कि उस पर गोमुख और चक्रेश्वरी की प्रस्तुति अत्यंत सुंदर बन पड़ी है, यद्यपि वे कुछ-कुछ खण्डित हो गये हैं (चित्र ३७८ ख)।

दिक्पाल : खजुराहो के संग्रहालयों में दिक्पालों की मूर्तियाँ भी हैं। यह उल्लेखनीय है कि पार्श्वनाथ-मंदिर में ये यथास्थान प्रस्तुत किये गये हैं पर आदिनाथ-मंदिर में उनका स्थान यक्ष गोमुख ले लेता है।

तोरण आदि : खजुराहो में अनेक तोरण प्राप्त हुए हैं जो कदाचित् वेदियों या बड़ी मूर्तियों पर रहे होंगे। जैन संग्रह में ऐसे पाँच तोरण हैं। खजुराहो संग्रहालय का एक सरदल (१७२४) इसलिए उल्लेखनीय है क्योंकि उसपर कुछ तीर्थंकरों के अतिरिक्त भरत और बाहुबली का भी अंकन है।

नीरज जैन

देवगढ़ के संग्रहालय[1]

ब्राह्मण और जैन मंदिरों के कारण विख्यात देवगढ़, जिला ललितपुर, अपनी मूर्ति-संपदा के कारण भी सुपरिचित है जो सातवीं-आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक निर्मित हुई। यद्यपि, यह विश्वास भी किया जाता है कि यहाँ निर्माण-कार्य गुप्त काल (चित्र ३७८ ख) में[2] आरंभ हो गया था और लगभग मुगल काल तक चलता रहा।

यहाँ बिखरी मूर्तियों को एकत्र करके उनसे मंदिरों की चारों ओर एक चहारदीवारी बना दी गयी है और कुछ को देवगढ़ में ही निर्मित साहू जैन संग्रहालय में रखा गया है; इसके अतिरिक्त एक शासकीय संग्रह भी है। राज्य संग्रहालयों, लखनऊ और समंतभद्र विद्यालय, दिल्ली के संग्रहालयों में भी देवगढ़ की कुछ कलाकृतियाँ हैं।

देवगढ़ के जैन शिल्प में तीर्थंकरों, शासनदेवियों, चतुर्विंशति-पट्टों, विद्याधरों, सर्वतोभद्रिकाओं, सहस्रकूटों, आचार्यों, उपाध्यायों, मानस्तंभों, स्तंभों, और श्रावक-श्राविकाओं के विविध रूप तो दृष्टिगत होते ही हैं, विभिन्न मूर्तिशास्त्रीय अंकन भी विद्यमान हैं। इन मूर्तियों में उत्तर-गुप्त-प्रतीहार और चंदेल-शैलियों का प्रभाव देखा जा सकता है।

---

1 लेखक द्वारा प्रेषित एक अध्याय का संक्षिप्त रूप—संपादक.

2 लेखक का कथन है कि देवगढ़ में एक मौर्यकालीन अभिलेख है और कुछ मूर्तियों पर (जैसे एक तीर्थंकर-मूर्ति, चित्र 379क) गंधार-कला का प्रभाव है.—संपादक.

देवगढ़ में अधिकतर मूर्तियाँ तीर्थंकरों की हैं; उनमें भी अधिकतर आदिनाथ (चित्र ३८०, क, ख), पार्श्वनाथ (चित्र ३८० ख), नेमिनाथ, सुमतिनाथ और महावीर की हैं। अधिकांश तीर्थंकर-मूर्तियाँ शिलापट्टों में उत्कीर्ण की गयी हैं, और उनके अन्य रूप में हैं चतुर्विंशति-पट्ट, द्वि-मूर्तिका, (चित्र ३७९ ग) और सर्वतोभद्रिका। एक स्तंभ पर तीर्थंकरों की एक सौ छियत्तर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, इसके अतिरिक्त एक सहस्रकूट भी है।

तीर्थंकर-मूर्तियाँ अग्रलिखित महत्त्वपूर्ण हैं :

(१) सिंहासन पर पद्मासन में आसीन तीर्थंकर जिसके आसन पर दोनों ओर एक-एक सिंह और उनके मध्य एक धर्मचक्र अंकित है। यह अति खण्डित मूर्ति देवगढ़ की तीर्थंकर-मूर्तियों में कदाचित्र प्राचीनतम है और यह गुप्तकाल की मानी जानी चाहिए। यह अब मंदिर-१२ की चहारदीवारी में जड़ी हुई है ।

(२) एक तीर्थंकर (शांतिनाथ) की कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थित मूर्ति के पादपीठ पर बायें सिंह और दायें मृग का अंकन है, जो एक असामान्य विशेषता प्रतीत होती है।

चक्रेश्वरी देवी (चित्र ३८० ग) की दो मूर्तियाँ साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। इनमें से वह अत्यंत सुंदर कृति है जो पहले मंदिर-१२ के अंतराल में रखी थी। उसमें यह द्वादश-भुजी देवी अपने वाहन गरुड़ पर आसीन है और उसके एक हाथ में अक्षमाला, एक में शंख और सात में चक्र हैं, शेष हाथ खण्डित हैं, अंबिका की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण मूर्ति मंदिर-१२ के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर अंकित है।

धरणेंद्र-पद्मावती की (किसी समय ये तीर्थंकर के माता-पिता की मानी जाती रहीं) अनेक मूर्तियाँ हैं। ये दो प्रकार की हैं। पहले प्रकार में पद्मावती अपनी गोद में एक बालक को धारण किये हुए है और दूसरे प्रकार में वह अपने पति की बगल में या उसकी गोद में बैठी हुई है।

जैन अध्यापक (उपाध्याय) की मूर्ति (चित्र ३८१ क) भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है जो अब साहू जैन संग्रहालय के पीछे के जैन मंदिर में रखी है। उपाध्याय परमेष्ठी पद्मासनस्थ है और उस पर पाँच पंक्तियों का विक्रम संवत् १३३३ का एक अभिलेख है। साहू जैन संग्रहालय में इसी परमेष्ठी की एक अर्ध-पर्यंकासनस्थ मूर्ति है।

साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित भरत की कायोत्सर्ग-मूर्ति (चित्र ३८२) भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें नौ घटों के रूप में नव-निधियाँ अंकित की गयी हैं। आरंभिक मूर्तियों में एक बाहुबली (चित्र ३८१ ख) की है जो उस दशा में भी पूर्णतया ध्यानमग्न रहे दिखाये गये हैं जब दो नारियाँ उनके शरीर पर लिपटी लताओं को हटा रही होती हैं, यह मूर्ति साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित है।

भागचन्द्र जैन

(ख) शासकीय संग्रहालय, मद्रास : तीर्थंकर महावीर की कांस्य-मूर्ति (कागली)
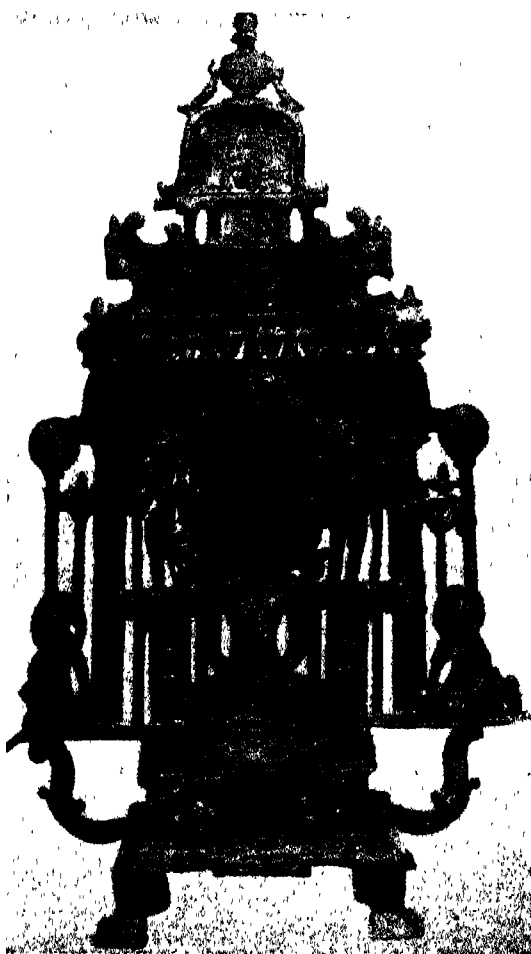
(क) शासकीय संग्रहालय, मद्रास : तीर्थंकर सुमतिनाथ की कांस्य-मूर्ति (कागली)

चित्र 383

(क) शासकीय संग्रहालय मद्रास : तीर्थंकर महावीर की कांस्य-मूर्ति (सिगनिकुप्पम्)

(ख) शासकीय संग्रहालय मद्रास : यक्षी अंबिका की कांस्य-मूर्ति (सिगनिकुप्पम्)

चित्र 384

तमिलनाडु के संग्रहालय

राजकीय, संग्रहालय, मद्रास[1] की कांस्य प्रतिमाएँ

तीर्थंकर-प्रतिमाएँ : सुमतिनाथ की एक कांस्य-प्रतिमा (३६-१/३५; ऊँचाई ३२.५ सें० मी०) बेल्लारी जिले के कोगली से प्राप्त की गयी है। इसमें सिंहासन पर पद्मासन-मुद्रा में तीर्थंकर को बैठे हुए दिखाया गया है। सिंहासन के मध्य में चक्र अंकित है। पादपीठ पर विमान के रूप में एक विस्तृत प्रभावली है जिसपर अन्य देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ अंकित हैं। यक्ष और यक्षी, यक्षी के समीप एक बौनी आकृति और दो चमरधारी सेविकाएँ तीर्थंकर के पार्श्व में अंकित हैं। तीर्थंकर तिहरे छत्र और भामण्डल से युक्त हैं। पादपीठ पर उत्कीर्ण कन्नड़ भाषा में लिखे अभिलेख में इस प्रतिमा के शिल्पी के नाम का उल्लेख है (चित्र ३८३ क)। कोगली से अन्य तीर्थंकर-प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं जिनमें से पार्श्वनाथ[2] की प्रतिमा (३६-१/३५; ऊँचाई २३.५ सें०मी०) में पंच-फणी नाग-छत्र के नीचे तीर्थंकर पद्मासन-मुद्रा में दिखाये गये हैं। महावीर की प्रतिमा में से एक प्रतिमा (३६-२/३५; ऊँचाई ३६.३ सें० मी०) में तीर्थंकर को आयताकार पादपीठ पर आधारित चार पैरों वाले सिंहासन पर पद्मासन में दर्शाया गया है। यक्ष और यक्षी पार्श्ववर्ती प्रक्षिप्तों को आधार प्रदान किये हैं। विस्तृत किन्तु खण्डित प्रभावली पर तेईस तीर्थंकर-प्रतिमाएँ अंकित हैं, जिनके शीर्ष-भाग पर पार्श्वनाथ प्रदर्शित हैं। महावीर के ऊपर तिहरा छत्र एवं पार्श्व में दोनों ओर चमरधारी सेवक हैं। यह प्रतिमा भली-भाँति परिष्कृत है। बाल घुँघराले गुच्छेदार हैं और लंबी लटाएँ दोनों कंधों पर लहरा रही हैं (चित्र ३८३ ख)। कोगली से ही प्राप्त एक दूसरी महावीर-प्रतिमा (३६-३/३५ ऊँचाई १३.३ सें० मी०) में तीर्थंकर पादपीठ पर रखे आसन पर बैठे हुए हैं। उनका लांछन सिंह घुटनों के बल से बैठे हुए दो उपासकों के मध्य में अंकित है। आसन पर आधृत प्रभा पर गंधर्व और हाथ में पुस्तक लिये विद्यादेवी प्रदर्शित है। तीर्थंकर के पार्श्व में दोनों ओर यक्ष खड़े हैं। महावीर की एक अन्य खण्डित प्रतिमा (३६-४/३५; ऊँचाई २९ सें० मी०) में तीर्थंकर सिंहासन पर बैठे हुए हैं। सिंहासन के सम्मुख-भाग में तीन सिंह हैं जिनमें से बीच का सिंह उनका लांछन है। खण्डित प्रभा पर एक तिहरा छत्र तथा एक दूसरा भामण्डल अंकित है। पादपीठ पर अंकित कन्नड़ अभिलेख में इस प्रतिमा की दानदाता महिला के नाम का उल्लेख है।

दक्षिण आर्काट जिले के सिंगनिकुप्पम् से प्राप्त प्रतिमाओं में महावीर की दो प्रतिमाएँ हैं। पहली प्रतिमा (३८६/५७; ऊँचाई ८४ सें० मी०) में तीर्थंकर को एक पद्म के आसन पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में खड़े हुए दर्शाया गया है। तीर्थंकर का दायाँ हाथ खण्डित है। यह प्रतिमा समानुपातिक, सुचिक्कण और आकर्षक है। इस प्रतिमा के लिए चौदहवीं शताब्दी के मध्य का समय निर्धारित किया जा सकता है (चित्र ३८४ क)। दूसरी प्रतिमा (३९०/५७; ऊँचाई १९ सें० मी०) धातु-

---

1 लेखक को यह सूचनाएँ राजकीय संग्रहालय, मद्रास के कला और पुरातत्त्व के संग्रहाध्यक्ष श्री वी० एन० श्रीनिवास देसीगन, जो इस संग्रहालय की कांस्य-प्रतिमाओं की सूची तैयार कर रहे हैं, द्वारा प्रदान की गयी हैं।

2. [सुपार्श्वनाथ ? – संपादक.]

निर्मित एक वृत्ताकार प्लेट पर खड़ी है। यह प्लेट संभवतः उस पादपीठ से संलग्न थी जो लुप्त हो चुका है। कोगली से प्राप्त कुछ अन्य तीर्थंकर-प्रतिमाएँ भी हैं जिन्हें पहचाना नहीं जा सकता तथा ये प्रतिमाएँ अन्य सामान्य आकृतियों से भी रहित हैं। रामनाथपुरम् जिले के शिवगंगा नामक स्थान से प्राप्त एक तीर्थंकर-प्रतिमा (ऊँचाई ३६ सें० मी०) में तीर्थंकर को एक सादा परंतु उत्तम रूप से निर्मित उच्च भद्रासन पर अर्ध-पर्यंकासन-मुद्रा में बैठे हुए दर्शाया गया है। आसन के पीछे दो चमरधारी करण्ड-मुकुट पहने त्रि-भंग-मुद्रा में समानुपातिक ढंग से खड़े हुए हैं। तीर्थंकर-प्रतिमा सुगठित है। आसन के पीछे किनारे पर सिंह का कला-प्रतीक अंकित है जो आसन को परंपरानुगत रूप से सिंहासन के रूप में दर्शाता है। पादपीठ के दोनों कोनों पर दो सिंह और अंकित हैं जिनके सिरों पर छोटी-छोटी कीलें लगी हुई हैं जो प्रभा को संयुक्त करने के लिए हैं। चमरधारियों के वस्त्राभूषण इस प्रतिमा के लिए उत्तर पाण्ड्य काल की तिथि, लगभग सन् १२०० का संकेत देते हैं।

उत्तर आर्काट जिले के तिरुमलै से प्राप्त दो सेवकों सहित पद्मासन चंद्रप्रभ की प्रतिमा (८/२७) तथा दक्षिण आर्काट जिले के गिडंगिल से हाल ही में प्राप्त तेरहवीं शताब्दी की ऋषभनाथ-प्रतिमा भी इस संग्रहालय की उल्लेखनीय प्रतिमाएँ हैं।

अंबिका यक्षी प्रतिमा : सिंगनिकुप्पम् से अंबिका यक्षी की एक खण्डित प्रतिमा (३२१/५७ ऊँचाई ८७.७ सें० मी०) प्राप्त हुई है। यक्षी भद्रासन पर आधारित एक सुंदर पद्म के आसन पर आकर्षक त्रि-भंग मुद्रा में खड़ी हुई है। भद्रासन का सम्मुख-भाग प्रक्षिप्त है। यक्षी का बायाँ हाथ त्रि-भंग मुद्रा में खड़ी माला-धारिणी मनोहर चेटी (सेविका) के सिर पर टिका हुआ है। यक्षी के दायीं ओर एक छोटा शिशु खड़ा है। यक्षी चौड़े-चौड़े गलहार, बाजूबंद तथा चूड़ियाँ पहने हुए है। यक्षी के अधोवस्त्र का छोर ढीला है जो लहरा रहा है तथा बगलों में फुंदनों से कसा हुआ है। आगे की ओर माला लटक रही है। तीर्थंकर की एक लघु प्रतिमा करण्ड-मुकुट धारण किये है। यह प्रतिमा लगभग तेरहवीं शताब्दी की है (चित्र ३८४ ख)।

राजकीय संग्रहालय, पुडुक्कोट्टै की कांस्य प्रतिमाएँ

इस संग्रहालय की समस्त जैन कांस्य-प्रतिमाएँ पुडुक्कोट्टै नगर के कलसक्कडु नामक स्थान से प्राप्त हुई हैं। पार्श्वनाथ की दो प्रतिमाओं (माप २०.३ तथा १० सें० मी०) में से पहली प्रतिमा प्रारंभिक तथा दूसरी उत्तरवर्ती शैली में है। ये दोनों ही प्रतिमाएँ पादपीठ पर नाग-फण छत्र के नीचे कायोत्सर्ग-मुद्रा में हैं। महावीर की प्रतिमा (माप १० सें० मी०) पादपीठ पर अर्ध-पर्यंकासन-मुद्रा में ध्यानस्थ है। चतुर्विंशति-पट्ट-प्रतिमा (माप ३७ सें० मी०) में मूलनायक ऋषभनाथ पादपीठ पर कायोत्सर्ग-मुद्रा में अंकित हैं। उनके चारों ओर प्रभा-मण्डल है जिसकी परिधि पर तेईस तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं।

के० आर० श्रीनिवासन्

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या[1]

अग्र-मण्डप : अर्थात् **मुख-मण्डप**; प्रवेश-मण्डप

अण्डक : लघु-शिखर की एक डिज़ाइन

अतिभंग : जिसमें अत्यधिक वक्रता हो

अधिष्ठान : मंदिर की गोटेदार चौकी, **वेदि-बंध** का पर्याय

अनर्पित-हार : विमान की मुख्य भित्ति से पृथक् स्थित एक **हार**

अंतरपत्र : दो प्रक्षिप्त गोटों के मध्य का एक अंतरित गोटा

अंतराल : **गर्भगृह** और मण्डप के मध्य का भाग

अभय : संरक्षण की सूचक एक हस्त-मुद्रा

अर्ध-मण्डप : एक खांचे वाला स्तंभाधारित मण्डप जो प्रायः प्रवेश-द्वार से संयुक्त होता है; अर्थात् **मुख-मण्डप**

अर्पित-हार : विमान की मुख्य भित्ति से संयुक्त एक हार

अश्व-थर : अश्वों की पंक्ति

अष्टापद : आठ पीठिकाओं से निर्मित एक विशेष पर्वत (या उसकी अनुकृति) जिसपर आदिनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया

आयाग-पट्ट : जैन मूर्तियों और प्रतीकों स अंकित शिला-पट्ट

आसन-पट्ट : **कक्षासन** या **चैत्य** (छज्जेदार) गवाक्ष का एक समतल गोटा

उत्तीर (तमिल) : मुख्य धरण या कड़ी

उद्गम : **चैत्य-तोरणों** की त्रि-कोणिका जो सामान्यत: **देव-कोष्ठों** पर **शिखर** की भाँति प्रस्तुत की जाती है

उपपीठ : दक्षिण-भारतीय **अधिष्ठान** के नीचे का उप-**अधिष्ठान**

उपान : दक्षिण भारतीय **अधिष्ठान** का सबसे नीचे का भाग या पाया जो उत्तर-भारतीय **खुर** से मिलता-जुलता है

उर:शृंग : मध्यवर्ती प्रक्षेप से संयुक्त कंगूरा

कक्षासन : छज्जेदार गवाक्ष के ढालदार तकिये का मुख्य गोटा

कट्टु (तमिल) : स्तंभ के ऊपर के और नीचे के दो चतुष्कोण भागों के मध्य का अष्टकोण भाग

कपोत : कार्निश की तरह का नीचे की ओर झुका हुआ वह गोटा जो सामान्यत: **चौकी** (**अधिष्ठान** या **वेदि-बंध**) के ऊपर होता है

---

1 स्थूल अक्षरों में मुद्रित शब्दों की व्याख्या यहीं यथास्थान दी गयी है।

कर्ण : कोण-प्रस्तर या कोना; कोण-प्रक्षेप

कर्ण-कूट : कर्ण या कोने के ऊपर निर्मित लघु मंदिर या कंगूरा

कर्ण-शृंग : कर्ण या कोने पर निर्मित कंगूरा

कर्णिका : असि-धार की तरह का गोटा; पतला पट्टी-जैसा गोटा

कलश : पुष्पकोश के आकार का गोटा, जिसका आकार घट के समान होता है ; दक्षिण-भारतीय स्तंभ-शीर्ष का सबसे नीचे का एक भाग

कायोत्सर्ग : खड्गासन की तरह का वह आसन जिसमें खड़ी हुई तीर्थंकर-मूर्तियाँ होती हैं

कीचक ऐटलस; एक बौना व्यक्ति जो भार को या भवन के ऊपरी भाग को धारण करता है

कीर्तिमुख : कला में प्रचलित एक प्रतीकात्मक डिजाइन जिसकी बनावट सिंह के शीर्ष की-सी होती है

कुंभ : **अधिष्ठान (वेदि-बंध)** का **खुर** के ऊपर का एक गोटा; दक्षिण-भारतीय स्तंभ-शीर्ष का एक ऊपरी भाग

कुंभिका : स्तंभ की अलंकृत चौकी

कूडु (तमिल) : वक्र कार्निस **(कपोत)** से आरंभ होने वाला एक ऐसा प्रक्षिप्त भाग जो तोरण के नीचे खुला होता है; अर्थात् **चैत्य-गवाक्ष**

क्षिप्त-वितान : नतोदर छत

खट्वांग : एक अस्थि पर टँगा नरमुण्ड (एक भयानक देवता की वस्तु)

खत्तक : अत्यंत अलकृत प्रक्षिप्त आला जो गवाक्ष से मिलता-जुलता है

खुर : **अधिष्ठान (वेदि-बंध)** का सबसे नीचे का गोटा

गजतालु : छत का एक अवयव जो मंजूषाकार सूच्यग्र के समान होता है

गज-थर : गजों की पंक्ति

गज-पृष्ठाकृति : गज-पृष्ठ के आकार का मंदिर; अर्ध-वृत्ताकार

गर्भगृह : मंदिर का मूल भाग या गर्भालय

गोपुर : मुख्य द्वार; प्रवेश-द्वार के ऊपर की निर्मिति

ग्रास-पट्टी : कीर्तिमुखों की पंक्ति

ग्रीवा : मुख्य निर्मिति के शिखर के नीचे का भाग

घट-पल्लव : पल्लवांकित घट की डिजाइन

चतुर्मुख : अर्थात् **चौमुख (खी)** या **सर्वतोभद्र**; मंदिरों या मंदिर या मंदिर-अनुकृति का ऐसा प्रकार जो चारों ओर अनावृत होता है

चतुर्विंशति-पट्ट : एक शिला या पंक्ति या मूर्ति-पट्ट जिसपर चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हों

चतुष्की : खांचा, चार स्तंभों के मध्य का स्थान; अर्थात् **चौकी**

चंद्र-शिला : सबसे नीचे का अर्ध-चंद्राकार सोपान

चैत्य-गवाक्ष : अर्थात् वह डिजाइन जिसे **कुडु** या चैत्य-वातायन कहते हैं

चौमुख (खी) : अर्थात् **चतुर्मुख**

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

छाद्य : छदितट-प्रक्षेप

जगती : ऐसा पीठ जो सामान्यतः गोटेदार होता है

जंघा : मंदिर का वह मध्यवर्ती भाग जो अधिष्ठान से ऊपर और शिखर से नीचे होता है

जाड्य-कुंभ : मध्यकाल के मंदिर में द्रष्टव्य पीठ (चौकी) का सबसे नीचे का गोटा

जालक : जाली जो सामान्यतः गवाक्ष में या शिखर पर होती है

जीवंतस्वामी : मुकुट और आभूषण धारण किये खड़े हुए महावीर की मूर्ति

तरंग : एक लहरदार डिजाइन जो पश्चिम के एक गोटे से मिलती-जुलती है

तरंग-पोतिका : तोड़ा-युक्त शीर्ष जिसका गोटा घुमावदार होता है

तल : मंदिर, विमान या गोपुर का एक खण्ड; अर्थात् भूमि। दक्षिण-भारतीय विमान में एक, दो या तीन या इससे भी अधिक तल हो सकते है। सबसे नीचे का खण्ड आदि-तल और मध्य का खण्ड मध्य-तल कहलाता है

ताडि (तमिल) : दक्षिण-भारतीय स्तंभ के शीर्ष का एक गद्दीनुमा भाग

तिलक . एक प्रकार की कंगूरों की डिजाइन

तोरण : अनेक प्रकारों और डिजाइनों का अलंकृत द्वार

त्रिक-मण्डप : तीन चतुष्कियों या खांचों सहित ऐसा मण्डप जिसका प्रचलन मध्य काल में, विशेषतः जैन मंदिरों में था

त्रिकूट : तीन विमान जो एक ही अधिष्ठान पर निर्मित हों या एक ही मण्डप से संयुक्त हों

त्रि-शाख : द्वार के तीन अलंकृत पक्खों के सहित चौखट

दण्ड-छाद्य : छत का सीधा किनारा अर्थात् छदितट-प्रक्षेप

देवकुलिका : लघु-मंदिर; भ्रमती के सम्मुख स्थित सह-मंदिर

नदीश्वर-द्वीप : जैन लोक-विद्या का आठवां महाद्वीप

नव-रंग : वह महा-मण्डप जिसमें चार मध्यवर्ती और बारह परिधीय स्तंभों की ऐसी सयोजना होती है कि उससे नौ खांचे बन जाते हैं

नर-थर : मानव-आकृतियों की पंक्ति

नाभिच्छन्द : एक प्रकार की अलकृत छत जिसपर मंजूषाकार सूच्यग्रों की डिजाइन होती है

नाल-मण्डप : अर्थात् बलानक या आवृत सोपान-युक्त प्रवेश-द्वार

नासिका : (शब्दार्थ—नाक) दक्षिण-भारतीय विमान का वह खुला हुआ भाग जो प्रक्षिप्त और तोरण-युक्त होता है अल्प-नासिका या क्षुद्र-नासिका उससे लघुतर और महानासिका बृहत्तर होती है

निरंधार-प्रासाद : प्रदक्षिणा-पथ से रहित मंदिर

निषद्या, निषेधिका, : जैन महापुरुष का स्मारक-स्तंभ या शिला

नृत्य-मण्डप : अर्थात् रंग-मण्डप; परिस्तंभीय सभा-मण्डप

पंच-तीर्थिका : पांच तीर्थंकर-मूर्तियों से सहित पट्ट

पंच-मेरु : जैन परंपरा के पांच मेरुओं की अनुकृति

पंच-रथ : पाँच प्रक्षेपों सहित मंदिर

पंच-शाखा : द्वार की पाँच अलंकृत पक्खों सहित चौखट

पंचायतन : चार लघु मंदिरों से परिवृत मंदिर

पंजर : लघु अर्ध-वृत्ताकार मंदिर; अर्थात् नीड

पट्ट : अलंकरण से रहित या सहित पट्टी

पट्टिका : शिला-सदृश गोटा; सबसे ऊपर का एक गोटा

पत्र-लता : पत्रांकित लताओं की पंक्ति

पत्र-शाखा : प्रवेश-द्वार का वह पक्खा जिसपर पत्रांकन होता है

पद्म : कमलाकार गोटा या एक भाग; दक्षिण-भारतीय फलक को आधार देने के लिए बनाया जाने वाला एक कमलाकार शीर्ष-भाग

पद्म बंध : एक अलकृत पट्टी जो दक्षिण-भारतीय स्तंभ के मध्य-भाग और शीर्ष-भाग के मध्य में होती है

पद्म-शिला : छत का अत्यलंकृत कमलाकार लोलक

परिकर : मूर्ति के साथ की अन्य आकृतियाँ

पाश : जाल या फंदा

पीठ : चौकी या पाद-पीठ

प्रति-रथ : भद्र और कर्ण के मध्य का प्रक्षेप

प्रदक्षिणा : परिक्रमा

प्रदक्षिणा-पथ : परिक्रमा-पथ

प्रस्तार : दक्षिण-भारतीय विमान का विस्तार

प्राकार : मंदिर को परिवृत करने वाली भित्ति

प्राग-ग्रीवा : मुख-मण्डप का प्रक्षेप, अर्थात् अग्र-मण्डप

फलक : स्तंभ का शीर्ष-भाग

फांसना : भवन का आड़े पीठों से बना वह ऊपरी भाग जो पश्चिम-भारतीय स्थापत्य में प्रचलित है और जिसे उड़ीसा के स्थापत्य मे पीढा-देउल-कहा जाता है

बलानक : आवृत सोपान-बद्ध प्रवेश-द्वार

बाँधना : जंघा को ऊपरी और निचले भागों मे विभक्त करने वाला एक प्रक्षिप्त गोटा

भद्र : गर्भगृह का मध्यवर्ती प्रक्षेप

भद्र-पीठ : गोटेदार पाद-पीठ का एक दक्षिण-भारतीय प्रकार

भमती : मध्यकाल के जैन मंदिरों में द्रष्टव्य स्तंभों के मध्य का मार्ग

भरणी : स्तंभ-शीर्ष

भिट्ट : मंदिर का उप-अधिष्ठान

मकर-तोरण : प्रवेश-द्वार का अलंकरण या मकर-मुखों से निकलता बंदनवार

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

मंच : दक्षिण भारतीय अधिष्ठान का एक प्रकार

मंचिका : पट्टिका के समान एक ऊपरी गोटा

मध्य-बंध : जंघा, स्तंभ आदि की वह पट्टी जिसके मध्य में उद्भूत पट्टी या पंक्ति होती है

मंदारक : द्वार की अलंकृत देहली

मण्डोवर : पीठ, वेदि-बंध और जंघा से मिलकर बने भाग का नाम जो पश्चिम-भारतीय स्थापत्य में प्रचलित है

महा-मण्डप : मध्यकाल के मंदिर में द्रष्टव्य वह मध्यवर्ती स्तंभाधारित मण्डप जिसके दोनों पार्श्व अनावृत होते हैं

मान-स्तंभ : चारों ओर से निराधार स्तंभ जिसके शीर्ष पर तीर्थंकर-मूर्तियाँ होती हैं

मुख-चतुष्की : प्रवेश-द्वार से संयुक्त मुख-मण्डप या सामने का खाँचा

मुख-मण्डप : सामने का या प्रवेश-द्वार से सयुक्त मण्डप

मूल-नायक : मुख्य स्थान पर स्थापित तीर्थंकर-मूर्ति

मूल-प्रासाद : मूल मंदिर

वरद : वर प्रदान करने की सूचक हस्त-मुद्रा

वरण्डिका : कुछ गोटों से मिलकर बना वह भाग जो जंघा और शिखर के मध्य में होता है

वेदि-बंध : देखिए अधिष्ठान

रत्न-शाखा : प्रवेश-द्वार का हीरक-अलंकरण सहित पक्खा

रथ : मंदिर का प्रक्षेप

रग-मण्डप : स्तंभाधारित मण्डप जो चारों ओर अनावृत होता है

राज-सेनक : कक्षासन या छज्जेदार गवाक्ष का सबसे नीचे का गोटा

रूप-कण्ठ : आकृतियों से अलकृत एक अंतरित पट्टी या पंक्ति

रूप-शाखा : प्रवेश-द्वार का आकृतियों से अलंकृत पक्खा

ललितासन : विश्राम का एक आसन जिसमें एक पैर मोड़कर पीठ पर रखा होता है और दूसरा पीठ से लटककर मनोज्ञ लगता है

शदुरम् (तमिल): दक्षिण-भारतीय स्तंभ का चतुष्कोण भाग

शाखा : द्वार की चौखट का एक पक्खा

शाला : ढोल के आकार की छत सहित आयताकार मंदिर

शिखर : मंदिर का ऊपरी भाग या छत; उत्तर-भारतीय शिखर, सामान्यत: वक्र-रेखीय होता है, किन्तु दक्षिण भारतीय शिखर या तो गुंबदाकार होता है या अष्टकोण या चतुष्कोण

शुकनासा, शुकनासिका : उत्तर-भारतीय मंदिर के शिखर के सम्मुख-भाग से संयुक्त एक बाहर निकला भाग जिसमें एक बड़े चैत्य-गवाक्ष की संयोजना होती है

सप्त-शाख : द्वार की सात अलंकृत पक्खों सहित चौखट

संधार-प्रासाद : प्रदक्षिणा-पथ सहित मंदिर

पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

सभा-मण्डप : अर्थात् रंग-मण्डप

सभा-मार्ग : एक प्रकार की अलंकृत छत जिसकी संरचना अनेक मंजूषाकार सूच्यग्रों से होती है

समतल वितान : अनतोन्नत तल वाली ऐसी छत जो साधारणतः पंक्ति-बद्ध सूचियों से अलंकृत होती है

समवसरण : तीर्थंकर के उपदेश के लिए देवों द्वारा निर्मित ऐसे मण्डप की अनुकृति जिसमें, केवल-ज्ञान के अनंतर दिये जाने वाले तीर्थंकर के उपदेश सुनने को उपस्थित देवों, मनुष्यों और पशुओं के लिए आसन योजना-बद्ध होते हैं

सम-चतुरस्र : वर्गाकार बनावट सहित

सर्वतोभद्र : अर्थात् चतुर्मुख; एक प्रकार का चारों ओर सम्मुख मंदिर; चारों ओर मूर्तियों से संयोजित एक प्रकार की मदिर-अनुकृति

सलिलांतर : खड़ा अंतराल

सर्वतोभद्रिका : चारों ओर मूर्तियों से संयोजित एक प्रकार की मंदिर-अनुकृति

सहस्र-कूट : पिरामिड के आकार की एक मंदिर-अनुकृति जिसपर एक सहस्र (अनेक) तीर्थंकर-मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं

सिद्धासन अर्थात् ध्यानासन; आसीन तीर्थंकर की एक मुद्रा

संवरणा : छत जिसके तिर्यक रेखाओं में आयोजित भागों पर घण्टिकाओं के आकार के लघु शिखर होते है

शाखा : द्वार की चौखट का एक पक्खा जो भित्ति-स्तंभ के समान होता है

स्तूपी,
स्तूपिका : दक्षिण-भारतीय विमान का लघु शिखर

हर्म्य : मध्यवर्ती तल; दक्षिण-भारतीय विमान का मध्यवर्ती भाग

हार : कूट, शाला और पंजर नामक लघु मंदिरों की पंक्ति जो दक्षिण-भारतीय विमान के प्रत्येक तल को अलंकृत करती है

कृष्णदेव

ज्योतिर्व्यंन्तर-भावनामरगृहे मेरौ कुलाद्रौ तथा
जम्बू-शाल्मलि-चैत्यशाखिषु तथा वक्षार-रूप्याद्रिषु ।
इष्वाकारगिरौ च कुण्डलनगे द्वीपे च नन्दीश्वरे
शैले ये मनुजोत्तरे जिनगृहाः कुर्वन्तु ते मंगलम् ।।